राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न
और
हिन्द स्वराज्य

राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न
और
हिन्द स्वराज्य

अमित कुमार शर्मा

शाओलिन पब्लिकेशंस
नई दिल्ली

राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न और हिन्द स्वराज्य
© अमित कुमार शर्मा

First Edition: 2025

Published by
Kautilya Prakashan
Shaolin Publications

Delhi: C-702, Delhi State CGHS Apartment, Plot no. 1,
Dwarka Sector 19, New Delhi 110075
Dehradun: House No 138, Khasra Number 193, Village Kandoli,
Near UPES University Dehradun.
Guwahati: House Number 501, Block 6, Larica Green Valley,
Dharapur, Guwahati, Assam 781017
e-mail: shaolinpublications@gmail.com

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means—electronic, mechanical, photocopying, recording, or otherwise—without the prior written permission of the publisher, except in the case of brief quotations for review or academic purposes.

ISBN: 978-81-956129-9-4

यह पुस्तक गुरु गोरखनाथ, स्वामी विद्यारण्य,
समर्थ रामदास और आचार्य विनोबा भावे
को समर्पित है।

अनुक्रम

प्रकाशकीय प्रस्तावना	9
निवेदन एवं कृतज्ञता	11
भूमिका	13
राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न और हिन्द स्वराज्य	43
भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा : प्राचीन काल से आधुनिक युग तक	50
हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना : छत्रपति शिवाजी महाराज	77
स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है... : बाल गंगाधर तिलक	91
तिलक से गांधी : नेतृत्व का हस्तान्तरण	105
महात्मा गांधी : सनातन धर्म, नैतिक शक्ति और स्वराज	120
संक्रमण काल : भारतीय राष्ट्र में असुरक्षा की भावना का जन्म	140
भारत में लोक और शास्त्र	153
भारतीय संस्कृति में खलनायक की अवधारणा	169
गांधी के विचार और आदर्श : एक आलोचनात्मक विश्लेषण	181
सामाजिक न्याय और समावेशी राष्ट्र निर्माण : डॉ. बी.आर. अम्बेडकर	195
बैरिस्टर से बापू तक : लन्दन में महात्मा गांधी का वैचारिक रूपान्तरण	199
ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और महात्मा गांधी के दृष्टिकोण	212
भारत का विभाजन और महात्मा गांधी : एक जटिल और दुखद गाथा	231

भारतीय कला दृष्टि और गांधी 252

सोशल मीडिया, मीडिया, सिनेमा और राष्ट्रीय सुरक्षा : चुनौतियाँ और सहयोग 261

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 281

Bibliography 287

प्रकाशकीय

हमें अत्यन्त हर्ष है कि हम पाठकों के समक्ष प्रो. अमित कुमार शर्मा की नवीनतम कृति 'राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न और हिन्द स्वराज्य' प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रो. शर्मा के गहन अध्ययन और मौलिक दृष्टि से पाठक परिचित ही हैं। शाओलिन पब्लिकेशन्स के द्वारा प्रकाशित उनकी पूर्ववर्ती पुस्तकों—'भारत में सिनेमा और संस्कृति', 'सनातन धर्म का व्यावहारिक स्वरूप', 'इंडोलॉजी, सोशियोलॉजी एंड कल्चर इन इंडिया' और 'सोशियोलॉजी ऑफ सिनेमा एंड कल्चर इन इंडिया' आदि को अपार सफलता और व्यापक सराहना प्राप्त हुई थी। यह पाँचवीं कृति उसी श्रृंखला की अगली महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

इस पुस्तक में राष्ट्रीय सुरक्षा को केवल सैन्य या राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, इतिहास और दर्शन के व्यापक परिप्रेक्ष्य से भी समझने का प्रयास किया गया है।

भारत और सनातन धर्म का सम्बन्ध केवल पूरक होने तक सीमित नहीं है, बल्कि ये दोनों एक-दूसरे के शक्ति और अस्तित्व के मूल स्रोत हैं। भारत एक जाग्रत और जीवन्त सभ्यता है जिसकी आत्मा सनातन मूल्यों में वास करती है। यह दर्शन समाज को कर्तव्य, मर्यादा और सत्य के माध्यम से एक ऐसा आन्तरिक अनुशासन प्रदान करता है जो किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सबसे पहली और अभेद्य सुरक्षा-परत के रूप में कार्य करता है। वास्तव में, राष्ट्रीय सुरक्षा का निर्माण केवल सीमाओं पर तैनात सैनिकों और हथियारों से नहीं, बल्कि समाज की चेतना और उसके सुदृढ़ चरित्र से होता है। इतिहास गवाह है कि जब भी कोई समाज अपने मौलिक मूल्यों से कटता है, वह आन्तरिक रूप से कमजोर हो जाता है। महात्मा गांधी ने भी 'हिन्द स्वराज' में आत्मशासन और नैतिक स्वावलम्बन को राष्ट्र की वास्तविक शक्ति मानकर इसी सत्य को दोहराया था।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो छत्रपति शिवाजी महाराज ने धर्म, स्वराज और संगठन के बीच जो अद्भुत सन्तुलन स्थापित किया, वही एक सुरक्षित और गौरवशाली राज्य की आधारशिला बना। उनकी सैन्य रणनीति में शारीरिक पराक्रम के साथ-साथ सांस्कृतिक आत्मविश्वास का होना उतना ही महत्त्वपूर्ण था—जो यह सिद्ध करता है कि धर्मबोध के बिना कोई भी सत्ता स्थायी नहीं रह सकती। इसी चेतना को बाल गंगाधर तिलक ने जन-आन्दोलन का रूप दिया और स्पष्ट किया कि राष्ट्र का निर्माण शासन से पहले व्यक्ति के मन में होता है। जब सनातन धर्म सशक्त होता है, तो वह समाज को इतना संगठित और नैतिक बना देता है कि वह बाहरी विभाजनकारी विचारों के प्रति स्वत: ही एक सशक्त प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर लेता है। भारत की अपरिमित विविधता इसी सनातन दृष्टि के कारण एकता में परिवर्तित हो पायी है, जिसे आज भी विरोधी शक्तियाँ संस्कृति और इतिहास को विकृत करके नष्ट करने का प्रयास करती हैं।

सनातन धर्म का मूल स्वभाव संघर्ष नहीं बल्कि समन्वय है और यही समन्वय आधुनिक राष्ट्र के स्थायित्व के लिए अनिवार्य है। भारत की वर्तमान सुरक्षा नीति में सांस्कृतिक आत्मरक्षा को उतना ही महत्त्व देना होगा जितना कि सैन्य शक्ति को दिया जाता है। शिक्षा प्रणाली और सार्वजनिक विमर्श में सभ्यतागत चेतना को पुनर्स्थापित करना आवश्यक है, क्योंकि बिना आत्मबोध के तकनीकी श्रेष्ठता भी अन्तत: दिशाहीन हो जाती है। जिन राष्ट्रों ने अपनी मूल आत्मा और जड़ों को खो दिया, वे समय के साथ इतिहास के पन्नों में लुप्त हो गये।

यह कृति केवल ऐतिहासिक पुनर्पाठ नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की राष्ट्रीय सुरक्षा नीति को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से दिशा देने वाला एक अभिनव प्रयास है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक शोधार्थियों, विद्वानों, नीति-निर्माताओं और उन सभी पाठकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी, जो भारत की आत्मा को समझते हुए राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न पर गम्भीर विमर्श करना चाहते हैं।

—चौधरी सुभाष सिंह देवास

निवेदन एवं कृतज्ञता

प्रस्तुत पुस्तक 'राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न और हिन्द स्वराज्य' मेरे दीर्घकालीन चिन्तन, अध्ययन और अनुसन्धान का परिणाम है। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा को केवल सैन्य या भू-राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म और स्वराज की संकल्पना के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया है। 'हिन्द स्वराज्य की अवधारणा' को केन्द्र में रखते हुए शिवाजी महाराज, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा अन्य महान विचारकों के योगदान को राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में विश्लेषित करना इस कृति का मुख्य उद्देश्य रहा है।

इस कार्य को सम्पन्न करने में मुझे कई विद्वानों और मित्रों का सहयोग प्राप्त हुआ है। विशेष रूप से स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, श्री विजय बहादुर सिंह, श्री आनन्द कुमार, श्री अजित कुमार पांडेय, श्री मनमोहन चड्ढा, श्री ओम प्रकाश सिंह, श्री सौरभ शर्मा, श्री विवेकानन्द उपाध्याय आदि ने इस संस्करण के लिए काफी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

प्रथम संस्करण के प्रकाशन में चौधरी सुभाष सिंह देवास, वन्दना शर्मा, आद्या शर्मा, निशान्त, अखिल, सूरज, विनय गुप्ता एवं अन्य लोगों का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। शाओलिन पब्लिकेशन्स के चौधरी सुभाष सिंह देवास तथा उनकी पूरी टीम ने प्रकाशन प्रक्रिया को सुगम बनाया। मैं सभी का दिल से आभारी हूँ। अन्त में, मैं उन सभी गुरुओं, विचारकों और देशभक्तों को नमन करता हूँ जिनकी प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हुआ।

15 मार्च, 2025
नयी दिल्ली

—अमित कुमार शर्मा

भूमिका

विदेशी लेखकों और इतिहासकारों ने अपने लेखन और विचारों से भारतीय संस्कृति और सभ्यता को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। उन्होंने भारत को पिछड़ा, सैन्य क्षमता में दुर्बल और संस्कृति में पिछड़ा घोषित करने का प्रयत्न किया जो कि एक बुद्धिजीवी अपराध है। ये सब इसलिए हो पाया क्योंकि जितने भी विदेशी विद्वान थे, या तो उन्हें भारतीय संस्कृति के बारे में अल्प ज्ञान था या वे भारत की सभ्यता और संस्कृति को पूरी तरह समझ नहीं पाये। इसलिए उन्होंने अपने विचारों को तथ्य के रूप में थोपने का प्रयास किया। अपनी विशेष रचना 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने समाज की आन्तरिक शक्ति और आस्था पर बल दिया है और इसी का प्रयोग करके गांधीजी ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया था। शायद इसी को सुदृढ़ करना ही वास्तव में 'हिन्द स्वराज' है जो स्वदेशी और भारतीय मूल्यों द्वारा शासित है, न कि यूरोपीय मूल्यों और सभ्यता का बलपूर्वक रोपण है।

आधुनिक इतिहास में औद्योगिक क्रान्ति ब्रिटेन में होती है और अनन्य आविष्कार भी होते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि भारत पिछड़ा हुआ है। प्राचीन काल से ही भारत एक सभ्यता के रूप में अग्रणी रहा है जिसमें अनेकों अन्वेषण और आविष्कार हुए हैं। उस समय शायद तथाकथित आधुनिक यूरोप कहीं नहीं था।

साहित्य समाज और संस्कृति का आईना होता है। हमारी संस्कृति कितनी सुदृढ़ थी इसका प्रमाण हमारे वेद और अनेकों ग्रन्थ देते हैं। इनके इतर वेदों पर लिखी गयी टीका, टिप्पणी और वेदांग इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष इत्यादि ये सब किस संस्कृति को प्राप्त थे? यास्क और पाणिनि जैसी विभूतियाँ शायद ही किसी समाज में जन्मी हों।

जैमिनी, कणाद, गौतम और कपिलमुनि जैसे दार्शनिक शायद ही किसी अन्य समाज में जन्मे हों। रामायण और महाभारत जैसे कालजयी ग्रन्थ शायद ही कही और सम्भव थे। काशी, मथुरा और अयोध्या जैसे नगर अपने आरम्भिक काल में ही बसाना क्या किसी सभ्यता के लिए सम्भव था? अयोध्या धर्म राज्य का प्रतीक है; काशी आत्म ज्ञान का प्रतीक है; और मथुरा जिसे मधुरा नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, वह भौतिक जीवन की सम्पन्नता का प्रतीक है। ऐसा कहीं और पाना दुर्लभ है।

राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए इसके बहुआयामी पहलुओं को समझना आवश्यक है जिसमें सभ्यता और समाज का अध्ययन शामिल है; अपनी विरासत को समझना और उन दोषपूर्ण पूर्वग्रह को समाप्त करना जो विदेशी आक्रांताओं ने हम पर थोपा है, वह भी शामिल है। सही मायने में यहीं से आन्तरिक रूप से सुरक्षा का अध्ययन शुरू होता है। सेना और बल द्वारा हम बाह्य क्षेत्र को सुरक्षित करते हैं। लेकिन समाज और सभ्यता के सारगर्भित अध्ययन द्वारा हम अपने राष्ट्र की आन्तरिक शक्ति और आत्मबल की सदैव के लिए सुरक्षा करते हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन एक ऐसा क्षेत्र है जो अक्सर गलत समझा जाता है। यह एक बहुआयामी विषय है जो हमारी संस्कृति और सभ्यता को केन्द्र में रखते हुए बाहरी और आन्तरिक सुरक्षा दोनों पहलुओं को शामिल करता है। लेकिन इसे समझने से पहले, यह समझना आवश्यक है कि राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन वास्तव में क्या नहीं है।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन को अक्सर राजनीति विज्ञान, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध, रक्षा अध्ययन, आन्तरिक सुरक्षा अध्ययन, रणनीतिक अध्ययन, सैन्य इतिहास या युद्ध के सिद्धान्त के साथ भ्रमित किया जाता है। जबकि इन विषयों में से प्रत्येक राष्ट्रीय सुरक्षा के कुछ पहलुओं से सम्बन्धित है, वे राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन के व्यापक दायरे को पूरी तरह से नहीं दर्शाते हैं।

राजनीति विज्ञान राजनीतिक प्रणालियों और सरकारी नीतियों का अध्ययन करता है, जबकि अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध राज्यों के बीच सम्बन्धों की जाँच करता है। रक्षा अध्ययन सैन्य बलों और रक्षा प्रणालियों पर केन्द्रित है, और आन्तरिक सुरक्षा अध्ययन घरेलू खतरों और कानून प्रवर्तन पर ध्यान केन्द्रित करता है। रणनीतिक अध्ययन सैन्य रणनीति और योजना से सम्बन्धित है,

और सैन्य इतिहास अतीत के युद्धों और सैन्य अभियानों का विश्लेषण करता है। युद्ध का सिद्धान्त युद्ध के सिद्धान्तों और नियमों का अध्ययन करता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन इन सभी विषयों से अलग है। यह एक अधिक समग्र दृष्टिकोण अपनाता है जो न केवल सैन्य और राजनीतिक पहलुओं को, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक कारकों को भी ध्यान में रखता है। यह हमारी संस्कृति और सभ्यता को केन्द्र में रखते हुए बाहरी और आन्तरिक सुरक्षा का सत्यनिष्ठ और सारगर्भित अध्ययन है।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन का उद्देश्य राष्ट्र की सुरक्षा के लिए खतरों की व्यापक समझ प्रदान करना है। इसमें न केवल पारम्परिक सैन्य खतरे शामिल हैं, बल्कि गैर-पारम्परिक खतरे भी शामिल हैं, जैसे कि आतंकवाद, साइबर अपराध, जलवायु परिवर्तन और महामारी। यह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरों का विश्लेषण करने और उनसे निपटने के लिए रणनीतियों का विकास करने के लिए एक बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन में संस्कृति और सभ्यता का महत्त्व इस बात पर जोर देता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ केवल सैन्य शक्ति या आर्थिक समृद्धि नहीं है। यह उन मूल्यों और विश्वासों के बारे में भी है जो एक राष्ट्र को परिभाषित करते हैं। यह हमारी सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक संरचनाओं को समझने पर जोर देता है, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि यह एक गतिशील क्षेत्र है। यह लगातार बदलती वैश्विक परिस्थितियों और उभरते खतरों के जवाब में विकसित हो रहा है। यह एक अन्त:विषयक दृष्टिकोण अपनाता है, जो विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों को एक साथ लाता है, जैसे कि राजनीति विज्ञान, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध, रक्षा अध्ययन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास।

अन्त में, राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जो राष्ट्रों को 21वीं सदी में जटिल सुरक्षा चुनौतियों का सामना करने में मदद करता है। यह एक व्यापक और बहुआयामी दृष्टिकोण प्रदान करता है जो राष्ट्रीय सुरक्षा के सभी पहलुओं को ध्यान में रखता है, जिसमें सैन्य, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू शामिल हैं। यह हमारी संस्कृति

और सभ्यता को केन्द्र में रखते हुए बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा का सत्यनिष्ठ और सारगर्भित अध्ययन है।

किसी भी विषय को समझने के लिए उसके पाठ्यक्रम को समझना अति आवश्यक है। पाठ्यक्रम किसी भाषा के व्याकरण की तरह है। हम भाषा को कैसे जानते हैं? मेरी समझ में हिन्दी और अंग्रेजी भाषाएँ नहीं हैं, ये बोलियाँ हैं। इसलिए मैं हिन्दी और अंग्रेजी को भाषा में शामिल नहीं करता। ये बातचीत में लेन-देन के माध्यम हैं। अब लेन-देन की भाषा क्या है? उदाहरण के लिए, आप नाइजीरिया की यात्रा कर रहे हैं। नाइजीरियाई आपकी संस्कृति को नहीं जानते हैं और आप उनकी संस्कृति को नहीं जानते है। लेकिन जीवित रहने के लिए आपको वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान करना होगा और उसके लिए लेन-देन होता है। ये कामचलाऊ भाषाएँ हैं। अंग्रेजी और हिन्दी में शास्त्र नहीं लिखे जा सकते। शास्त्रीय (क्लासिक) को हिन्दी और अंग्रेजी में नहीं लिखा जा सकता है। शास्त्र लिखने के लिए (जो दशकों तक जीवन्त रहे, जो सदियों तक और सहस्राब्दी तक जीवन्त रहे) शास्त्रीय भाषाएँ जरूरी हैं। एक बार मुझे सलीम अली से मिलने का सौभाग्य मिला था। वह 76 भाषाएँ बोलते थे। लेकिन उनकी भाषाएँ मुख्य रूप से गैर-मानव द्वारा बोली जाती थीं। वह 76 अन्य भाषाओं को जानते थे जो मेरी राय में हमारी तरह शास्त्रीय भाषाएँ है। यह एक अच्छी तरह से स्थापित तथ्य है कि पृथ्वी पर 84 लाख प्रजातियाँ हैं। और मनुष्य 84 लाख प्रजातियों में से केवल एक है। जब मैंने डॉ. सलीम अली के साथ बातचीत की तो मैं स्तब्ध रह गया। क्योंकि मैं केवल कुछ मनुष्यों के साथ बातचीत कर सकता हूँ, अपने 27 शास्त्रीय और दो लेन-देन के भाषा/माध्यम से। लेकिन वह पृथ्वी पर 76 प्रजातियों के साथ बोलने में सक्षम थे। और फिर वह दो अन्य लेन-देन की भाषाओं को जानते थे जैसे कि अंग्रेजी और उर्दू।

इसलिए जब अल्बर्ट आइंस्टीन मरने वाला था तब कहा कि “आज मैं स्वीकार कर सकता हूँ कि मैं कितना नहीं जानता हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं क्या जानता हूँ। क्योंकि मैंने न्यूटन के कई प्रमेय को गलत साबित किया और कल मुझे मेरे विद्यार्थी गलत साबित करेंगे।” इसलिए मैं उन पाँच प्रश्नों का परिचय देता हूँ जिनके साथ आधुनिक यूरोप ने अपनी वैज्ञानिक, व्यवस्थित, दार्शनिक या अकादमिक जाँच शुरू की, संस्थागत परिवेश में।

और ये पाँच सवाल क्या हैं? (1) यह क्या है? (2) यह कैसे है? (3) क्यों है? (4) कब है? (5) किसके लिए है? अब इन पाँच प्रश्नों के साथ समस्या क्या है? समस्या ज्ञानमीमांसा (ऑन्टोलॉजिकल) नहीं है। सत्य का सिद्धान्त, सत्य या वास्तविकता का सिद्धान्त है। फिर विधि का सिद्धान्त (एपिस्टेमोलॉजी) जो ज्ञान का निर्माण करता है। अब दो सिद्धान्त हैं। पहला, सिद्धान्त निर्माण करने की विधि है; दूसरा, सिद्धान्त को गलत साबित करने के लिए आँकड़े एकत्र करने की एक विधि है या मौजूदा सिद्धान्तों को सत्यापित करने की विधि है। तीसरा, कॉस्मोलॉजी है जो ब्रह्मांड का सिद्धान्त है। अब ब्रह्मांड क्या है? कॉसमॉस एक गणितीय रचना है जो कॉपरनिकस और गैलीलियो जैसे भौतिक विज्ञानी और न्यूटन और अल्बर्ट आइंस्टीन द्वारा संशोधित उनके उत्तराधिकारी का कार्य है। यह कॉसमॉस का पहला तत्त्व है जो गणितीय है। दूसरा है प्रजाति; हमारे यहाँ सनातन धर्म में 84 लाख प्रजातियाँ हैं। ब्रह्मांड का तीसरा तत्त्व है (डिविनिटी) दिव्यता; दिव्यता देवी-देवता और अलौकिक शक्तियाँ मिलकर बनाते हैं। अत: ब्रह्मांड को तीन तत्त्व मिलकर बनाते हैं। संक्षिप्त में, पहला गणितीय ब्रह्मांड है; दूसरा जीवित प्राणी या जीवित प्रजाति यानी मनुष्य और तीसरा दिव्यता अथवा अलौकिक शक्ति है। पहले दो को हम प्राकृतिक शक्तियाँ कह सकते हैं जो गणितीय ब्रह्मांड और 84 लाख प्रजातियाँ या जीवन रूप हैं। एक प्राकृतिक नियम के माध्यम से इन्हें बनाया जाता है, संरक्षित किया जाता है और प्रचारित किया जाता है। तीसरा तत्त्व अलौकिक है।

पाँच वैज्ञानिक प्रश्न जिनमें हमारी रुचि है इन तीन दिशाओं में निर्देशित हैं। ये वैज्ञानिक प्रश्न जिनसे यूरोप ने अपनी यात्रा शुरू की, वे कॉसमॉस के तीन तत्त्वों के अध्ययन के केन्द्र में हैं। ब्रह्मांड के लिए ये पाँच प्रश्न मुख्य हैं–वैज्ञानिकों की पूछताछ, गणितज्ञ, भौतिक विज्ञानी अथवा रसायन विज्ञानी; यह अन्य सामान्य विज्ञान जैसे नहीं हैं जैसे जीव विज्ञान अथवा वनस्पति विज्ञान है। फिर एक तीसरा वर्गीकरण है। पहले वर्ग में कठिन विज्ञान हैं जैसे गणित, भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान; चौथा मैंने शामिल नहीं किया। फिर नरम (सॉफ्ट) विज्ञान जिसमें जीव विज्ञान और वनस्पति विज्ञान शामिल हैं। और फिर चौथा सबसे कठिन विज्ञान है। जिन तीन का मैंने उल्लेख किया है वह हैं गणित, भौतिकी और रसायन विज्ञान; नरम (सॉफ्ट साइंस) विज्ञान

का उल्लेख करते हुए मैं चौथे का उल्लेख कर रहा हूँ जो कभी-कभी कुछ संस्कृतियों में एक अलग विज्ञान के रूप में सन्दर्भित किया जाता है; यह पहले तीन से अलग और वह है भूविज्ञान। यह अलग क्यों है? भूविज्ञान केवल गणितीय ब्रह्मांड का अध्ययन नहीं करता है बल्कि यह भौतिक ब्रह्मांड का भी अध्ययन करता है, जो भूगोलवेत्ता द्वारा किया जाता है; साथ ही इसका अध्ययन ज्योतिष शास्त्र नामक एक पारम्परिक विज्ञान द्वारा भी किया जाता है। लेकिन ज्योतिष शास्त्र और ज्योतिष (एस्ट्रोलॉजी) में क्या अन्तर है? ज्योतिष शास्त्र के लगभग 100 तत्त्व हैं जिनमें से ज्योतिष एक है। इसलिए ज्योतिष समरूप नहीं है ज्योतिष शास्त्र के। इसी प्रकार जब हम आधुनिक यूरोप के रसायन विज्ञान की इस्लामिक रसायन विज्ञान से तुलना करते है तो उसमें विरोधाभास देखते हैं; या पारम्परिक यूनानी रसायन विज्ञान या पारम्परिक यहूदी रसायन विज्ञान या हिन्दू रसायन विज्ञान को देखते हैं तब भी हम इस अनुवाद की राजनीति का सामना करते हैं। इस्लामिक रसायन विज्ञान आधुनिक यूरोप के रसायन विज्ञान के साथ समानता नहीं दर्शाता है। कई अन्य चीजें हैं जिनका इस्लामिक रसायन विज्ञान अध्ययन करता है या बौद्ध रसायन विज्ञान अध्ययन करता है या हिन्दू रसायन विज्ञान अध्ययन करता है या पारम्परिक मिस्र का रसायन विज्ञान अध्ययन करता है।

वहाँ अल्केमी कहा जाने वाला कुछ था; अल्केमी आधुनिक रसायन विज्ञान के पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है। लेकिन यह गैर-यूरोप में गैर-आधुनिक रसायन विज्ञान का हिस्सा रहा है। दो अन्य प्रकार हैं; पहला, कठिन विज्ञान–गणित, भौतिकी, रसायन विज्ञान और भूविज्ञान; दूसरा, जीवन विज्ञान या जैविक विज्ञान और वनस्पति विज्ञान और फिर सामाजिक विज्ञान और मानविकी है।

मेरी दृष्टि में, मानविकी के सन्दर्भ में, अन्य जगह और आधुनिक यूरोप में मुख्य रूप से तीन चीजें सिखाई जाती हैं; पहला, भाषाओं का अध्ययन है; भाषाओं का अध्ययन दो प्रकार के लोगों द्वारा किया जाता था; एक प्रकार के विद्वान भाषाविद् (फिलोलॉजिस्ट) के रूप में जाने जाते थे और दूसरे प्रकार के विद्वानों में शामिल थे भाषाविज्ञानी जिनको लिंग्विस्ट कहा जाता था। इसलिए मानविकी में पहले स्थान पर भाषा, दूसरे पर इतिहास, तीसरे पर भूगोल, चौथे पर दर्शनशास्त्र और पाँचवें स्थान पर मनोविज्ञान है।

अब ये सभी विषय गणित से लेकर मनोविज्ञान, कठिन विज्ञान से लेकर नरम विज्ञान और मानविकी तक सभी सबके लिए और सभी सभ्यताओं के लिए सामान्य थे, जो पृथ्वी पर मौजूद था। फिर आधुनिक यूरोप का क्या योगदान है आधुनिक ज्ञान में? मौजूदा विज्ञानों में पारम्परिक देशों की तुलना में यूरोपीय योगदान नगण्य है। जब हम आधुनिक अध्ययन के सन्दर्भ में जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन की तुलना करते हैं तो कुछ लोगों का मानना है कि यूनान, इटली, स्पेन, हॉलैंड, रूस और यूरोप में स्कैंडिनेविया का योगदान कम है।

अब सवाल है क्यों? क्यों यह माना जाता है कि ज्ञान के आधुनिक विषय, विज्ञान और प्रौद्योगिकी सिर्फ इन मुख्य देशों जैसे फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी द्वारा ही विकसित और परिष्कृत किये गये? जवाब धार्मिक है।

आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता, उदारवाद और लोकतंत्र जैसी अवधारणाएँ प्रोटेस्टेंट सुधार या कैथोलिक चर्च के लिए केन्द्रीय रही थीं। इसलिए अल्पसंख्यक का सवाल राजनीतिक नहीं है। यह जनसांख्यिकी का सवाल भी नहीं है। इन तीन देशों की जनसंख्या साथ मिलकर यूरोप का एक छोटा-सा हिस्सा बनाती है जैसा कि हम आज जानते हैं या जैसा कि हम जानते थे। इन तीन देशों की जनसंख्या और भूक्षेत्र दोनों अल्पसंख्या में हैं। इसलिए आधुनिक विज्ञान, प्रौद्योगिकी और अकादमिक क्षेत्र पर जो शासन है वह अल्पसंख्यक के माध्यम से, अल्पसंख्यक द्वारा और अल्पसंख्यक के लिए है। इसलिए जब भी आप गैर-यूरोपीय मूल के व्यक्ति से मिलते हैं जो धर्मनिरपेक्ष और उदारवाद जैसे शब्दों का उच्चारण कर रहा है तो उस व्यक्ति को भ्रमित व्यक्ति में शामिल करने के लिए रॉकेट विज्ञान की आवश्यकता नहीं है; ऐसे लोगों को गुमराह या मूर्ख कहा जाता है। वे विज्ञान और प्रौद्योगिकी में जिनिओलॉजी नहीं जानते और इस तरह का तर्क देने वाला सिर्फ मैं ही नहीं हूँ; ब्रूनो लातूर नामक एक लेखक भी हैं जो अपनी किताब 'वी हैव नेवर बीन मॉडर्न' में लिखते हैं कि जिसे हम आधुनिकता कहते हैं वह एक भ्रम है। वे कहते हैं कि हम हमेशा से हाइब्रिड्स बनाते रहे हैं यानी ऐसी चीजें जिनमें प्रकृति-समाज-तकनीक सब गुँथे होते हैं; वहीं मिशेल फूको अपनी किताब 'ऑर्कियोलॉजी ऑफ नॉलेज' में पूछते हैं कि वैज्ञानिक वर्गीकरण अचानक कहाँ से आ गये? किन नियिमों के तहत ज्ञान बोला, लिखा और पढ़ाया गया? यहाँ ऑर्कियोलॉजी से मतलब विचारों के

पीछे के नियम खोदना या खोजना है। फूको मानते हैं कि विज्ञान कोई शुद्ध, तटस्थ चीज नहीं है। हर युग में ज्ञान की या कहें सोचने की अदृश्य संरचना रही है। फूको के अनुसार ज्ञान सत्ता और नियमों से बनता है जबकि लातूर का मानना है कि विज्ञान समाज से कभी अलग था ही नहीं।

आधुनिकता का अन्तिम परिचय, 16वीं शताब्दी में प्रोटेस्टेंट सुधार से पहले तीन लोगों के नेतृत्व में—मार्टिन लूथर (जर्मनी से), ज्विंगली (स्विट्जरलैंड से) और जॉन केल्विन (फ्रेंच बोलने वाले लेकिन गैर-फ्रेंच) होता है। उस समय यूरोप का प्रत्येक विश्वविद्यालय और शिक्षाविद् यूरोप की धार्मिक व्यवस्था का हिस्सा थे, ईसाई सेमिनरी का हिस्सा थे और वे बहुत जागरूक थे। दूसरे शब्दों में, यहाँ तक कि ये लोग भी जैसे मार्टिन लूथर, जॉन केल्विन और ज्विंगली भी क्रिश्चियन एकेडेमिया का हिस्सा थे। आज तक यूरोप का कोई भी विश्वविद्यालय नहीं है जो धर्मनिरपेक्ष है। यूरोप के हरेक विश्वविद्यालय की धार्मिक उत्पत्ति रही है, जहाँ धर्मनिरपेक्ष या प्रोटेस्टेंट विषयों को जोड़ा गया था। इसके विपरीत, उनके उपनिवेशों (कॉलोनी) में जैसे उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और एशिया में लगभग सभी विश्वविद्यालय धर्मनिरपेक्ष रहे हैं, जहाँ गैर-धर्मनिरपेक्ष विषयों को राष्ट्रवादी आन्दोलन के दबाव में जोड़ा गया। उदाहरण के लिए, अमेरिका में कोई भी विश्वविद्यालय मूल रूप से धार्मिक नहीं है; भारत का भी कोई विश्वविद्यालय धार्मिक उत्पत्ति नहीं है; यह एक लोकप्रिय धारणा है। लेकिन सच्चाई यह है कि यूरोपीय विश्वविद्यालय स्वेच्छा से धार्मिक हैं; वे धार्मिक रूप से सचेत हैं। जबकि अन्य देशों में जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, भारत या पाकिस्तान में औपनिवेशिक शासकों ने धर्मनिरपेक्षता के नाम पर विश्वविद्यालय शुरू किये। ये प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय हैं जहाँ प्रोटेस्टेंट ईसाई सार्वभौमिकता को पढ़ाया जाता है।

यह एक बहुत बड़ा अकादमिक धोखा है। इस षड्यंत्र को पहली बार लेबनान के एडवर्ड सईद नामक एक व्यक्ति ने उजागर किया था और उनकी पुस्तक का नाम 'ओरिएंटलिज्म' था। लेकिन वह पहला व्यक्ति नहीं था जो इस षड्यंत्र के बारे में जानता था। यूरोप में ही कई और लोग थे और मैं कुछ का नाम लूँगा जिनसे आप भी परिचित हैं—इंग्लैंड में जॉन रस्किन और विलियम मॉरिस, डेनमार्क में कीर्केगार्द, जर्मनी में फ्रेडरिक नीत्शे और काउंट

कीसरलिंग, रूस में फ्योदोर दोस्तोएव्स्की और लियो टॉलस्टॉय, फ्रांस में रेने गुएना तथा आधे ब्रिटिश और आधा श्रीलंकाई आनन्द कुमारस्वामी। ये लोग बहुत पहले से लिख रहे थे, लगभग 20वीं शताब्दी की शुरुआत और 19वीं शताब्दी के अन्त में, जबकि एडवर्ड सईद की पुस्तक 1976 में आई थी।

अब इन यूरोपीय लोगों के पास क्या है जिन्हें मैंने रेखांकित किया? इमैनुएल कांट के बाद यूरोपीय विश्वविद्यालय में ज्ञान की आधुनिक खोज क्या है? इमैनुएल कांट से पहले, आधुनिक यूरोपीय प्रोटेस्टेंट दो स्कूलों में विभाजित थे; एक को रेने देकार्त के नेतृत्व में प्रत्यक्षवादी (रेशनलिस्ट) के रूप में जाना जाता था और अन्य लोगों को अनुभववादी (इम्पीरिसिस्ट) बुलाया गया जिनका नेतृत्व जॉन लॉक ने किया था। उसी प्रकार हार्ड साइंसेज में वैज्ञानिक क्रान्ति को कोपरनिकस क्रान्ति कहा जाता है, विज्ञान के दर्शनशास्त्र में कांट की क्रान्ति नामक घटना है। कांट की क्रान्ति कहती है कि यह काल्पनिक और अव्यावहारिक है कि हम सत्य का अध्ययन प्रयोगशाला में कर सकते हैं। हम सत्य का वैसे अध्ययन नहीं कर सकते हैं जैसा वह दिया गया है; उन्होंने सत्य को नोमेना (Noumena) कहा। उन्होंने कहा कि हम सत्य का अध्ययन अपने सिद्धान्तों, तरीकों और तकनीकों के माध्यम से कर सकते हैं जो हमें दिखाई देता है; उन्होंने इसे घटना (फिनोमेना) कहा।

कुछ लोगों के अनुसार, यूरोप में आधुनिकता की शुरुआत 13वीं शताब्दी के अन्त में या 14वीं शताब्दी की शुरुआत में इतालियन पुनर्जागरण के साथ शुरू हुई थी। लेकिन वास्तव में यह इतालियन पुर्नजागरण नहीं था; यह सिर्फ इटली के फ्लोरेंस शहर का पुनर्जागरण था और इसमें मुख्य रूप से चार लोग ही शामिल थे जैसे लियोनार्डो दा विंची, माइकल एंजेलो, राफेल और रोजर बेकन। ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ दो बेकन हैं; रोजर बेकन (इतालियन) और फ्रांसिस बेकन (ब्रिटिश)। फ्रांसिस बेकन की किताबें ढूँढ़ना आसान है क्योंकि वह गैर-इतालियन था।

हमारा देश ईस्ट इंडिया कम्पनी का उपनिवेश था। ईस्ट इंडिया कम्पनी (ब्रिटेन) आखिरी कम्पनी थी जो भारत आई। पहली यूरोपीय ईस्ट इंडिया कम्पनी पुर्तगाली थी जो वास्को डी गामा के साथ कालीकट आई और फिर अरब सागर से होते हुए गोवा की ओर बढ़ी जहाँ वे एक शहर में उतरे जिसे आज वास्को डी गामा के नाम से जाना जाता है। उन्होंने ना केवल कोंकण

का अधिग्रहण किया बल्कि वसई से बम्बई तक अधिग्रहण किया, जिसमें छोटे द्वीप भी शामिल थे। इनमें दमन, दीव, सिलवासा और अंडमान निकोबार जैसे छोटे द्वीप भी शामिल थे।

पुर्तगाली के बाद डच ईस्ट इंडिया कम्पनी और फिर फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी आई। फिर जर्मन भी आये लेकिन वे निर्णायक रूप से पुर्तगालियों से हार गये और वापस चले गये। आखिरी में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी आई। अंग्रेज पहली बार 1605 में जहाँगीर के दरबार में आगरा में आये। लेकिन आने से पहले इन लोगों ने लगभग 40 साल तक शोध (रिसर्च) किया। अन्य यूरोपीय ईस्ट इंडिया कम्पनियाँ व्यापार के लिए जिज्ञासा लेकर आईं। लेकिन अंग्रेज पहले थे जो भारत में एक अधिकार और योजना के साथ आये थे।

यूनाइटेड किंगडम में तीन अलग-अलग देश शामिल हैं—इंग्लैंड, स्कॉटलैंड और वेल्स। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान आयरलैंड का आधा हिस्सा अलग हो गया था; जिससे उत्तरी आयरलैंड एक स्वतंत्र देश बना और 2016 में वहाँ ब्रेक्सिट का जनमत (रेफेरेंडम) हुआ जिसमें वे यूरोपीय संघ से अलग होना चाहते थे। 1989 में जब यह संघ बना था तब इंग्लैंड ने अहम भूमिका निभाई थी जिसमें दो और देश शामिल थे। यूरोपीय संघ बनाने में पोप जॉन पॉल द्वितीय ने अहम भूमिका निभाई थी। वह मुख्य रचनाकार है यूरोपीय एकीकरण का; वही निर्माता है एक ध्रुवीय विश्व का; वही निर्माता है ईरानी क्रान्ति का; वही चीन के राज्य पूँजीवाद का प्रणेता भी है।

जब तक हम जॉन पॉल द्वितीय को नहीं समझेंगे तब तक हम नहीं समझ पायेंगे कि कैसे आयतुल्ला खुमैनी ने इस्लामिक क्रान्ति का पेरिस से नेतृत्व किया, कैसे जिनपिंग ने माओवादी चीन को पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में बदला, या पोलैंड की क्रान्ति, या आप नहीं समझ पायेंगे कैसे सोवियत संघ टूटा था गोर्बाचोव के द्वारा। आज भी वेटिकन को पोप नियंत्रण में रखता है।

विश्व का सबसे बड़ा पुस्तकालय ना ही अमेरिका में है और ना ही चीन में है, बल्कि एक छोटे से देश वेटिकन सिटी में है। विश्व का दूसरा सबसे बड़ा पुस्तकालय पटना में है जिसका नाम खुदा बक्श खान पुस्तकालय है।

विश्व का सबसे खराब पुस्तकालय जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में है। यह धन या अनुदान की कमी की वजह से नहीं है; यह डिजाइन की वजह से है। जेएनयू की खुद की बस सेवा होती थी जो विद्यार्थियों को विभिन्न

पुस्तकालयों में ले जाया करती थी। यह उदारीकरण शुरू होने से पहले का सबसे नया विश्वविद्यालय है। सिर्फ यही एकमात्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय है जिसकी स्थापना जेएनयू अधिनियम के तहत हुई है जिसको संसद के दोनों सदनों ने सर्वसम्मति से स्वीकृति दी। यदि आप जेएनयू की वास्तुकला देखते हैं तो इसकी इमारतों पर अमेरिकी प्रभाव दिखता है, हालाँकि यह एक साम्यवादी विश्वविद्यालय है। यह एकमात्र विश्वविद्यालय है जो एक मंच (प्लेटफार्म) है; अन्य विश्वविद्यालय दीवारों से घिरे हुए हैं या उनकी एक संरचनात्मक सीमा है, जबकि जेएनयू एकमात्र विश्वविद्यालय है जहाँ भौतिक सीमा सिर्फ बाहर से है अन्दर से यह पृथ्वी पर सबसे खुला स्थान है। राष्ट्रीय सुरक्षा का कोई विशेष केन्द्र न तो दिल्ली विश्वविद्यालय में है जिसकी स्थापना ब्रिटिश राज द्वारा 1935 में की गयी थी, न ही जामिया मिलिया इस्लामिया में जो कि दूसरा विश्वविद्यालय है दिल्ली में। जेएनयू तीसरा सबसे पुराना विश्वविद्यालय है दिल्ली में। अन्य शैक्षणिक संस्थान हैं, लेकिन विश्वविद्यालय नहीं हैं।

एक संस्थान या विश्वविद्यालय के बीच अन्तर क्या है? विश्वविद्यालय को एक आधुनिक स्थान माना जाता है। विश्वविद्यालय, विद्यापीठ और यूनिवर्सिटी एक समान नहीं हैं। नालंदा, तक्षशिला और वल्लभी प्राचीन समय के विश्वविद्यालय थे। फिर विद्यापीठ थे जैसे काशी और गुजरात। यूनिवर्सिटी अकादमिक स्थान है जो आधुनिक पश्चिम से सम्बद्ध है। डिजाइन द्वारा हम औपनिवेशिक विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, रक्षा अध्ययन के लिए चुनौती यहाँ से शुरू होती है।

भारत एक सभ्यतागत राष्ट्र है और इसमें चार घटक हैं; पहला, सिविल सोसाइटी; दूसरा, सैन्य समाज; तीसरा, राष्ट्र-राज्य; चौथा, बाजार। ये चार तत्त्व हैं भारत की सभ्यतागत स्थिति के और राष्ट्रीय रक्षा अध्ययन इन हितों की रक्षा के लिए तैयार किया जाना चाहिए। भारत की कुछ पुरानी समस्याएँ हैं जो स्वतन्त्रता और बँटवारे के समय से हैं और कुछ नयी समस्याएँ हैं जो समय के साथ सामने आई हैं। इनका यथासम्भव समाधान ढूँढ़ना भी रक्षा अध्ययन का कर्तव्य है।

एक राज्य प्रोपेगेंडा के बिना जीवित नहीं रह सकता है। प्रोपेगेंडा एक तकनीकी शब्द है और मैं इस बात पर जोर दूँगा कि कुछ प्रमुख शब्द हैं

जो राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन के केन्द्र में हैं। ये लगभग 500 प्रमुख शब्द हैं। अगर हम इतिहास को देखें तो हमें पता चलता है कि अगर हमने चाणक्य की गलती से सीखा होता तो शायद हम पर कोई आक्रमण नहीं कर पाता; अगर हमने मराठों की गलतियों से सीखा होता तो हम पर कोई आक्रमण न होता; अगर हमने चोलों का अनुसरण किया होता तो एक महान जल सेना शक्ति होते; अगर हमने शिवाजी महाराज के गोरिल्ला युद्ध की रणनीति का अनुसरण किया होता तो भारत में चरमपंथ नहीं होता। आज चे ग्वेरा गोरिल्ला युद्ध का रणनीतिकार माना जाता है जो तथ्यात्मक रूप से गलत है क्योंकि गोरिल्ला युद्ध की वास्तविक रणनीति शिवाजी महाराज की थी। इन मिथकों को तोड़कर एक अलग दृष्टिकोण प्रदान करना ही सही मायने में राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन का दायित्व है।

उदाहरण के लिए, अगर हमें गिनती करनी हो किसी कक्षा में बैठे लोगों की तो आप कैसे गिनेंगे? इसके लिए दो विधियाँ हैं। एक गैर-भारतीय विधि है जहाँ हम 1-10 गिनते हैं। और दूसरी भारतीय विधि है जहाँ हम 0-9 तक गिनते हैं। अगर आप 1 से गिनना शुरू करते हैं तो मुझे पासपोर्ट और नागरिकता के बारे में सोचने की जरूरत नहीं है। यह दर्शाता है कि आप गैर भारतीय हैं। भारत में हम 0-9 गिनते हैं। इसे वैदिक गणित कहा जाता है। हमें अनलर्निंग (सीखने में सुधार और नवाचार) की प्रकिया शुरू करनी चाहिए ताकि हम अपने अस्तित्व की सुरक्षा कर सकें। क्लास रूम (व्याख्यान कक्ष) एक मन्दिर की तरह होता है और जब हम मिलते हैं तो हम एक ही काल में मिल रहे होते हैं। काल (समय) क्या है? 16वीं शताब्दी की शुरुआत से, तथाकथित सभी आधुनिक लोगों के लिए काल (समय) धन अथवा पैसे के बराबर है। जॉन केल्विन ने बाइबिल पर भाष्य लिखा था। अब प्रश्न यह कि बाइबिल है क्या? क्या किसी ने बाइबिल को देखा है? मैंने नहीं देखा है। क्योंकि आप बाइबिल और कुरान को देख नहीं सकते हैं। आप इन्हें सिर्फ पढ़ सकते हैं। लेकिन हम कैसे पढ़ते हैं, इसकी एक प्रक्रिया है। वह क्या है? वह वही प्रक्रिया है जिसे धर्मविज्ञानियों ने सांस्कृतिक रूप से रचा है।

इसलिए आधुनिकता के शुरू होने से पहले किसी भी समुदाय और सभ्यता को एक पवित्र संस्था के रूप में माना जाता था। अब पवित्र/पूज्य क्या है? आधुनिक अकादमिक क्षेत्र में पवित्र को परिभाषित नहीं किया गया है।

इसके ध्रुवीय विपरीत को परिभाषित किया गया है। मैं वास्तविक तर्क दे रहा हूँ, यह सिर्फ संकेतक नहीं है। इसको एक किताब से लिया गया है जिसको एक फ्रांसीसी यहूदी बुद्धिजीवी एमाइल दुर्खीम ने लिखा था। किताब का नाम था 'द एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ'। फिर एक और फ्रांसीसी लेखक लेवी स्ट्रॉस ने 'द एलीमेंट्री स्ट्रक्चर ऑफ किनशिप' लिखी। एक जर्मन किताब भी है और इसके प्रसिद्ध लेखक हैं फर्डिनेंड टोनीज जिन्होंने 'कम्युनिटी एंड सोसाइटी' नामक किताब लिखी। आधुनिकता पर करोड़ों किताबें जो पिछले 600 सालों में लिखी गयी हैं उनमें से मैंने आधुनिकता पर तीन महत्त्वपूर्ण किताबों का चयन किया है, जिसमें दो फ्रांसीसी हैं और एक जर्मन है।

अब मैं तीन परम्परिक किताबों को आपके समक्ष रखूँगा। आपकी सुविधा के लिए, 90 करोड़ प्रकाशित शीर्षकों में से ये सिर्फ तीन हैं। मैं आपको तीन अलग-अलग लेखकों की किताबें भी बता सकता था लेकिन आपकी सुविधा के लिए ये तीनों किताबें एक ही लेखक की हैं। इन सबके लेखक हैं आनन्द केंटिश कुमारस्वामी, जो एक आधे श्रीलंकाई और आधे कैथोलिक इंग्लिश नागरिक हैं। कुमारस्वामी ने अपने जीवन का 80 प्रतिशत समय इंग्लैंड के बाहर और श्रीलंका में गुजारा। इनकी तीन प्रसिद्ध किताबें हैं—'टाइम एंड एटर्निटी', 'स्पिरिचुअल अथॉरिटी एंड टेम्पोरल पावर : इन द इंडियन थ्योरी ऑफ गवर्नमेंट' और 'ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट'।

अब मैंने परम्परा पर सिर्फ एक ही लेखक का नाम क्यों दिया और उनकी तीन किताबें ही क्यों? परम्परा एक सन्तरे की तरह है और आधुनिकता एक आम की तरह है। अब सन्तरे और आम में क्या अन्तर है? असल में हम वो त्यागने का प्रयत्न कर रहे हैं जो हम जानने का दावा करते हैं। इसलिए मैं आपको वयस्क अथवा किशोर की तरह नहीं समझूँगा, मैं आपको एक ढाई साल के बच्चे की तरह देखना चाहूँगा। क्या आपको अपना बचपन याद है? क्या आप जानते हैं मनुष्य का मस्तिष्क कैसे काम करता है? नौ महीने अपनी माता के गर्भ में और चार साल धरती पर होने पर हमारे मस्तिष्क के 90 प्रतिशत भाग का विकास होता है। बाकी 10 प्रतिशत के लिए आप कुछ खास नहीं कर सकते हैं जब तक की आप आइंस्टीन नहीं हैं और आपका शिक्षक न्यूटन नहीं है। अधिकतम आप उस 10 प्रतिशत में थोड़ा-बहुत जोड़ सकते हैं।

इसलिए एक पारम्परिक व्यक्ति के लिए आधुनिक मस्तिष्क को समझना बहुत ही कठिन है।

संसार में कहीं भी आपकी औपचारिक शिक्षा क्या कर सकता है? इसको हम समकालीन जीव विज्ञान कहते हैं। लेकिन यह चरक संहिता भी है, सुश्रुत संहिता भी है और यूनानी औषधि भी है। इसका मतलब यह है कि औपचारिक शिक्षा चार साल के बाद लगभग व्यर्थ है क्योंकि 90 प्रतिशत मस्तिष्क का विकास अथवा संरचना तो पहले से ही हो चुकी है। अगर चिकित्सा विज्ञान द्वारा आपका जीवन 900 साल बढ़ा दिया जाये तो आप सिर्फ दो चीजें कर सकते हैं—या तो आप 90 प्रतिशत विकसित मस्तिष्क को घटाकर 10 प्रतिशत कर सकते हैं या आप 10 प्रतिशत तक सीखकर उसे बढ़ा सकते हैं। इसलिए किसी भी आधुनिक व्यक्ति से बात करना बहुत आसान है चाहे वह स्टीफन हॉकिंग हों या 'अवतार', 'नेमेसिस' और 'सिंडलर्स लिस्ट' जैसी फिल्मे हों। लेकिन एक पारम्परिक व्यक्ति को समझना बहुत ही कठिन है जो अपना हस्ताक्षर करना नहीं जानता है। इसलिए मेरा सुझाव होगा कि आपको भूलना चाहिए अथवा नये सिरे से सीखना चाहिए कि एक शिक्षित और साक्षर व्यक्ति को कैसे समझा जाये अथवा श्रेणीबद्ध किया जाये।

एक बुद्धिमान और शिक्षित व्यक्ति का साक्षर (लिटरेट) होना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है। एक असाक्षर महिला अथवा पुरुष किसी भी भौतिकी, गणित, जीव विज्ञान या सामाजिक विज्ञान के आचार्य या प्रोफेसर से ज्यादा बुद्धिमान और समझदार हो सकते हैं। तकनीकी दृष्टि से, इस वैश्विक ग्राम में सबसे बुद्धिमान और समझदार ही वंचित की श्रेणी में हो सकते हैं। मैं आपको दो उदाहरण दे रहा हूँ। एक हैं 14वीं शताब्दी के कबीरदास और दूसरी हैं केरल से माता आनन्दमयी। आज भी माता आनन्दमयी असाक्षर हैं। कुछ लोग मनुष्य और जानवर के बारे में चर्चा कर रहे थे। पशु की बलि चढ़ाते हैं, इत्यादि। लेकिन क्या मनुष्य पशु की श्रेणी में नहीं आता? आधुनिकता का पूरा खेल यहीं से शुरू होता है कि हम पशु नहीं हैं। लेकिन इस तथाकथित पशु और वास्तविक पशु के विभेदीकरण का आधार क्या है? मेरा मानना है कि अंग्रेजी में शिक्षित मनुष्य ही वास्तविक पशु हैं। पशु देवता/देवी द्वारा बनाये गये हैं। हम लोग (मनुष्य) मैकाले की सन्तान हैं। अगर हम मनुष्य की परिभाषा की बात करते हैं तो हम तीन परिभाषाओं का सामना करते हैं।

एक है कि मनुष्य होमो सेपियंस है; वह विचार करने वाला पशु है; हम पशु हैं लेकिन हम सोचते हैं। यह आधुनिक दावा है कि हम सोचते हैं। क्या एक बाघ जो पशु है नहीं सोचता है? मच्छर नहीं सोच सकता? अगर नहीं, तो वे आपको काटते और खाते कैसे हैं? अगर वे सोचते नहीं तो मनुष्य उनके लिए मायने ही नहीं रखते। तो यह मूर्खता क्या है कि मनुष्य एक सोचने वाला पशु है? और यह बात किसने कही? रेने देकार्त ने ऐसा कहा जिसे आधुनिक दर्शनशास्त्र और आधुनिक तर्क या आधुनिक मस्तिष्क का पिता कहा जाता है। यूरोप के लिए, फ्रांस के लिए, इंग्लिश के लिए, स्कैंडिनेवियन के लिए और अन्य के लिए जर्मन लोग एक बर्बर जाति है। हमारे लिए या नाजी के लिए वे आर्यन हो सकते हैं।

अगर आप समकालीन यूरोप के इतिहास को पढ़ते हैं तो पता चलता है कि यहाँ तीन प्रकार के सोचने वाले पशु हैं। कुछ बर्बर हैं जैसे कि अफ्रीका के निवासी, मुस्लिम, हिन्दू, चीनी और अन्य; यह ब्रिटिश परिभाषा थी। इसलिए उन लोगों ने कहा कि "हम आपको दास नहीं बना रहे बल्कि हम आपको सभ्य बनाने के उद्देश्य से आये हैं।" हम यहाँ करुणा करने आये हैं ताकि इन बर्बर और असभ्य लोगों को सभ्य बनाया जा सके। इस दशा में आप अपनी राष्ट्रीय सीमा की सुरक्षा कैसे करेंगे? परमाणु बम द्वारा या अल्ट्रा आधुनिक मिसाइल द्वारा? नहीं, यह सम्भव नहीं है। मेरा विश्वास है कि यह एक अवधारणा का युद्ध है। मैं आपको एक कार्य सौंप रहा हूँ। आप सभी को एक मलयाली फिल्म 'दृश्यम' देखना होगी; इसका कई भारतीय भाषाओं में रूपान्तरण हुआ है। यह फिल्म राष्ट्रीय सुरक्षा अध्ययन का कुरान है। यह अवश्य देखने वाली फिल्मों की सूची में है।

राष्ट्रीय रक्षा में पहला शब्द 'राष्ट्र' है। आप इसका अनुवाद कैसे करते हैं? राष्ट्र, राज्य नहीं है, राष्ट्र, राज्य-राष्ट्र भी नहीं है। संस्कृत में, राष्ट्र एक सभ्यता है। हम कौन हैं? क्या हम इंडियन हैं? नहीं। बिना परम्परा की समझ के भारत को केवल वर्तमान समय के राजनीतिक, कानूनी और न्यायिक सीमा के रूप में यानी तथाकथित इंडिया में नहीं समझा जा सकता है। भारत को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में सोचना एक भूल है। हम कौन हैं? हम लोग मनुष्य नहीं हैं; हम लोग पशु हैं; हम लोग उसी प्रकार प्राकृतिक हैं जैसे बिल्ली, कुत्ता, बाघ अथवा साँप; इसलिए हमारा राष्ट्र नौ रसों का आनन्द लेता है।

हम अपने-आप को किसी एक रंग से सम्बोधित अथवा प्रस्तुत नहीं करते हैं; हम सिर्फ भगवा नहीं हैं। हम लोग सतरंगी भी हैं। हमें सभी सात रंग दिखाई देते हैं लेकिन पीलिया से पीड़ित आँखों को सिर्फ भगवा दिखाई देता है। इसका क्या मतलब है? इसको समझने के लिए आपको रंग के सिद्धान्त को, जो आपने दूसरे तरीके से सीखा है, भूलना पड़ेगा। रंग के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—पहला, एंग्लिकन चर्च के पादरी आइज़ेक न्यूटन द्वारा दिया गया था जो वैज्ञानिक बिल्कुल नहीं था; उन्होंने 40 किताबें भी लिखीं जिनमें से 39 ईसाई धर्मशास्त्र पर आधारित थीं। सिर्फ एक किताब 'प्रिन्सिपिया मैथेमैटिका' को विज्ञान पर आधारित किताब माना जाता है; वह भी ईसाई विज्ञान पर आधारित। एक और रंग का सिद्धान्त जर्मन वैज्ञानिक गेटे (गोथे) द्वारा दिया गया था जिसको गलत तरीके से सिर्फ एक कवि के रूप में देखा जाता है। गोथे एक वनस्पति शास्त्री थे जिनकी शोध कार्य पर आधारित 9 किताबें हैं और एक किताब कविता पर आधारित है। अंग्रेजों ने वास्तविक वैज्ञानिक को कवि बना दिया और ईसाई पादरी न्यूटन को वैज्ञानिक बना दिया। किसी सांस्कृतिक संस्था के लिए यह कहना पाप होगा। भगवा रंग उसका हिस्सा है लेकिन हरा रंग हिस्सा नहीं है। अमेरिका वालों के लिए हरा इस्लाम है और भगवा हिन्दू है। लेकिन हमारे लिए हरा रंग प्रकृति का प्रतीक है; हरा रंग भगवान विष्णु और कृष्ण का पहनावा है।

7वीं शताब्दी में केरल में समुद्र के रास्ते इस्लाम भारत में आया। वे व्यापारी के रूप में आये। ईसाई धर्म भी समुद्र के रास्ते 72 ईस्वी में केरल आया। ईसाई धर्म यूरोप में चौथी शताब्दी में पहुँचा, इसलिए ईसाई धर्म यूरोपीय धर्म नहीं है, बल्कि एशियाई अथवा भारतीय है। इसलिए हम लोग मुस्लिम विरोधी नहीं हैं; हम ईसाई विरोधी नहीं हैं; यह मात्र भ्रान्तियाँ हैं। हिन्दू शब्द क्या है? हिन्दू एक भारतीय शब्द नहीं है। यह फारसी भाषा का शब्द है। जब हमें हिन्दू कहा गया था उस समय मुस्लिम अस्तित्व में नहीं थे। ईरानी लोगों ने यह शब्द दिया था। मुहम्मद साहब उस समय पैदा भी नहीं हुए थे।

हमारे समृद्ध वेद गुरुमुखी विद्या से सम्बन्धित हैं। यह श्रुति परम्परा है। यह गुरु से सुनी जाती है; किताब में नहीं पढ़ी जाती। अनूदित वेद मैक्स मूलर ने किये हैं। देवनागरी में वर्णों की संख्या 51 होती है और व्याकरण की किताबों में 49 लिखे हैं। मतलब कि बाजार में इनका वास्तविक रूप नहीं मिलता है।

यदि कोई प्रामाणिक पुस्तक चाणक्य के समय की है, पाणिनि के समय की है और वशिष्ठ मुनि के समय की है तो हमें प्रमाणिकता की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक कागज पर लिखी हुई सारी पुस्तकें सन्देह में हैं क्योंकि उन्हें विदेशी लोगों ने तोड़ा और मरोड़ा है। वेदों में जो फारसी लोग (ईरानियन) हैं उनको असुर कहा गया है। जो भारत का भूभाग है उसमें अफगानिस्तान और हिन्दुकुश भी शामिल है। तो क्या जो अफगानिस्तान के जिहादी है उनको आप हिन्दू मानते हैं? पाकिस्तान के जो मुजाहिद्दीन और मुहाजिर हैं उनको आप हिन्दू मानते हैं? हमें मानना पड़ेगा इस तथ्य को कि तिब्बत भारत का भाग है। भारत और चीन की जो लड़ाई है वह अंग्रेजी पढ़े-लिखे प्रभु वर्ग की दृष्टि से देखा गया संघर्ष है। आप भारत-चीन सीमा पर जाइए और संस्कृत बोलिए, पालि बोलिए, तिब्बती बोलिए, मंडारिन बोलिए; सभी हमारी भाषाएँ है। मांडरिन कहाँ से आयी है? मांडरिन का ब्राह्मी और खरोष्ठी से रिश्ता है। इस तरह, अधिकतर लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं, वे सिर्फ साक्षर हैं।

सनातन भारत में सर्वधर्म समभाव है और हमारे यहाँ दोनों की अवधारणा है—चाहे वह राक्षस हो या देवता और सुर हो या असुर। ध्यान रखिए कि हमारे यहाँ शैतान नहीं है; यहाँ डेविल नहीं है; हमारे यहाँ किसी भी पुस्तक में डेविल नहीं है; जो डेविल है वही मॉडर्निटी (आधुनिकता) है। डेविल के अन्वेषण से ही आधुनिकता शुरू होती है और मॉडर्निटी कहाँ से शुरू होती है? यह ईसा मसीह से शुरू होती है। अंग्रेजी का एक शब्द है 'न्यूज'। इसका मूल शब्द 'न्यू' (NEW) है। यह ईसा मसीह से शुरू नहीं हुआ। इसको पादरी पीटर ने शुरू किया था। क्या किसी ने बच्चा पैदा होते देखा है? मैंने तो नहीं देखा है, क्योंकि हमारे समाज में पुरुषों को अनुमति नहीं दी जाती है इसके लिए। यह मॉडर्निटी में होता है। हमारे यहाँ नियम है कि किसी घर में बच्चा होता है तो लड़की की माँ जाती है या उसकी सास जाती है। जो आधुनिकता से भ्रमित है वह हिन्दू कैसे हो सकता है? अंग्रेजी में फादरलैंड होता है; हमारे यहाँ मातृभूमि होती है। मातृभूमि का अंग्रेजी अनुवाद क्या होगा? मदरलैंड नहीं होगा, चूँकि अंग्रेजी में मदरलैंड नहीं होता है। बात छोटी-सी है, लेकिन बहुत बड़ी है। उन्हें मातृभूमि की अवधारणा नहीं समझ में आयेगी।

हमारे मन्दिरों में प्रसाद होता है। चर्च में प्रसाद नहीं होता है। तो प्रसाद का क्या अनुवाद करोगे? राष्ट्र का क्या अनुवाद करोगे अंग्रेजी में?

राष्ट्र होता ही नहीं है यूरोप में। इसीलिए किसी आधुनिक कॉलेज, स्कूल और यूनिवर्सिटी में जाओगे तो उनका सबसे महत्त्वपूर्ण विज्ञान क्या है? निस्सन्देह, गणित है। जितनी भी आधुनिकता है सब गणितीय उत्पत्ति है; जबकि परम्परा उत्पत्ति संगीतिक उत्पत्ति है। म्यूजिक (संगीत) और मैथमैटिक्स (गणित) दोनों एम से शुरू होते हैं; दोनों नम्बर/संख्या का खेल हैं। गणित और संगीत में अन्तर क्या है? अन्तर यह है कि गणित में रेखीय पद (लीनियर प्रोग्रेशन) होता है और म्यूजिक में चक्रीय पद (साइक्लिकल प्रोग्रेशन) होता है; साइक्लिकल नोटेशन होता है। उदाहरण के लिए, गणित में कैसे गिनोगे? एक से 10 तक; उसके बाद 11; फिर 21; फिर 31; तो लीनियर प्रोग्रेशन है; एक रेखा है, चला जा रहा है। संगीत में क्या होता है? एक चक्र होत है—सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी, सा; यह चन्द्रमा की तरह घूमता है। इसीलिए हम देखते हैं जो मुसलमान हैं उन्होंने चन्द्रमा को पकड़ा है; वो लूनर कैलेंडर मानते हैं, जबकि अंग्रेजों का कैलेंडर सोलर है। चीनी लोगों का पंचांग (कैलेंडर) क्या है? वह 27 नक्षत्रों पर आधारित है। उनके प्रतीक पशु हैं। तो जब हम अपने-आप को होमो सेपियंस समझेंगे (मैन इज द थिंकिंग एनिमल) तो हम चीनियों से हार जायेंगे क्योंकि वह अपने-आप को पशु मानता है।

एक परिभाषा यह है कि मैन इज द थिंकिंग एनिमल (मनुष्य एक विचार करने वाला पशु है)। यह जर्मनी को बहुत बुरी लगी क्योंकि यह फ्रेंच परिभाषा है। तब जर्मन यहूदियों ने कहा कि मैन इज नॉट थिंकिंग एनिमल; मैन इज नॉट होमो सेपियंस; मैन इज होमो फैबर; मैन इज अ टूल मेकिंग एनिमल; मैन इज अ टेक्निकल एनिमल (मनुष्य एक औजार बनाने वाला अथवा तकनीकी पशु है)। पागल को अंग्रेजी में क्या कहोगे? नहीं अनुवाद कर पाओगे? कारण पंचम स्वर है—सा, रे, गा, मा, पा—यानी जो पंचम स्वर में गाता है उसको पागल कहते हैं। पंजाबी में कहते हैं—क्या गल कर रहे हो? मैड पागल के समानान्तर नहीं होता है। मैड वह होता है जिसका मस्तिष्क कोलाहल/अव्यवस्था में चला जाता है और इस पर मिशेल फुको ने एक किताब लिखी है—'मैडनेस एंड सिविलाइजेशन'। तो तीसरी परिभाषा यही है। यूरोप के हिसाब से देखें तो वहाँ एक पागल आदमी था जिसका नाम था सेंट फ्रांसिस ऑफ असीसी। उसको लोगों ने पोप बनने का अवसर दिया लेकिन उसने नकार दिया। दूसरा पागल था जलालुद्दीन रूमी; उसको खलीफा ने अपने

दरबार में नवरत्न बनाने का प्रस्ताव दिया और उसने कहा कि 'नहीं'। हमारे यहाँ भी बहुत से पागल हुए हैं; एक का नाम था भर्तृहरि और एक का नाम था विश्वामित्र। विश्वामित्र सम्राट थे, जो बाद में संन्यासी हो गये।

आधुनिकता को समझने के लिए जो पहली भाषा है वह गणित है। परम्परा को समझने के लिए सबसे जरूरी व्याकरण है। इसलिए भारतीय संस्कृति का या किसी भी परम्परा, संस्कृति, सभ्यता या राष्ट्र को समझने के लिए सबसे जरूरी व्याकरण है। पाणिनि का संस्कृत में लिखा हुआ व्याकरण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है और इस पर पतंजलि ने महाभाष्य लिखा। इसको पढ़े बिना हम भारतीय सभ्यता को या सनातन सभ्यता को या सनातन परम्परा को नहीं समझ पायेंगे। लेकिन ध्यान देने की बात है कि पाणिनि के व्याकरण लिखने से लाखों वर्ष पहले वेदों की ऋचाएँ लिखी गयीं। इसलिए वैदिक संस्कृत पर पाणिनि का व्याकरण लागू नहीं होता; पाणिनि का व्याकरण पढ़कर हम वेद नहीं समझ सकते। दरअसल, वेदों की भाषा सांकेतिक है और सांकेतिक या कूट भाषा समझने के लिए उसका पासवर्ड लेना पड़ता है, उसका पेटेंट राइट लेना पड़ता है; जैसे तकनीक का इस्तेमाल करने के लिए हमें पेटेंट राइट लेना पड़ रहा है। इसी तरह वेदों को समझने के लिए भी हमें कुछ तथ्य सीखने होंगे। इसके लिए कुछ शुल्क भी देना होता है जो हर संस्कृति अपने हिसाब से तय करती है।

संस्कृत में हम फारसी (ईरानियन) लोगों को असुर कहते हैं; और वह लोग फारसी भाषा में असुर को 'अहुर' कहते हैं। अहुर मजदा उनके सर्वोच्च इष्ट देवता का नाम है, जो असुर देवता हैं। वे ईरानियन जरथुस्त्र के आराध्य देव हैं; वे एक पवित्र देवता हैं। केवल लोग ही चचेरे नहीं होते हैं, भाषाएँ भी होती हैं। संस्कृत, फारसी और यूनानी—ये तीन बहनें हैं। इनके बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत गहरा था। कुछ लोग तुतलाते हैं, उसी तरह भाषाएँ भी तुतलाती हैं। जैसे संस्कृत में 56 ध्वनियाँ हैं, जिसको अक्षर कहते हैं; हिन्दी में 51 हैं लेकिन आधिकारिक राजभाषा हिन्दी में 49 ही हैं। अंग्रेजी में 26 हैं। हम 26 ध्वनियों के सहारे उस सभ्यता को कैसे समझ सकते हैं जिसमें 56 ध्वनियाँ हैं? केरल के लोग अपनी पारम्परिक वेशभूषा में सिले हुए कपड़े नहीं पहनते हैं, लेकिन गुजरात में सिले हुए कपड़े पहनते हैं। सिलने (टेलरिंग) का जो काम है यह पूरी तरह से भारतीय नहीं है; इस पर इस्लामिक प्रभाव है।

उदाहरण के लिए, जो पैर है वह 56 इंच का है और अंग्रेजों का जूता 26 इंच का है। तुम जूते को बड़ा नहीं कर रहे लेकिन पैर काटने को तैयार हो। पैर को जो काट दे वह आधुनिक है और जो जूता बदल ले वह पारम्परिक; यह अन्तर है। दरअसल पैर तो भगवान ने बनाये हैं जबकि जूता आदमी ने बनाया है। भगवान की योजना के अनुसार चलोगे तो पारम्परिक और आदमी की योजना से भगवान को अथवा धर्म को चलाने लगोगे तो वह आधुनिक हो जायेगा। अजीब विडम्बना है! आधुनिकता की शुरुआत रेने देकार्ते से होती है। परम्परा में तीन मुख्य तत्त्व होते हैं जिनकी चर्चा मैंने कॉस्मॉस के परिभाषा में की थी—प्रकृति, जीवित प्राणी और अलौकिक शक्ति। यही तत्त्व मनुष्य में भी होते हैं; जीवों में भी होते हैं। प्रकृति ने हमें शरीर दिया और संस्कृति ने हमें मस्तिष्क दिया है।

ये तीनों आत्मा को दर्शाते हैं। हम देखते हैं कि किसी भी पारम्परिक राष्ट्र में मस्तिष्क, शरीर और आत्मा जैसे तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं। आधुनिकता ने उसको घटाकर दो कर दिया। तो आधुनिक वही है जो तीन को दो कर दे। अब तीन को दो करने के दो तरीके हो सकते हैं या तीन तरीके हो सकते हैं। एक तरीका यह हो सकता है कि हम शरीर को हटा दें तो मस्तिष्क और आत्मा रह जायेंगे। दूसरा तरीका यह होगा कि हम मस्तिष्क को हटा दें तो शरीर और आत्मा रह जायेंगे। तीसरा तरीका होगा कि हम आत्मा को हटा दे तो मस्तिष्क और शरीर रह जायेंगे। खैर, रेने देकार्ते ने तीसरी विधि अपनाई। उसने कहा कि जो आधुनिक दर्शन है, जो आधुनिक वैज्ञानिक प्रयास है, जो आधुनिक ज्ञान और समझदारी के लिए जिज्ञासा है वह मष्तिष्क और शरीर की ओर केन्द्रित है। इस तरह आत्मा को गायब कर दिया गया। जब हम आत्मा को गायब कर देंगे तो हम ब्रह्मांड (कॉस्मॉस) की बात कर ही नहीं सकते।

इस प्रकार आधुनिकता ने पहला परिवर्तन क्या किया? उसने आत्मा और दिव्यता को गायब कर दिया; तो धरती पर रह गये मष्तिष्क और शरीर और ब्रह्मांड में रह गया केवल गणितीय ब्रह्मांड। जो गणितीय ब्रह्मांड हुआ वही अकादमिक चर्चा का सबसे बड़ा क्षेत्र हो गया। सबसे बड़ा ज्ञान ब्रह्मांड का ज्ञान होगा। सबसे छोटा ज्ञान मस्तिष्क और शरीर का होगा। इसीलिए 13वीं शताब्दी में यूरोप में पहली यूनिवर्सिटी बनी जो ईसाई दृष्टिकोण से गणितीय ब्रह्मांड की ओर केन्द्रित थी। यह यूनिवर्सिटी क्या थी?

इसे यूरोप में 13वीं शताब्दी में नालंदा विश्वविद्यालय के बर्बाद होने के बाद बनाया गया था। हम देखते हैं कि इन घटनाओं में बहुत कम समय का अन्तर है। 'यूनिवर्सिटी ऑफ पेरिस', यूरोप की पहली यूनिवर्सिटी को 13वीं शताब्दी में फ्रांस में स्थापित किया गया था जो मुख्य रूप से एक कैथोलिक देश था। 13वीं शताब्दी से अब तक यूरोप में जितनी भी यूनिवर्सिटी बनीं सारी की सारी धार्मिक हैं; एक भी यूनिवर्सिटी अधार्मिक नहीं हैं। इसके विपरीत, अमेरिका के जितने भी विश्वविद्यालय हैं और भारत के जितने भी विश्वविद्यालय हैं सब धर्मनिरपेक्ष हैं। धर्मनिरपेक्ष का मतलब है कैथोलिक के विपरीत। धर्मनिरपेक्ष धर्म के विपरीत नहीं है; धर्मनिरपेक्ष वास्तव में प्रोटेस्टेंट है। इसे प्रोटेस्टेंट चर्च ने बनाया और धर्मनिरपेक्ष कहा। प्रोटेस्टेंट चर्च ने जो यूनिवर्सिटी बनायीं उनको उसने धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) यूनिवर्सिटी कहा; जो प्रोटेस्टेंट चर्च ने राज्य बनाये उनको धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा।

मुद्दा कैथोलिक बनाम प्रोटेस्टेंट का है; पारम्परिक ईसाइयत बनाम आधुनिक ईसाइयत का है। बेकार में हम लोग धर्मनिरपेक्ष का खेल खेल रहे हैं। राष्ट्रीय रक्षा अध्ययन का यह कर्तव्य है कि अपने राजनेताओं को धर्मनिरपेक्ष का अर्थ बताए; अपने राजनेताओं को आधुनिकता का अर्थ बताए। अब तीसरी बात, फ्रांसीसी क्रान्ति में स्वतन्त्रता, बराबरी और भातृत्व देखा गया; आधुनिकता को परिभाषित करने के तीन तरीके हैं—पहला तरीका है दार्शनिक; दूसरा तरीका है राजनीतिक और तीसरा तरीका है अकादमिक। ये तीनों तरीके यूरोपियन हैं। पारम्परिक और आधुनिक के विमर्श में चौथी से 13वीं शताब्दी तक को 'अन्धकार युग' कहा गया है। ईसाइयत का मानना है कि जो अपने-आप को आधुनिक कहते हैं वे धर्मनिरपेक्ष के बराबर हैं। ऐसा मानने वालों में मार्टिन लूथर, जॉन केल्विन और ज्विंगली के अनुयायी थे। उनके लिए परम्परा का मतलब था पश्चिम यूरोप की कैथोलिक ईसाइयत। अब सवाल उठता है कि विरोध (प्रोटेस्ट) जर्मनी में ही क्यों हुआ? भारत के सन्दर्भ में सवाल उठता है कि जितने सुधार आन्दोलन (रिफॉर्म मूवमेंट) हुए वे बॉम्बे प्रेसिडेंसी में ही क्यों हुए?

अंग्रेजों ने तो तीन-चार प्रेसिडेंसी बनायी थीं। तीन बहुत प्रसिद्ध हैं; चौथी उतनी प्रसिद्ध नहीं है। पहली बंगाल थी; बॉम्बे दूसरी थी; तीसरी मद्रास प्रेसिडेंसी थी। जो बंगाल प्रेसिडेंसी थी उसे उन्होंने खुद बनाया था।

बॉम्बे प्रेसिडेंसी उन्हें डाउरी (दहेज) में मिली थी। जब तक अंग्रेजों को दहेज में बॉम्बे नहीं मिला था तब तक भारत में 'डाउरी' शब्द किसी ने नहीं सुना था। हिन्दुओं में डाउरी शब्द है ही नहीं। ऐसा नहीं है कि यह एक खराब प्रथा है जिसे हमें सुधारने की आवश्यकता है। सत्य यह है कि यह हमारी प्रथा है ही नहीं। हमारे यहाँ की प्रथा दहेज है, हमारे यहाँ की प्रथा महर है, हमारे यहाँ की प्रथा कन्या धन है और इन तीनों को अंग्रेजी में डाउरी नहीं कहते हैं। विशाल सांस्कृतिक अन्तर है। जो दहेज होता है वह स्वैच्छिक उपहार है जिसे शादी के बाद दिया जाता है। जबकि दहेज शादी से पहले का मोल-भाव अथवा सौदा है डाउरी। सबसे पहली डाउरी ब्रिटिश राजकुमार को मिली थी। जब उनकी शादी पुर्तगाल के राजा के भाई की बेटी से हुई थी। प्रत्यक्ष वंशावली में राजकुमारी नहीं होने के कारण अंग्रेजों ने शादी के लिए डाउरी माँगी। इसलिए डाउरी शब्द ईसाइयत में होता है; यूरोप के ईसाइयों में होता है; हमारे भारत के ईसाइयों में भी नहीं होता है।

ज्यादातर तथाकथित हिन्दुओं से पूछो कि तुम्हारे देश का नाम क्या है? तो वे कहेंगे भारत है। वहीं ज्यादातर तथाकथित मुस्लिमों से पूछो कि तुम्हारे देश का नाम क्या है? तो वे कहेंगे हिन्दुस्तान है। ध्यान देने योग्य बात है कि मुसलमान हिन्दुस्तान कहता है और हिन्दू भारत कहता है। वह क्यों कहता है हिन्दुस्तान और हिन्दू क्यों कहता है भारत? हमने समझने की कोशिश की है कभी? हमें प्रयास करना चाहिए।

कभी चिकित्सा प्रेक्षागार (ऑपरेशन थिएटर) में गये हो? कोई बड़ी दुर्घटना हो गयी हो और मरीज भर्ती हो हॉस्पिटल में; बहुत दर्द हो रहा हो तो बोलेगा 'बाप रे'। बाप शब्द अपने-आप निकलता है; कोई भी सोच के नहीं बोलता; वह बचाने का आग्रह कर रहा है; उसको पता है कि अगर उसको सहायता मिली तो वह जीवित रह सकता है। लेकिन जब वह ज्यादा हताश और पीड़ा में होगा तो वह अपनी माँ को याद करता है; वह माँ बोलेगा; वह 'माई रे माई' बोलेगा; माँ को बुलाएगा। जब साधारण खतरा तुम्हारे देश पर आयेगा तो विष्णु का अवतार होगा; लेकिन जब ऐसा लगेगा कि तुम्हारा अस्तित्व खतरे में है तो दुर्गा आयेंगी, काली आयेंगी और महिषासुर मर्दिनी आयेंगी।

तुम मानो या ना मानो महिलाओं के हाथ में सत्ता दो, तुम्हारा कल्याण होगा। यदि तुम्हारे घर में तुम्हारी माँ की चलती है तो तुम आतंकवादी नहीं हो

सकते, चाहे तुम किसी भी धर्म में पैदा हुए हो। लेकिन तुम्हारे घर में तुम्हारे बाप की चलती है तो तुम आतंकवादी हो सकते हो। कारण क्या है? मैं केवल भारत की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि मैं पूरी दुनिया की बात कर रहा हूँ। दरअसल सबसे ज्यादा आधुनिक शिक्षा किसी भी देश में पुरुष को मिलती है। महिलाएँ अभी भी पूरे तरीके से अंग्रेजी शिक्षा में लिप्त नहीं हुई हैं। उनका बैप्टाइजेशन नहीं हुआ है। मैकाले के स्कूल में मायावती बहुत पढ़ी-लिखी नहीं हैं; राबड़ी देवी तो अँगूठा छाप हैं; लेकिन उन्होंने अपराध को घटा दिया था। अपराध को घटा देना कोई छोटी बात नहीं है और इस बात को हम आशिस नन्दी की किताबों 'एट द एज ऑफ साइकोलॉजी' में पढ़ सकते हैं। उसमें वह मैस्कुलिन (पुरुष जैसा) और फेमिनिन (स्त्री जैसी) के बारे में अध्याय लिखते हैं और गांधी का सन्दर्भ लेते हुए कहते हैं कि गांधी कहा करते थे कि एक औरत में प्राकृतिक रूप से अपने भाई की तुलना में या अपने पति की तुलना में आठ गुना ज्यादा प्राकृतिक शक्ति होती है। एक फ्रांसीसी यहूदी हैं सिमोन दी बोउबार, उन्होंने किताब लिखी है 'द सेकंड सेक्स'; दोनों किताबें में एक ही बात है कि औरत पैदा नहीं होती है सांस्कृतिक रूप से बनाई जाती है। जो यहूदी धर्म है उसमें मदरलैंड (मातृभूमि) की अवधारणा है, यह ईसाइयों में नहीं है; होनी चाहिए थी उनमें क्योंकि उनके यहाँ ईसा मसीह के पिता का नाम नहीं मालूम किसी को; वहाँ माँ का नाम ही पता है। और तौरा यह कहता है कि जहाँ पैगम्बर (प्रोफेट) के बाप का पता नहीं है वहाँ मदरलैंड की अवधारणा नहीं होती है। मैं भ्रमित यहूदियों की बात कर रहा हूँ। वह बड़ी बेशर्मी से कहता है। मैं नाम ले रहा हूँ कार्ल मार्क्स के अभिन्न मित्र फ्रेडरिक एंगेल्स का। मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स दोनों जर्मन यहूदी थे। फ्रेडरिक एंगेल्स ने किताब लिखी है—'ओरिजिन ऑफ फैमिली : प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड स्टेट' जो लुई हेनरी मॉर्गन नामक अमेरिकन मानवविज्ञानी की किताब 'एंशिएंट सोसाइटी' पर आधारित है। उसमें वह बड़ी बेशर्मी से लिखता है, "मदरहुड इज सर्टेनिटी, फादरहुड इज गेस" (किसी बच्चे की माँ कौन है यह तो पता होता है। उसके बहुत से गवाह होते हैं। लेकिन किसी बच्चे का बाप कौन है यह तो सिर्फ तुक्का है)। यह तो बच्चे की माँ की गवाही पर निर्भर है कि जिसको वह बाप बता दे। यह यहूदियों की भाषा है। वे एक छोटा समुदाय हैं लेकिन उनमें ढोंग नहीं है।

गांधीजी ने एक ही किताब लिखी और वह कोई सन्त नहीं थे। 'महात्मा' की पदवी उनको रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दी असल में गांधीजी एक पेशेवर राजनीतिज्ञ थे। गांधीजी की एक ही किताब है 'हिन्द स्वराज' जो गुजराती में है। इसका अंग्रेजी और हिन्दी में भी अनुवाद किया गया है। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण किताब है। मैंने देखने और पढ़ने का जो सुझाव दिया है वह एक मलयाली ईसाई जीतू जोसेफ की बनाई हुई फिल्म 'दृश्यम' है जो मस्तिष्क के उपनिवेश-युक्त होने का एक उदाहरण है। यह पूरी तरह से देशज चीज है। और दूसरी महत्त्वपूर्ण समझने वाली चीज है मोहनदास करमचन्द गांधी की 'हिन्द स्वराज'। इसमें वह साफ-साफ कहते हैं कि हम अंग्रेजों के गुलाम नहीं हैं।

कुछ आश्चर्यजनक बातों में यह भी शामिल है कि 18वीं शताब्दी तक, जब तक अंग्रेज नहीं आये थे, हमारे देश में एक भी दंगे का लिखित इतिहास नहीं है। भारत दंगाइयों का देश नहीं है। दंगा आधुनिकता ने पैदा किया और आयातित चीज तो अच्छी होती ही है काले अंग्रेजों के लिए; तो काले अंग्रेजों ने इसको अपने कन्धों पर उठा लिया। जब तक हम पर विदेशी आक्रमण नहीं हुआ था, हमारे घरों में लैट्रिन (शौचालय) नहीं हुआ करती थी। इस तर्क से जो मेहतर जाति है वह भारत की नहीं है; ये जो भंगी हैं ये यहाँ पैदा नहीं हुए हैं, इनको मध्यकाल में बनाया गया था। वैसे ही जैसे भारत का मुसलमान अंग्रेजों के आने तक गाय नहीं खाता था; लिखित इतिहास है। इस पर इतिहासकार धर्मपाल की एक बहुत मशहूर किताब है। कहा जाता है कि मध्यकाल में हिन्दुओं को जजिया कर देना पड़ता था। उसी तरीके से मुसलमानों को मजबूर किया गया था गाय काटने के लिए। मुसलमानों ने गाय मजबूरी में काटना शुरू किया था लेकिन उसको खाते अंग्रेज थे। यदि हमने डकैती की है तो हम पर बलात्कार का आरोप नहीं लगा सकता कोई। अन्य लोगों को हमेशा अन्धकार में नहीं रखना चाहिए। हमारे यहाँ राक्षस हैं, शैतान नहीं हैं। रावण शैतान नहीं है; वह शिव का सबसे बड़ा भक्त है और बहुत दयालु भी है। रामायण के दृश्य में समुद्र रास्ता नहीं दे रहा है राम की सेना को; लक्ष्मण को बहुत गुस्सा आ जाता है; वह अपने भाई को बोलते हैं कि आप तो इतने बड़े भगवान हैं आप एक तीर मारकर समुद्र को सुखा दीजिए।

तुलसीदास की 'रामचरितमानस' में कुछ और लिखा हुआ है; वाल्मीकि के मूल रूप में लिखे हुए 'रामायण' में कुछ और कहानी है। उसमें कहानी है कि राम का एक दूत रावण के पास जाता है और रावण से कहता है कि "मैं भगवान राम का दूत बनकर लंकापति रावण के पास नहीं आया हूँ। मैं महान शिवभक्त, महान उद्‌भट विद्वान, महान पुरोहित रावण के पास आया हूँ। हमारे राजा राम लंकापति रावण को युद्ध में हराना चाहते हैं लेकिन समुद्र रास्ता नहीं दे रहा है। इसका एक ही उपाय है कि शिव को प्रसन्न किया जाये और हमारे भगवान राम शिव की पूजा करना चाहते हैं। और वह चाहते हैं कि आप हमारे पुरोहित बनें।" और इस निवेदन पर अपने सभासदों के मना करने के बावजूद रावण आकर राम की पूजा सम्पन्न कराता है। राम उसके पैर छूते हैं और वह आशीर्वाद देता है 'विजयी भव!'

'महाभारत' में भी ऐसा ही होता है। भीष्म पितामह ने तांडव मचाया हुआ है; पांडवों की सेना कट रही है; कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन सब यह सोचकर परेशान हैं कि यह युद्ध 18 दिन तक तो चलेगा ही नहीं; यह तो दो-तीन दिन में खत्म हो जायेगा। पांडव कहते हैं, "कोई उपाय बताइए भगवान!" तो कृष्ण कहते हैं कि "भीष्म के पास चलो, जो कौरवों के सेनापति हैं।" ये सभी लोग युद्ध खत्म होने के बाद शाम को जाते हैं और अर्जुन से कहलवाते हैं; अर्जुन को बहुत मानते थे पितामह। अर्जुन कहते हैं, "इस तरह से यदि आप हमें काटते जायेंगे तब हम बचेंगे ही नहीं। आप बताइए कि कौरवों को हराने के लिए क्या करना पड़ेगा?" भीष्म कहते हैं, "मुझे हटाना पड़ेगा।" तो युधिष्ठिर बोलता हैं, "लेकिन आपको तो मारा ही नहीं जा सकता जब तक आप खुद नहीं चाहेंगे; आपको तो अमरता का वरदान है। आप बताइए कि आपको कैसे मारा जा सकता है?" भीष्म बताते हैं, "देखो द्रौपदी का जो बड़ा भाई है शिखंडी वो लड़की के रूप में पैदा हुआ था और उसको शल्य चिकित्सा से लड़का बनाया गया है; लेकिन मैं उसको लड़की ही मानता हूँ; मेरे आगे उसको खड़ा कर दो। मैं औरतों पर तीर नहीं चलाता और जब वह खड़ा हो जायेगा उसके बाद मेरे पूरे शरीर को तीर से तुम भेद देना।"

मैं प्रशिक्षण से एक समाजशास्त्री हूँ। एक बार मैं एक फील्ड वर्क के लिए मध्य प्रदेश गया था; जो आज छत्तीसगढ़ कहलाता है बस्तर जिले में।

वहाँ मैंने देखा कि एक आदिवासी व्यक्ति को साँप ने काट लिया। एक दूसरा पड़ोस का गाँव था; जहाँ उस व्यक्ति का जानी दुश्मन रहता था जो साँप का विष निकालने का सबसे बड़ा उस्ताद था पूरे बस्तर में; उसको कोई बुलाने नहीं गया। लोग सोचते थे कि वह नहीं आयेगा। लेकिन उसको किसी तरह पता लग गया कि उसके जानी दुश्मन को साँप ने काट लिया है तो वह बिना किसी के बुलाए आया और बोला, "तू मेरा दुश्मन है, तुझको मैं मारूँगा। साँप को क्या अधिकार है कि वह तुझे मार दे?" उसने अपने मुँह से उसके शरीर का सारा विष निकाल के पी गया और खुद मर गया। परम्परा और आधुनिकता में सबसे बड़ा अन्तर क्या है? आधुनिक लोग अच्छी जिन्दगी के पीछे भागते रहते हैं, जबकि पारम्परिक लोग अच्छी मौत के लिए जीते हैं। हमारे सैनिक आज भी इसका उदाहरण हैं। परम्परा में देखोगे कि चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सबसे बड़ा धर्म क्या है? अच्छी मृत्यु प्राप्त करना, जैसी रावण ने प्राप्त की थी। जब वह मरने वाला था तो राम ने विभीषण, लक्ष्मण और सुग्रीव से कहा था कि "राज धर्म सीखो उससे।"

इस तरह, राष्ट्रीय सुरक्षा अन्ततः नैतिक तरीकों से युद्ध और विजय के बारे में है। हमारे सुरक्षा अध्ययन के लिए किताबें (टेक्स्ट बुक) क्या हैं? महाभारत एक युद्ध नियमावली है और 'वाल्मीकि रामायण' भी एक युद्ध नियमावली है। जो चोल साम्राज्य है वह भी एक युद्ध नियमावली है; जो अहोम राज्य है वह भी युद्ध नियमावली रहा है। उनके युद्ध के शास्त्र को देखना चाहिए। कैसे वो अपने लोगों को बचाते हैं? युद्ध लड़ने के कई दर्शन है। हमारे यहाँ वाल्मीकि के 'रामायण' में, 'महाभारत' में और दुर्गा सप्तशती में भी युद्ध का दर्शन है। दुर्गा सप्तशती वैसे तो संक्षिप्त रूप में मिल जाती है लेकिन यदि बड़े रूप में पढ़ना चाहो तो 'मार्कंडेय पुराण' पढ़ना पड़ेगा। उसी तरह चीन में एक युद्ध की कला (आर्ट ऑफ वार) है और जर्मनी में युद्ध का दर्शन (फिलॉसफी ऑफ वार) है।

इस प्रकार, अपनी सभ्यता और संस्कृति को समझना और दूसरी समृद्ध सभ्यताओं से प्रेरणा लेना ही एकमात्र दीर्घकालिक समाधान है। भारतीय सभ्यता अपने-आप में एक समृद्ध सभ्यता है जिससे सीखना और उसे सँजोकर रखना ही भारतीय लोगों के हित में है। उसको सुनिश्चित करने के

लिए यह अनिवार्य है कि हम बाह्य व्याख्या और विचारों को सिरे से नकार दें और अपनी समृद्ध सभ्यता का स्वायत्त रूप में अध्ययन करें, जो हमें आत्मबल और शक्ति प्रदान करे। इसी प्रक्रिया से हम एक सुरक्षित और समृद्ध भारत का निर्माण कर सकते हैं जो कालजयी और अटूट होगा; जिसका समय काल अनन्त होगा और जिससे सभी मित्रवत सम्बन्ध रखना चाहेंगे। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने इन्हीं बातों पर बल दिया है।

राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न
और
हिन्द स्वराज्य

राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न और हिन्द स्वराज्य

भारत एक राष्ट्र है। राष्ट्र को ठीक-ठीक आंग्ल भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता। 'राष्ट्र' संस्कृत भाषा का शब्द है। यह एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा है। भू का मतलब भूगोल से ज्यादा 'देश' से है। 'देश-काल' वाला देश। देश माता त्रिपुरसुन्दरी का पार्थिव शरीर है। इसका विवरण तांत्रिक साहित्य और 'शिवपुराण' में आता है। भगवान शिव को महाकाल भी कहा जाता है। भगवान शिव शुद्ध चैतन्य के स्वरूप हैं। माता पार्वती उनकी शक्ति हैं। सनातन धर्म की बुनियाद देश-काल पर ही टिकी हुई है। देश का अर्थ माता त्रिपुरसुन्दरी का पार्थिव शरीर यानी माता पार्वती का सती के रूप में हवन कुण्ड में जला हुआ मृत शरीर और उस मृत शरीर को कन्धे पर लेकर भगवान शिव का तांडव करता हुआ महाकाल का डमरू नाद वाला काल। सांख्यदर्शन काल को 'पुरुष' और देश को 'शक्ति' कहता है।

महाभारत के अनुशासन पर्व के दानधर्म उपपर्व (अध्याय 13.1) में कहा गया है, "यह सारा जगत् काल का स्वरूप है। इस लोक में सारी प्रवृत्तियाँ, सारी निवृत्तियाँ और उन सबकी विकृतियाँ जो हैं, सब काल के रूप हैं। सूर्य, चन्द्र, विष्णु, वरुण, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पजेन्य, वसु, अदिति, नदियाँ, सागर, भाव और अभाव ये सब बार-बार काल के द्वारा सिरजे जाते हैं और काल के द्वारा हरे जाते हैं।"

इसी तरह, त्रिपुररहस्य ज्ञानकांड के अनुसार सारे ब्रह्मांड, सारे लोक और सारी सृष्टि भगवती त्रिपुरसुन्दरी की इच्छाशक्ति अथवा लीला तत्त्व का ही विस्तार है। त्रिपुरसुन्दरी ही कभी महाकाली, कभी महालक्ष्मी, कभी महासरस्वती और कभी दुर्गा के रूप में असुरों से, दैत्यों से, दानवों से, देवताओं, सृष्टि और धर्म की रक्षा करती हैं। धर्म वह है जो सृष्टि और जगत् को धारण करता है।

भारत अथवा हिन्दुस्तान का भूगोल तो बदलता रहा है लेकिन इसकी सनातन संस्कृति या काल बोध का वितान नहीं बदला है क्योंकि भूगोल या देश कालसापेक्ष है परन्तु काल देशसापेक्ष नहीं है। देश, देह और भूमि के आधार काल का डमरू नाद है। आधुनिक विज्ञान में सृष्टि की उत्पत्ति में नाद या साउंड या मंत्र विप्लव या परमाणुओं का विस्फोट एक नयी खोज है लेकिन भारतीय राष्ट्र में काल का डमरू नाद, रासलीला में बाँसुरी की धुन या वेदों में सरस्वती की वीणा की गूँज हमारे सांस्कृतिक त्योहारों के स्थायी भाव हैं।

आचार्य विनोबा भावे कहा करते थे कि हमारी राष्ट्रीय विरासत के केन्द्र में लोकग्रन्थ हैं—रामायण, भागवत और महाभारत। ये लोकग्रन्थ भारत के आधार हैं। वे यह भी कहते थे कि भारत कई दफा गिरा, कई दफा बँटा, फिर भी उसकी अपनी हस्ती कायम है। अगर रामकथा और कृष्णकथा न होती तो भारत एक राष्ट्र के रूप में छिन्न-विच्छिन्न हो जाता। उपनिषद्-गीता-ब्रहमसूत्र हमारे दार्शनिक आधार हैं, लेकिन आम जनता के लिए रामायण-महाभारत-भागवत ही आधार हैं। (विनोबा संचयिता, 2018, पृ. 128-129)

पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (1960/2015, पृ. 185-191) में प्राचीन भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का विवरण दिया है। उनके अनुसार भारत की पूर्वी सीमा चीन सागर था। इस सीमा के अन्तर्गत ब्रह्मदेश, जिसे आजकल बर्मा कहा जाता है, स्याम, रंगून आदि सम्मिलित थे। भारत की पश्चिमी सीमा लाल सागर, जिसे आजकल भूमध्य सागर कहा जाता है, तक फैली हुई थी। इस सीमा में वर्तमान पाकिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया और अरब प्रदेश भी शामिल था। इस प्रकार, पूर्वी चीन समुद्र से पश्चिम में लाल सागर तक के भू-भाग को भारत कहा जाता था। भारत की दक्षिणी सीमा कन्याकुमारी तक और उत्तरी सीमा हिमालय तक थी। हिमालय और विंध्याचल के मध्य और चीन सागर तथा लाल सागर के बीच के भू-भाग को आर्यावर्त और विंध्याचल से कन्याकुमारी के बीच के भू-भाग को दक्षिणावर्त कहा जाता था। आर्यावर्त में आर्यभाषा परिवार की भाषाएँ और दक्षिणावर्त में द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएँ बोली जाती थीं। लाल या भूमध्य सागर के उत्तर में तारस या तूरस या सिनाई पर्वत को पहले आदर्श पर्वत कहा जाता था। इसको अखंड भारत की

पश्चिमी सीमा माना जाता था। इस पर्वत के पश्चिम में, समुद्र के साथ लगा प्रदेश यवन देश था जिसे आजकल इजराइल और फिलिस्तीन कहा जाता है। यवन देश में यूनान या ग्रीस के अलावा भूमध्य सागर के पश्चिम के देश यहूदिया और कौण्डिया आदि को सम्मिलित रूप से यवन कहा जाता था। भारत की पूर्वी सीमा चीन सागर तक थी। चीन सागर के पूर्व में किरात जाति के लोग रहते थे। दूसरे शब्दों में, भारत की पश्चिमी सीमा को लाल या भूमध्य सागर, सिनाई पहाड़ और यवन जाति के प्रदेशों से और पूर्वी सीमा को चीन सागर और किरात जाति के प्रदेशों के बीच के लम्बे भू-भाग को 'मनुस्मृति', 'महाभाष्य', 'मत्स्य पुराण', 'मार्केंडेय पुराण' के सन्दर्भों के आधार पर पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी प्राचीन, पारम्परिक या अखंड भारत कहते हैं।

'पद्मपुराण', 'मत्स्यपुराण' और 'सूर्य सिद्धान्त' के आधार पर पंडित चतुर्वेदी कहते हैं कि लंका और सुमेरु को स्पर्श करती हुई जो रेखा है, उसको भारतवर्ष की मध्य रेखा कहते हैं। इस रेखा के पूर्व के पैंतालीस अंश और पश्चिम के पैंतालीस अंशों से व्याप्त जो भू-भाग है वह भारतवर्ष है। भारतवर्ष से नब्बे अंश पूर्व में भद्राश्व वर्ष है और भद्राश्व से नब्बे अंश उत्तर की ओर उत्तर कुरु वर्ष है। उसके उतने ही अंश बाद केतुमाल वर्ष स्थित है। यानी पूरी पृथ्वी को 360 अंश का मानें तो पृथ्वी पर 90-90 अंशों के चार वर्ष माने गये हैं—भारतवर्ष, केतुमाल वर्ष, भद्राश्व वर्ष और उत्तर कुरु वर्ष। यह भूगोल कॉन्टीनेंटल ड्रिफ्ट से पहले का, समुद्र मन्थन के समय का पारम्परिक भूगोल है।

भारतवर्ष के 9 उपद्वीप पुराणों में प्रसिद्ध हैं—(1) इन्द्रद्वीप, (2) नागद्वीप, (3) सौम्यद्वीप, (4) गन्धर्वद्वीप, (5) वरुणद्वीप, (6) कशेरुमान, (7) गभस्तिमान, (8) ताम्रपर्ण-सिंघल और (9) कुमारिका। आजकल इन्द्रद्वीप को अंडमान, नागद्वीप को निकोबार, सौम्यद्वीप को यवाद्वीप, गन्धर्वद्वीप को फिलापाइ द्वीप-संघ, वरुणद्वीप को बोर्नियो, कशेरुमान को कसेरु, गभस्तिमान को मालुका, ताम्रपर्ण-सिंघल को सीलोन या श्रीलंका और कुमारिका को कुमारी कहते हैं।

ऋग्वेद के मंडल 10 के सूक्त 86 में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि के बारे में प्रत्यक्ष उल्लेख तो नहीं मिलता है क्योंकि वैदिक परम्परा मूलत: श्रुति परम्परा है। फिर भी कुछ विद्वान इस सूक्त की प्रतीकात्मक और संकेतात्मक व्याख्या

के आधार पर वैदिक ध्वनि परम्परा और उत्तरकालीन लिपियों के उद्भव के बीच एक दार्शनिक सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं। ब्राह्मी भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे पुरानी लिपि में एक है और बायें से दायें लिखी जाती है, जबकि खरोष्ठी लिपि का विकास उत्तर पश्चिम भारत और गांधार क्षेत्र में हुआ और इस पर अरामी लिपि का प्रभाव है। यह दायें से बायें लिखी जाती है। जरथुस्त्र ने अवेस्ता भाषा और लिपि के साथ-साथ जेंद अवेस्ता नामक ग्रन्थ की रचना की जो पर्सिया अथवा ईरान का पारम्परिक धर्मग्रन्थ माना जाता है। इस्लाम के आगमन से पहले सारे पर्सिया के लोग जेंद अवेस्ता को ही अपना धर्मग्रन्थ मानते थे। आज पर्सिया में शिया सम्प्रदाय को मानने वाले मुस्लिम बहुसंख्यक हैं और जेंद अवेस्ता को मानने वाले जरथुस्त्र के ज्यादातर अनुयायी भारत और पश्चिमी देशों में अल्पसंख्यक के रूप में रहते हैं। लेकिन ईरान जैसे देशों ने धर्मान्तरण के बावजूद खरोष्टी लिपि को नहीं छोड़ा।

वैदिक साहित्य में जेंद अवेस्ता और खरोष्टी लिपि को मानने, लिखने और बोलने वालों को असुर और ब्राह्मी लिपि, वेद को मानने वालों को देव या सुर कहा जाता है और असुर का प्रयोग बाद में नकारात्मक अर्थ में होने लगा वहीं जेंद अवेस्ता में अहुर सर्वोच्च शक्ति है और देव को नकारात्मक माना गया है। इस सन्दर्भ को समझे बिना देवासुर संग्राम को 'अच्छा' या 'बुरा' अर्थात् 'गुड' और 'इविल' का संग्राम मानना उतना ही गलत होगा। वास्तव में यह एक ही मूल के दो समुदायों के बीच वैचारिक और भौगोलिक भिन्नता का परिणाम था। संस्कृत, फारसी, ग्रीक और लैटिन एक ही भाषा परिवार और एक ही वैदिक विश्वदृष्टि से जुड़ी हुई अलग-अलग परिस्थिति में विकसित हुई इंडो-आर्यन भाषा परिवार की भाषाएँ हैं। संस्कृत का 'सिन्धु' शब्द फारसी लिपि और भाषा में 'हिन्दू' और ग्रीक में 'इन्दु' बन जाता है। भाषाओं का सम्बन्ध भू-सांस्कृतिक विश्वदृष्टि और सभ्यता-मूलक अभिव्यक्ति से है न कि धार्मिक सम्प्रदायों के मूल विश्वास से।

इसी तरह जरथुस्त्र ने परम्परा से देवराज इन्द्र की प्रधानता या सर्वोच्चता को अस्वीकार कर दिया और इन्द्र के स्थान पर अहुर मज्दा (वरुण के समकक्ष) को प्रतिष्ठित किया। इस वैचारिक भिन्नता के कारण ऋषियों के दो पक्ष हो गये। उपस्थित ऋषियों में नृमेधा, हिरण्यस्तूप, वामदेव, गार्ग्य आदि ने

इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण, कण्व, भरद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष लिया। वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों को समान माना। इस विचार-संघर्ष के समाधान के लिए मनुष्यावतारधारी प्रजापति ब्रह्मा ने भारत के दो विभाग कर दिये। सिन्धु नदी के पश्चिम का भू-भाग वरुण को सर्वोच्च मानने वाले जरथुस्त्र के समर्थकों को दे दिया तथा सिन्धु नदी से पूर्व का भू-भाग इन्द्र को सर्वोच्च मानने वालों को। इस तरह जैसे विंध्याचल पहाड़ को उत्तर और दक्षिण भारत का मध्य माना जाता है, उसी तरह सिन्धु नदी को पूर्वी और पश्चिमी भारत का मध्य माना जाता है। पूर्वी और पश्चिमी भारत के लोग आर्यभाषा परिवार के सनातन धर्म और संस्कृति को मानते रहे हैं। जबकि उत्तर भारत के बड़े भू-भाग के लोगों की भाषाएँ आर्य और मुंडारी भाषा परिवार के सनातन धर्म और संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन करती रही हैं। इसके विपरीत दक्षिण भारत के विशाल भू-भाग में द्रविड़ भाषा परिवार का संरक्षण और संवर्धन होता रहा है। दुर्भाग्य से सिकंदर के आक्रमण (326 BCE) के दौरान महान तक्षशिला विश्वविद्यालय का ध्वंस हो गया और मुहम्मद गोरी के आक्रमण और पृथ्वीराज चौहान के कुछ समय बाद कुतबुद्दीन ऐबक और उसके उत्तराधिकारी अल्तमस (इल्तुतमिश) के सेनापति बख्तियार खिलजी ने नालंदा विश्वविद्यालय को ध्वंस करके उसकी लाइब्रेरी को 3 माह तक धीरे-धीरे जलने के लिए छोड़ दिया। 1197 ईसवी में नालंदा विश्वविद्यालय के ध्वंस के बाद भारत में उच्च शिक्षा और शोध के क्षेत्र में गुणात्मक रूप से ह्रास हुआ जबकि बुनियादी शिक्षा और व्यावहारिक प्रशिक्षण का संकुल भारत में अंग्रेजी राज (ईस्ट इंडिया कम्पनी के तीसरे गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था) के परमानेंट सेटलमेंट 1793 तक जारी रहा। फलस्वरूप राजनीतिक उथल-पुथल और उच्च शिक्षा के दमन के बावजूद भारत में व्यावसायिक उद्यम और आर्थिक उपलब्धियों की कमी नहीं रही। अठारहवीं शताब्दी तक भारत और चीन दुनिया की अर्थ-व्यवस्था में तकरीबन दो-तिहाई (70 से 75 प्रतिशत) योगदान किया करते थे। वैश्विक साहित्य में इस योगदान का सबसे डॉक्यूमेंटेड विश्लेषण जर्मन मूल के समाज विज्ञानी आंद्रे गुंडर फ्रैंक ने अपनी दो पुस्तकों ('री-ओरिएंट' और 'री-ओरिऐंटिंग नाइनटींथ सेंचुरी' में) और प्रसिद्ध गांधीवादी विद्वान धर्मपाल ने लन्दन अभिलेखागार से प्राप्त दस्तावेजों के आधार पर 1971 से

1983 के बीच भारतीय पाठकों को उपलब्ध करवाया। उनकी सबसे प्रसिद्ध किताब 1983 में प्रकाशित 'द ब्यूटीफुल ट्री : इंडीजिनस इंडियन एजुकेशन इन द एटीन्थ सेंचुरी' मानी जाती है। हालाँकि 1971 से 2003 के बीच प्रकाशित अन्य पुस्तकें भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। 2022 में उनके शताब्दी वर्ष के दौरान धर्मपाल की पुत्री गीता धर्मपाल ने उनकी सभी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं को नयी प्रस्तावना के साथ प्रकाशित कराकर पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए उपलब्ध करवाया है।

1848-1856 के बीच भारत का गवर्नर जनरल डलहौजी था। अंग्रेजी राज के दौरान लागू किये गये 3 कानून सबसे विध्वंसकारी साबित हुए— (1) परमानेंट सेटलमेंट (स्थायी बन्दोबस्त), (2) अंग्रेजी शिक्षा और (3) गोद लेने के अधिकार को अवैध बताने वाला डॉक्टरीन ऑफ लैप्स।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स (निदेशकों) ने 1934 में भारतीय समाज में प्रचलित और प्रतिष्ठित गोद लेने के अधिकार को अवैध साबित करने का निर्णय लिया। इसे लागू करने के लिए कुटिल और शातिर अंग्रेज लॉर्ड डलहौजी को भारत में ईस्ट इंडिया का गवर्नर जनरल बनाकर भारत की राजधानी कलकत्ता भेजा गया। 1848 से 1856 के बीच डलहौजी ने बहुत चालाकी से इसे लागू किया, जिससे लगा कि यह कानून केवल उन राजाओं के एक छोटे से वर्ग पर लागू होगा जिनका अपनी वैध पत्नी से वैध वारिस नहीं है, या जो अपनी पत्नी से ज्यादा अपने रखैलों से प्यार करते थे और उन रखैलों से बच्चे भी थे अथवा जो नपुंसक थे। जबकि इस कानून का प्रभाव दूरगामी और भारतीय समाज व्यवस्था की चूलें हिलाने वाला साबित हुआ। ऊपरी तौर पर इस कानून के इस्तेमाल से सतारा (1848), जैतपुर सम्भलपुर (1849), बघाट (1850), उदयपुर-छत्तीसगढ़ (1852), झाँसी (1854), नागपुर (1854), तंजौर एवं एरकोट (1855), अवध (1856) जैसी कुछ देसी रियासतों का वैध उत्तराधिकारी नहीं होने के कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अधिग्रहण कर लिया।

अंग्रेजी राज ने भारतीय समाज की जड़ों को खोदने के लिए हमारे पारम्परिक कानूनों को निरस्त करके नये कानून बनाये। उनके तीन कानूनों ने हमारी विश्वदृष्टि, जीवन दृष्टि और समाज दृष्टि में संरचनात्मक परिवर्तन करके हमें अपने ही देश में अजनबी बना दिया। यदि भारतीय चेतना से हमारे

सांस्कृतिक व लोकग्रन्थ एवं मूल विचार तिरोहित हो गये तो एक राष्ट्र के रूप में भारत समाप्त हो जायेगा, हमारी स्वायत्तता मिट जायेगी। 'राष्ट्र' सभ्यता, संस्कृति और संस्कारों के सृजन, संरक्षण और संवर्धन की यज्ञशाला है जो देश अथवा भूमि और काल यानी समय के संयोग से बनती है।

आज का (इक्कीसवीं सदी) खंडित भारत भी एक राष्ट्र ही है—राष्ट्र यानी आज की कामचलाऊ भाषा में सभ्यता-मूलक राष्ट्र-राज्य अथवा सिविलाइजेशनल नेशन-स्टेट। किसी भी सिविलाइजेशनल नेशन-स्टेट की रक्षा के लिए 'शस्त्र' के साथ 'शास्त्र' भी चाहिए। सभ्यता-मूलक राष्ट्र-राज्य के चार अवयव होते हैं—(1) सिविल सोसाइटी अथवा प्रजा, (2) मिलिट्री सोसाइटी अथवा क्षत्रिय वर्ग, (3) स्टेट अथवा राज्य-व्यवस्था और (4) बाजार अथवा वैश्यों की स्वायत्त दुनिया। भारत में आधुनिक बाजार का विकास 1991 में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव द्वारा अन्तरराष्ट्रीय दबाव में किया गया था। इस दबाव को समझने के लिए पारम्परिक भारत और आधुनिक विश्व-व्यवस्था के जटिल ऐतिहासिक सम्बन्धों के बहुआयामी स्वरूप को समझना आवश्यक है।

भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा : प्राचीन काल से आधुनिक युग तक

राष्ट्रीय सुरक्षा अपना मूलभूत स्वरूप प्राप्त करने के लिए भूगोल, इतिहास, संस्कृति, सभ्यता आदि द्वारा प्रभावित और गठित होती है। प्रत्येक राष्ट्र और सभ्यता में राष्ट्रीय सुरक्षा का विकास एक अलग अवधारणा के रूप में होता है। अगर हम भारतीय सन्दर्भ में देखें तो इसे सबसे व्यापक तरीके से परिभाषित किया गया है।

राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में, पश्चिमी वेस्टफेलियन (जो अधिकतर क्षेत्र और सीमा सुरक्षा पर केन्द्रित है) परिभाषा और समझ के विपरीत, भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा व्यापक और समग्र विचारों को समाहित करती है। यह अक्सर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भू-राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक विकास का उत्पाद मानी जाती है। हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा की समझ बहुत हद तक सभ्यतागत घटना पर आधारित है। यह सभ्यतागत दृष्टिकोण समग्रता का प्रतीक है, जिसमें न केवल राज्य की भौतिक सुरक्षा शामिल है, बल्कि सामाजिक कल्याण, धार्मिकता और सभ्यतागत पहचान का संरक्षण और संवर्धन भी शामिल है। राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति यह समझ प्राचीन काल से निरन्तर चली आ रही है, जिसे मुख्य रूप से 'धर्म' शब्द के साथ निरूपित किया जाता है। (परांजपे, 2016)।

राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा प्राचीन विचारधारा, दर्शन और धर्मों में निहित है। भारत में यह लम्बे समय तक विकसित हुई है, जिसमें समय और सत्ता व राजनीति की बदलती गतिशीलता शामिल है। इस अर्थ में, भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा का दृष्टिकोण सिर्फ बाहरी आक्रमण से सुरक्षा तक सीमित नहीं

है, बल्कि इसमें इसकी रणनीतिक संस्कृति, इतिहास, परम्परा, दर्शन इत्यादि पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस सन्दर्भ में, विभिन्न भारतीय धर्मों का राष्ट्रीय सुरक्षा पर अलग-अलग दृष्टिकोण है।

राष्ट्रीय सुरक्षा पर धार्मिक दृष्टिकोण

हिन्दू धर्म 'धर्म' (राज्य की रक्षा का कर्तव्य), अहिंसा (अहिंसक, लेकिन रक्षात्मक हिंसा की अनुमति) और कौटिल्य के राज्य-कौशल (राजमंडल) में विश्वास करता है। यह धर्मयुद्ध, कूटनीति और आर्थिक शक्ति को जोड़ता है। सिख धर्म मीरी-पीरी (आध्यात्मिक-लौकिक सन्तुलन), सन्त-सिपाही (सन्त-सैनिक) और सेवा (सामाजिक सेवा) में विश्वास करता है। यह युद्ध की तैयारी और मानवीय सहायता पर जोर देता है। बौद्ध धर्म अहिंसा (अहिंसक, रक्षात्मक अपवादों के साथ), अनुराग (करुणा) और मध्यम मार्ग (मध्य पथ) और सन्तुलित शासन में विश्वास करता है। यह कूटनीति और सौम्य शक्ति को प्राथमिकता देता है। जैन धर्म अहिंसा (कठोर अहिंसा), अनेकांतवाद (बहु दृष्टिकोण) और अपरिग्रह (असंग्रह) में विश्वास करता है। यह अहिंसक रक्षा, कूटनीति, आर्थिक स्थिरता और सामाजिक सद्भाव की वकालत करता है।

धार्मिक दृष्टिकोणों से परे, श्रीकांत परांजपे ने अपनी पुस्तक 'इंडिया'ज स्ट्रैटेजिक कल्चर : द मेकिंग ऑफ नेशनल सिक्योरिटी पॉलिसी' (2016) में भारत के रणनीतिक विचार और दर्शन को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान किया है। यह प्राचीन भारत से लेकर 21वीं सदी की आधुनिक जटिलताओं तक राष्ट्रीय सुरक्षा के बारे में एक पड़ताल है।

राष्ट्रीय सुरक्षा पर कौटिल्य की राय और प्राचीन बुद्धिमत्ता

भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा और राज्य-कौशल पर सबसे प्राचीन कार्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पाया जाता है। यह एक उत्कृष्ट रचना है जो राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था और सैन्य रणनीति पर केन्द्रित है। जैसा कि परांजपे का कहना है, "कौटिल्य का कार्य न केवल शासकों के लिए मार्गदर्शन देता है, बल्कि यह राज्य की शक्ति के संरक्षण और विस्तार के लिए एक पूर्ण ढाँचा और संरचना भी प्रदान करता है।" इसमें सुरक्षा का पहलू केन्द्रबिन्दु रहा है।

कौटिल्य की राज्य की अवधारणा केवल क्षेत्रीय सुरक्षा की बात नहीं करती है, बल्कि इसमें नागरिकों का कल्याण, आर्थिक समृद्धि, आन्तरिक स्थिरता आदि भी शामिल हैं। इस अध्याय में राष्ट्रीय सुरक्षा के कुछ परिभाषित तत्त्वों पर विस्तार से चर्चा की गयी है। आइए, इन्हें एक-एक करके देखने का प्रयास करते हैं।

राजमंडल (राज्यों का समूह) : यह एक भू-राजनीतिक सिद्धान्त है जो पड़ोस और उससे परे राज्य की स्थिति को सुरक्षित करने के लिए गठबन्धनों और प्रति-गठबन्धनों के महत्त्व पर जोर देता है। यह अवधारणा क्षेत्रीय शक्ति और इसकी गतिशीलता की व्यापक समझ पर बल देती है।

सप्तांग सिद्धान्त (राज्य के सात तत्त्व) : यह सिद्धान्त राज्य शक्ति के घटकों का व्यवस्थित वर्गीकरण करता है। यह प्रत्येक तत्त्व को परस्पर जुड़ा हुआ मानता है और राष्ट्रीय शक्ति की व्यापक समझ के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके सात तत्त्व हैं—राजा (स्वामी), मंत्री (अमात्य), देश/क्षेत्र (जनपद), किला (दुर्ग), कोष (खजाना), सेना (दंड) और मित्र (सहयोगी)। यहाँ राजा मुखिया है जो अन्य छह अंगों का मार्गदर्शन करता है। दुर्ग (किला) घटक पर मजबूत रक्षा और सुरक्षा बुनियादी ढाँचे के रूप में जोर दिया गया है। कोष आर्थिक शक्ति है दंड को सैन्य शक्ति और मित्र को विदेशी सहायता माना जाता है।

षड्गुण्य (विदेश नीति के छह उपाय) : इसमें शान्ति (सन्धि), युद्ध (विग्रह), मार्च (धावा), ठहराव (आसन), संरक्षण की माँग (संश्रय) और दोहरी नीति (द्वैधीभाव) शामिल हैं। ये सभी रणनीतियाँ सहयोगियों और अन्य राज्यों के साथ गतिशील ढाँचे के लिए रास्ता बनाती हैं जो राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदर्शित करता है।

कोष और गूढ़पुरुष (खजाना और जासूसी) : ये तत्त्व कौटिल्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं; उन्होंने सैन्य गतिविधियों को समर्थन देने और वित्तपोषित करने के लिए मजबूत अर्थ-व्यवस्था (कोष) और जासूसों के मजबूत जाल अथवा नेटवर्क (गूढ़पुरुष) के महत्त्व पर जोर दिया, ताकि खुफिया जानकारी एकत्र की जा सके और विरोधियों को आन्तरिक रूप से अस्थिर करके हराया जा सके।

उपायास (कूटनीति के चार साधन) : ये सभी राज्य के उद्देश्यों को

प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक रणनीतियाँ हैं। ये हैं—साम (सुलह और कूटनीति), दाम (उपहार और आर्थिक प्रोत्साहन या रिश्वत), दंड (बल और सजा) और भेद (विभाजन और शासन)।

दार्शनिक आधार : अहिंसा और धर्म युद्ध

कौटिल्य से परे, प्राचीन भारतीय बुद्धिमत्ता, महाकाव्य और दार्शनिक परम्पराएँ भी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए व्यापक चिन्तन को प्रस्तुत करती हैं। धर्म (धार्मिक आचरण) और न्याय (इंसाफ) की धारणा किसी भी राज्य की स्थिरता और वैधता के लिए महत्त्वपूर्ण है। एक न्यायपूर्ण शासक से अपेक्षा की जाती है कि वह धर्म का पालन करे और राज्य की समृद्धि और सुरक्षा सुनिश्चित करे। यह सुरक्षा का नैतिक और मौलिक आयाम है जो केवल सैन्य शक्ति और रणनीति तक सीमित नहीं है। इसलिए, राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण न केवल सैन्य शक्ति के बारे में था, बल्कि इसमें शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्त भी शामिल थे। मौर्य सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद युद्ध का त्याग कर दिया। यह उदाहरण आधुनिक समय में भी शान्तिपूर्ण सुरक्षा रणनीतियों को प्रेरित करता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा से परे, अहिंसा (अहिंसक) की अवधारणा हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और कई अन्य धर्मों में साझा एक बहुत ही मूलभूत धार्मिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त है। संस्कृत वाक्यांश 'अहिंसा परमो धर्म' (अहिंसा सर्वोच्च नैतिक गुण है) हमारे हिन्दू महाकाव्यों जैसे महाभारत में चित्रित है। 'महाभारत' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' आत्मरक्षा या युद्ध की आवश्यकता वाली परिस्थितियों में अहिंसा के अनुप्रयोग पर विस्तार से चर्चा करते हैं; यह 'न्यायपूर्ण युद्ध' सिद्धान्तों या धर्म युद्ध के विकास की ओर ले जाता है।

धर्म युद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार, युद्ध अन्तिम उपाय होना चाहिए। इसे केवल सम्बन्धित पक्षों के साथ सच्चे और ईमानदार संवाद को समाप्त करने के बाद ही अपनाया जाना चाहिए। यदि युद्ध अपरिहार्य हो जाता है, तो इसका कारण उचित होना चाहिए, इसका उद्देश्य पुण्य होना चाहिए और अन्ततः इसका तरीका वैध होना चाहिए। एक उचित और वैध युद्ध को वैध प्राधिकारी द्वारा शुरू और समाप्त किया जाना चाहिए। इसके अलावा, हथियार भी आनुपातिक होने चाहिए और इन्हें अंधाधुंध विनाश के साधन के

रूप में उपयोग नहीं किया जाना चाहिए, जिससे और अधिक अराजकता पैदा हो सकती है। युद्ध के नियमों के अनुसार, युद्ध के दौरान क्रूरता और यातना निषिद्ध हैं। घायल और निहत्थे योद्धाओं के साथ-साथ बच्चों, महिलाओं और नागरिकों की रक्षा किसी भी कीमत पर की जानी चाहिए और उनके साथ अत्यन्त सावधानी से व्यवहार किया जाना चाहिए। इसके अलावा, युद्ध के दौरान भी शान्ति के लिए संवाद जारी रहना चाहिए। आनुपातिक प्रतिक्रिया का नियम स्वयं 'अर्थशास्त्र' में पाया जाता है। यह आनुपातिक प्रतिक्रिया और सजा के महत्त्व पर चर्चा करता है, जो इन व्यापक नैतिक मापदंडों और विचारों के साथ रेखांकित होते हैं। प्राचीन भारतीय विचार में यह कौटिल्य के यथार्थवाद को अहिंसा की नैतिक बाधाओं के साथ सन्तुलित करता है। इसके अतिरिक्त, यह भारतीय उपमहाद्वीप में एक व्यापक और बहुस्तरीय दार्शनिक परम्परा को उजागर करता है। इसके अलावा, यह सुझाव देता है कि एक बहुत ही आक्रामक राज्य-कौशल को आदर्श रूप से नैतिक विचारों द्वारा नियंत्रित किया जाता था। यह एक व्यापक ढाँचा प्रदान करता है जो धर्म द्वारा बाधित है। कठोर और सौम्य शक्ति के बीच यह ऐतिहासिक सन्तुलन भारत की स्वतन्त्रता के बाद की विदेश नीति को समझाने में मदद करता है। यह आज के व्यावहारिक सुरक्षा हितों के साथ अहिंसा और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसे आदर्शवादी सिद्धान्तों में बहुत अधिक परिलक्षित होता है (रंगराजन, 2024)।

मध्यकालीन भारत में विद्यारण्य और राष्ट्रीय सुरक्षा

मध्यकालीन युग के प्रमुख विचारकों और आध्यात्मिक नेताओं में से एक विद्यारण्य थे। वे 14वीं सदी के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे जिनके आध्यात्मिक और राजनीतिक योगदानों ने मध्यकालीन भारत, विशेष रूप से दक्कन, को आकार दिया। श्रृंगेरी शारदा पीठम के जगद्गुरु (लगभग 1374-1386 ई.) के रूप में वे अद्वैत वेदान्त पर अपने दार्शनिक कार्यों और विजयनगर साम्राज्य (1336-1646 ई.) की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए प्रसिद्ध हैं। मुख्य रूप से वे एक आध्यात्मिक नेता थे, लेकिन इस्लामी आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए एक हिन्दू साम्राज्य की स्थापना में उनकी रणनीतिक भागीदारी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण को दर्शाती है,

जो धर्म (धार्मिकता) और सांस्कृतिक संरक्षण में निहित है। विद्यारण्य का कालखंड दक्षिण भारत में निरन्तर अशान्ति और अस्थिरता का दौर था। यह दौर होयसाल, काकतीय और यादव जैसे हिन्दू राज्यों के पतन और दिल्ली सल्तनत के विस्तार द्वारा चिह्नित था। (जैक्सन, 1999) लगभग 1296 ई. में तक्ष नगर (वर्तमान वारंगल) में जन्मे विद्यारण्य को परम्परागत रूप से हरिहर राय प्रथम और बुक्का राय प्रथम, जो दिल्ली सल्तनत के पूर्व अधिकारी थे, को विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के लिए मार्गदर्शन देने का श्रेय दिया जाता है। (हिन्दूपोस्ट, 2021) ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार, ये भाई, जो मूल रूप से मुहम्मद बिन तुगलक के अधीन इस्लाम में परिवर्तित हो गये थे, विद्यारण्य के प्रभाव में पुनः हिन्दू धर्म में लौटे और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत की रक्षा के लिए 'धर्म राज्य' की स्थापना के लिए प्रेरित हुए। (श्रृंगेरी शारदा पीठम, 2025)

राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में विद्यारण्य की दृष्टि सैन्य रक्षा से परे थी और इसमें सांस्कृतिक और वैचारिक एकता भी शामिल थी। उन्होंने विजयनगर साम्राज्य को दिल्ली सल्तनत के अतिक्रमणों के खिलाफ एक रक्षा कवच के रूप में देखा, जो हिन्दू परम्पराओं और राजनीतिक स्वायत्तता के लिए खतरा थे। (थापर, 1990) साम्राज्य की राजधानी के रूप में तुंगभद्रा नदी पर स्थित हम्पी का उनका रणनीतिक चयन आध्यात्मिक महत्त्व के साथ रक्षात्मक महत्त्व को भी जोड़ता था। यह सुरक्षा के लिए एक समग्र दृष्टिकोण को दर्शाता है। (मिशेल और जेब्रोव्स्की, 1999) साम्राज्य के किले, मन्दिर और प्रशासनिक संरचनाएँ लौकिक शक्ति और आध्यात्मिकता दोनों का प्रतीक थीं। और इस तरह विविध समुदायों के बीच एकता को बढ़ावा मिला। (ईटन, 2005)

'सर्वदर्शन' संग्रह लिखने का श्रेय विद्यारण्य को जाता है और यह अद्वैत वेदान्त की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों की आलोचना करता है। (अली, 2004) उनका यह बौद्धिक प्रयास उनकी वैचारिक स्पष्टता के प्रति लगन को दर्शाता है, जो बाहरी खतरों का मुकाबला करने के लिए एक साझा हिन्दू पहचान के तहत विविध समूहों को एकजुट करने के उनके प्रयासों के समानान्तर है। (हिन्दूपोस्ट, 2021) एक सुसंगत सांस्कृतिक कथा को पोषित करके, विद्यारण्य ने विजयनगर साम्राज्य की

वैचारिक नींव को मजबूत किया, जो धार्मिक और राजनीतिक विखंडन के दौर में राष्ट्रीय सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू था। (स्टीन, 2010) विद्यारण्य का राष्ट्रीय सुरक्षा में योगदान व्यावहारिक और बहुआयामी था, जिसमें आध्यात्मिक नेतृत्व और राजनीतिक रणनीति का मिश्रण था।

हरिहर और बुक्का को पुन: हिन्दू धर्म में लाने और विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रेरित करने में विद्यारण्य का मार्गदर्शन इस्लामी आक्रमणों के खिलाफ हिन्दू प्रतिरोध को मजबूत करने की एक रणनीतिक चाल थी। (श्रृंगेरी शारदा पीठम, 2025) यह साम्राज्य तीन शताब्दियों से अधिक समय तक दक्षिण भारत के लिए धर्म का रक्षक बना रहा। (ईटन, 2005) एक मंत्री और सलाहकार के रूप में, विद्यारण्य ने यह सुनिश्चित किया कि शासन न्याय और सांस्कृतिक संरक्षण के सिद्धान्तों के साथ संचालित हो। (हिन्दूपोस्ट, 2021) विद्यारण्य ने हम्पी को राजधानी के रूप में चुना और किलों (जैसे अनेगुंडी और विजयनगर में) के निर्माण को प्रोत्साहित किया। यह रक्षात्मक रणनीति की गहरी समझ को दर्शाता है। (मिशेल और जेब्रोव्स्की, 1999) विजयनगर का किलायुक्त शहर घेराबंदी का सामना करने और शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए बनाया गया था, जिसने क्षेत्रीय सुरक्षा सुनिश्चित की। (राधिका, 2025)

विद्यारण्य ने वेदान्तिक शिक्षाओं को प्रसारित करने और सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ करने के लिए पूरे भारत में अनेक मठ स्थापित किये। (श्रृंगेरी शारदा पीठम, 2025) यह एकता विविध समुदायों को एकजुट करने के लिए महत्त्वपूर्ण थी, जैसा कि विजयनगर साम्राज्य के क्षेत्रीय समूहों के एकीकरण में देखा गया। (ईटन, 2005) उनका धर्म-आधारित शासन पर जोर राष्ट्रीय सुरक्षा के एक स्तम्भ के रूप में सामाजिक एकता की आधुनिक अवधारणाओं को दर्शाता है। विद्यारण्य की अगुवाई में कूटनीतिक रणनीतियाँ शामिल थीं। उदाहरण के लिए, प्रजा से समर्थन जुटाने के लिए वराह जैसे हिन्दू प्रतीकों का उपयोग करना। (अली, 2004) उनके बौद्धिक कार्यों ने धार्मिक शासन के लिए दार्शनिक आधार प्रदान किया, जिसने साम्राज्य की वैधता और लचीलेपन को मजबूत किया। (स्टीन, 2010) राष्ट्रीय सुरक्षा पर विचार विद्यारण्य के मध्यकालीन भारतीय रक्षा रणनीतियों के साथ रेखांकित होते हैं, जैसा कि समकालीन उदाहरणों में देखा गया।

उदाहरण के लिए कुतुबशाही वंश ने मराठा विस्तार के प्रति जवाब में किलेबंदी, सैन्य पुनर्गठन और कूटनीतिक गठबन्धनों को शामिल किया था जो विद्यारण्य की रणनीति के समान एक व्यावहारिक दृष्टिकोण को दर्शाता है। इसी तरह, मुगल सेना का उन्नत हथियारों और मनसबदारी प्रणाली के तहत केन्द्रीकृत प्रशासन का उपयोग विद्यारण्य के रणनीतिक संगठन पर जोर को दर्शाता है। (वैया, 2024) हालाँकि, विद्यारण्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का एकीकरण, धर्म को एक एकजुट शक्ति के रूप में उपयोग करना, अद्वितीय और प्रभावी था, विशेष रूप से इस्लामी खतरों के खिलाफ लचीलेपन को बढ़ावा देने में।

भारतीय उपमहाद्वीप ने लगातार आक्रमणों और नये साम्राज्यों की स्थापना का सामना किया। (शहनाज, 2021) इस युग में सुरक्षा की अवधारणा अक्सर क्षेत्र की धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान के साथ जुड़ी हुई थी। शासक अपने क्षेत्रों को बाहरी आक्रमणों और आक्रामकता से बचाने की कोशिश करते थे। नयी सैन्य प्रौद्योगिकियों, विशेष रूप से घुड़सवार सेना और तोपखाने में प्रगति और नवाचार ने भी रणनीतिक सोच और योजना को प्रभावित किया। विखंडन और निरन्तर युद्ध के बावजूद, सुरक्षा के कुछ मुख्य प्रयोग बरकरार रहे। रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण कुछ चीजें थीं जैसे किलेबंदी, गठबन्धन और निश्चित रूप से योद्धाओं का साहस। उदाहरण के लिए, मराठा शक्ति का उदय एक अद्वितीय रणनीतिक संस्कृति को प्रदर्शित करता है, जिसमें गोरिल्ला युद्ध, तेज रफ्तार सेना और इलाके की गहरी समझ पर जोर दिया गया। इसने मराठा शक्ति को बहुत बड़े साम्राज्यों और क्षेत्रों को चुनौती देने के काबिल बना दिया। (उमरानीकर, 2024)

मध्यकालीन भारत के विखंडित होते राज्यों में सुरक्षा

उत्तरी भारत का मध्यकालीन इतिहास अक्सर 'संघर्ष का युग' के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह बड़े राज्यों के विखंडन और विघटन द्वारा चिह्नित था। उदाहरण के लिए, राष्ट्रकूट, पाल और प्रतिहारों के बीच त्रिपक्षीय शक्ति संघर्ष और कई अन्य छोटे शत्रुतापूर्ण राज्य। इन सभी राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और आन्तरिक संघर्ष और अन्तरकुल प्रतिद्वंद्विता ने इन सभी राज्यों को अस्थिर कर दिया। अनुशासन और एक सुसंगत रक्षा बल

को बनाये रखना काफी चुनौतीपूर्ण कार्य था। कमजोर राज्य और केन्द्रीय प्राधिकरण अक्सर क्षेत्र में शक्तिशाली सामन्तों को नियंत्रित करने में असफल रहे। इससे क्षेत्र का और विखंडन हुआ और राजनीतिक अस्थिरता का एक चक्रीय स्वरूप देखने को मिला। (टाइममैप्स, 2025) इन राज्यों की अशान्त प्रकृति ने उन्हें निरन्तर बाहरी आक्रमणों के प्रति संवेदनशील बना दिया। उदाहरण के लिए, राजपूत राज्य 11वीं और 12वीं शताब्दियों में महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के हमलों के खिलाफ एकजुट होने में असफल रहे। इसके अलावा, 13वीं और 14वीं शताब्दियों में मंगोल आक्रमणों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र की कमजोरी को उजागर किया। इन घुसपैठों ने दिल्ली सल्तनत को अपनी शक्ति को केन्द्रीकृत और एकजुट करने और अपनी सैन्य ताकत को मजबूत करने के लिए मजबूर किया। इसने प्रदर्शित किया कि बाहरी बल और दबाव अक्सर आन्तरिक शक्ति और ताकत के एकीकरण के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते थे। (नुरुमी, 2025) यह ऐतिहासिक पैटर्न क्षेत्रीय एकता और मजबूत केन्द्रीकृत शासन के स्थायी महत्त्व को उजागर करता है, जो प्रभावी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक है। यह स्वतन्त्रता के बाद भारत की क्षेत्रीय अखंडता को संरक्षित और सुदृढ़ करने पर जोर देगा।

दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य की सैन्य और रक्षा रणनीतियाँ

भारतीय क्षेत्र में विकसित हो रहे खतरे के जवाब में, कई मध्यकालीन भारतीय राज्यों और साम्राज्यों ने महत्त्वपूर्ण सैन्य नवाचार और रक्षा रणनीतियाँ अपनाईं। उपमहाद्वीप के अन्दर और बाहर से सैन्य रणनीतियों और प्रथाओं को अपनाने की यह निरन्तर प्रक्रिया दर्शाती है कि सुरक्षा चुनौतियाँ रक्षा और रणनीति के क्षेत्र में सैन्य सुधार और तकनीकी अपनाने के लिए प्राथमिक प्रेरक थीं। यह ऐतिहासिक विकास और अनुकूलनशीलता आधुनिक रक्षा आधुनिकीकरण प्रयासों के लिए एक मिसाल स्थापित करती है। (उपाध्याय, 2025) यह हाल के समय में सैन्य और रणनीतिक लाभ बनाये रखने के लिए रणनीतिक नवाचार की गहरी प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है।

दिल्ली सल्तनत के दौरान काफी महत्त्वपूर्ण सैन्य नवाचार प्रस्तुत किये गये, जिसमें मध्य एशियाई सैन्य परम्पराओं से अनुकूलित एक दशमलव

संगठन प्रणाली शामिल थी। इस सैन्य रणनीति प्रणाली ने सैन्य बलों को स्पष्ट संख्यात्मक इकाइयों में विभाजित किया। यह तैनाती में उल्लेखनीय लचीलापन, स्पष्ट कमान संरचनाएँ और वेतन भुगतान एवं उपकरण आवंटन जैसे कार्यों के लिए सुव्यवस्थित प्रशासन की अनुमति देता था। सैन्य पदानुक्रम में विभिन्न रैंक (श्रेणी) शामिल थे जैसे सिपहसालार (100 सैनिकों की इकाइयों के कमांडर)। वे उच्च कमान और सबसे निचले स्तर के सैनिकों के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करते थे। सुल्तान बलबन (13वीं शताब्दी) ने आक्रमणकारियों के खिलाफ रक्षा और जवाबी कार्रवाई के लिए सीमाओं पर रणनीतिक किलों के जाल (नेटवर्क) को सुदृढ़ करने की कोशिश की और विद्रोहियों और डाकुओं के छिपने की जगहों को समाप्त करने के लिए विशाल क्षेत्रों में जंगल साफ करने का आदेश भी दिया। इस पहल ने दोआब जैसे क्षेत्रों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना सम्भव बनाया। उसने सैन्य अनुशासन का कठोर नियम पेश किया और खतरों की प्रारम्भिक चेतावनी प्रदान करने के लिए मजबूत खुफिया तंत्र विकसित किया। अलाउद्दीन खिलजी (13वीं-14वीं शताब्दी) ने केन्द्रीकृत भर्ती प्रक्रिया के साथ एक स्थायी सेना सुनिश्चित की। सैनिकों को भूमि अनुदान (इक्ता) के बजाय नकद में वेतन देना शुरू किया। इस प्रणाली की शुरुआत ने कुलीनों की शक्ति को काफी हद तक कम कर दिया और सुल्तान के प्रति प्रत्यक्ष वफादारी को बढ़ावा दिया। उसने भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने और गुणवत्ता बनाये रखने के लिए चेहरा (सैनिकों के लिए विस्तृत विवरण रोल) प्रणाली और दाग (घोड़े की ब्रांडिंग) शुरू की। सल्तनत ने भारी घुड़सवार सेना (घुड़सवार लांस (भाला), गदा और तलवारों के साथ) को मुख्य आक्रमण बल के रूप में और हल्की घुड़सवार सेना (समग्र धनुषों का उपयोग करके) को हिट-एंड-रन रणनीति (मारो और भागो), उत्पीड़न और दुश्मनों का पीछा करने के लिए नियोजित किया। (चन्द्रा, 2005)

मुगल सेना अपने उन्नत हथियारों के लिए प्रसिद्ध थी जिसमें माचिस बन्दूकें, तोपें और प्रशिक्षित युद्ध हाथियों का रणनीतिक उपयोग शामिल था। शुरू में, मुगल घुड़सवार सेना और तीरंदाजों पर बहुत अधिक निर्भर थे; लेकिन जैसे-जैसे साम्राज्य का विस्तार हुआ, उन्होंने बारूद हथियारों, तोपखाने और किलायुक्त गढ़ों को शामिल किया। यह विविध सैन्य परम्पराओं को एकीकृत

करने की क्षमता को प्रदर्शित करता है ताकि सैन्य शक्ति को मजबूत किया जा सके। सम्राट अकबर के शासनकाल के दौरान, मनसबदारी प्रणाली की शुरुआत के साथ सैन्य प्रणाली अधिक केन्द्रीकृत हो गयी। इसने सैन्य और प्रशासनिक अधिकारियों को उनकी रैंक और जिम्मेदारियों के अनुसार वर्गीकृत किया, जिसने सैन्य क्षमता को प्रशासन के साथ जोड़ दिया। मुगल सैन्य संरचना के प्रमुख घटक थे, पैदल सेना, घुड़सवार सेना (भारी और हल्की), तोपखाना और युद्ध हाथी (लड़ाई, रसद समर्थन और मनोवैज्ञानिक प्रभाव के लिए उपयोग)। इसके अलावा, व्यापार मार्गों की सुरक्षा और तटीय रक्षा के लिए नौसेना भी मौजूद थी। मुगल युद्ध रणनीतियों में मुख्य रूप से तुलुघमा (एक रणनीति जिसमें एक साथ सामने से हमला और बगल से घेरना शामिल था) और घुड़सवार सेना का रणनीतिक उपयोग शामिल था। (चन्द्रा, 2005)

मराठा साम्राज्य, गोरिल्ला युद्ध और रणनीतिक शक्ति

मराठा साम्राज्य का विस्तार शिवाजी महाराज और उनके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में हुआ और मराठाओं ने सैन्य-कौशल, नवाचार और रणनीतिक शक्ति के संयोजन को अपनाया। (राधिका, 2025) शिवाजी ने बहुत ही रणनीतिक रूप से गोरिल्ला युद्ध का उपयोग किया, जिसमें पश्चिमी घाटों के बीहड़ इलाकों का लाभ उठाकर दुश्मनों पर तेज और आश्चर्यजनक हमले किये गये, जिसने अन्ततः पारम्परिक शक्ति संरचनाओं को हिलाकर रख दिया। मराठाओं ने दक्कन में सल्तनतों के आर्थिक आधार और सैन्य शक्ति को कमजोर करने के उद्देश्य से तेज छापेमारी के लिए हल्की घुड़सवार सेना का सर्वोत्तम उपयोग किया। उन्होंने दक्कन में किलों का एक जाल (नेटवर्क) स्थापित किया जो नेटवर्क संचालन आधार के रूप में कार्य करते थे और जवाबी हमलों के दौरान शरण प्रदान करते थे। इस रणनीति ने विभिन्न शत्रु राज्यों के खिलाफ निरन्तर सैन्य अभियानों को सुगम बनाया। (राधिका, 2025)

शिवाजी ने खुफिया जानकारी एकत्र करने को बहुत महत्त्व दिया। उनके खुफिया प्रमुख बहिर्जी नाइक ने राज्य में लगभग तीन हजार एजेंटों के नेटवर्क का नेतृत्व किया। सटीक और सही सैन्य खुफिया जानकारी आश्चर्यजनक हमलों और आसान जीत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी। मध्यकालीन युद्ध

में खुफिया जानकारी और छल का सफल उपयोग कौटिल्य के सिद्धान्तों को मान्य करता है और इस तथ्य को उजागर करता है कि ये रणनीतियाँ कालातीत हैं। वे बल गुणक के रूप में कार्य करती हैं, जो विशेष रूप से समकालीन सुरक्षा चुनौतियों के लिए प्रासंगिक हैं, जिनमें असाधारण खतरे और मिश्रित (हाइब्रिड) युद्ध शामिल हैं। (स्वदेशी शोध, 2025) शिवाजी ने चाणक्य के चार विजय विधियों (साम, दाम, दंड, भेद) का रणनीतिक उपयोग किया, जो अक्सर कूटनीति और प्रभाव का उपयोग किये बिना ही किलों को सुरक्षित करता था। उदाहरण के लिए, कोंढाणा किले को बातचीत के माध्यम से और पुरंदर किले को पारिवारिक विवादों का फायदा उठाकर हासिल किया गया था। मराठाओं ने रणनीतिक छल का भी उपयोग किया, जैसे कि शिवाजी का घेराबंदी से बचने के लिए प्रतिरूप का उपयोग करना। दूसरी तरफ कुछ प्रतिद्वंद्वी शक्तियों जैसे कुतुबशाही सल्तनत ने अन्य क्षेत्रीय शक्तियों (आदिल शाही, निजाम शाही और अन्य) के साथ गठबन्धन करके मराठा शक्ति का मुकाबला करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी रक्षात्मक क्षमताओं को बढ़ाने के लिए कूटनीतिक वार्ता और सुधारों में भी भाग लिया, जिसमें किलों का निर्माण और अधिक गतिशील सैन्य इकाइयों का विकास शामिल था। (राधिका, 2025)

औपनिवेशिक शासन और राष्ट्रीय सुरक्षा पर इसका प्रभाव

भारत में औपनिवेशिक शासन ने राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को मौलिक रूप से बदल दिया। राज्य की सुरक्षा और कल्याण की स्वदेशी प्राथमिकताओं को साम्राज्यवादी हितों द्वारा बदल दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत के सुरक्षा तंत्र में आमूलचूल परिवर्तन हुए। इसकी वजह से राष्ट्रवादी सुरक्षा चिन्ताओं के बीज उगने शुरू हुए, जिन्होंने बाद में स्वतन्त्रता के बाद के रणनीतिक और सुरक्षा परिदृश्य को आकार दिया।

ब्रिटिश भारतीय सेना ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रेसीडेंसी सेनाओं से बनाई गयी थी। बाद में यही संरचना ब्रिटिश साम्राज्य का आधारभूत स्तम्भ बन गयी। इसका मूल कार्य भारतीय साम्राज्य की पुलिसिंग और ब्रिटिश साम्राज्य के लिए आन्तरिक सुरक्षा बनाये रखना था। (ब्रिटिश सैन्य इतिहास, 2025) इस सैन्य बल को विदेशों में ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के लिए भी तैनात किया

गया था। इसने बर्मा, अफगानिस्तान, चीन (अफीम युद्ध और बॉक्सर विद्रोह) और विश्वयुद्धों जैसे विदेशी अभियानों में भाग लिया। इस सैन्य बल को अक्सर मूल भारतीय आबादी की सहमति के बिना तैनात किया गया, जिससे भारत को काफी नुकसान उठाना पड़ा।

1857 का भारतीय विद्रोह इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। इसने अंग्रेजों को अपने सैन्य संगठन और नियंत्रण के बारे में पुनर्विचार करने के लिए मजबूर किया। सेना में बाद में किया गया फेर बदल भविष्य के विद्रोहों को रोकने और अंग्रेजी राज के प्रति अटूट वफादारी सुनिश्चित करने के लिए किया गया था। इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण सुधार भर्ती नीतियों में बदलाव था। बंगाल सेना, जो विद्रोह का केन्द्र रही थी, के पारम्परिक भर्ती क्षेत्रों को कम कर दिया। एक नयी नीति ने सिख, पंजाबी मुस्लिम और राजपूत जैसी युद्धप्रिय जातियों को प्राथमिकता दी, जो विद्रोह के दौरान वफादार रहे थे। (ब्रिटिश सैन्य इतिहास, 2025) ब्रिटिश सेना के अधिकारियों द्वारा बनाये गये युद्धप्रिय जाति सिद्धान्त (मार्शल रेस) ने कुछ जातियों को स्वाभाविक रूप से बहादुर और युद्ध के लिए उपयुक्त माना, जबकि अन्य को गतिहीन जीवन-शैली या कथित अविश्वसनीयता के कारण अयोग्य माना गया। हालाँकि, इस सिद्धान्त की अक्सर आलोचना की गयी क्योंकि यह भारत में विभाजन और शासन करने का एक चतुर प्रयास था। इन युद्धप्रिय जातियों को अक्सर बौद्धिक रूप से निम्न माना जाता था। उन्हें केवल उनके भाड़े के जज्बे के लिए चुना गया था, न कि राष्ट्रवादी गुणों के लिए। इसके अलावा, एकल-जाति या एकल-धर्म, रेजिमेंट्स को हतोत्साहित करके जानबूझकर 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति लागू की गयी थी। जिसका उद्देश्य विभिन्न भारतीय जातियों और समुदायों के बीच नफरत और शत्रुता की भावनाओं को जीवित रखना था। (हंसार्ड, 1867)

सेना में भारतीय नेतृत्व पर जानबूझकर लगाए गये प्रतिबन्ध औपनिवेशिक विचारधारा को दर्शाते थे। तैनाती के सन्दर्भ में, सेनाओं का प्रमुख शहरों की सुरक्षा के लिए बिखरे हुए गढ़ों से संचालन करना शुरू कर दिया गया जो मुख्य रूप से उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में केन्द्रित थीं। इस रणनीतिक पुनर्स्थापन ने सेना की प्राथमिक भूमिका को दर्शाया, जिसमें विदेशी आक्रमण, विशेष रूप से रूस से रक्षा और आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखना शामिल था। (एलिंघम, 2025)

ब्रिटिश औपनिवेशिक सुरक्षा प्राथमिकताएँ मुख्य रूप से उनके शासन को बनाये रखने और उनके हितों की रक्षा पर केन्द्रित थीं। (गांगुली, 2024) पुलिस बल का व्यापक रूप से उपयोग विद्रोह को दबाने और कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए किया गया, जो सैन्य प्रयासों को पूर्ण करता था। पुलिसिंग रणनीतियाँ क्षेत्र-दर-क्षेत्र अलग थीं। यह प्रत्यक्ष रूप से प्रशासित प्रान्तों में प्रत्यक्ष दमन और रणनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण जनजातीय सीमावर्ती क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष शासन प्रणाली को नियोजित करता था, जहाँ ध्यान स्थानीय आबादी के शासक वर्ग के हितों के साथ रेखांकित करने पर था, न कि प्रत्यक्ष दमन पर। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त (NWFP) में 'क्लोज बॉर्डर' नीति का शुरुआत में उद्देश्य हमलों को कम करना था, लेकिन रूसी क्षेत्रीय विस्तार की चिन्ताओं ने 'फॉरवर्ड पॉलिसी' को जन्म दिया, जिसमें जनजातीय क्षेत्र में एक सक्रिय दृष्टिकोण शामिल था और नियंत्रण बनाये रखने के लिए नये सैन्य बल और संरक्षित सेना शामिल थीं। (गांगुली, 2024) इसके अलावा, आपराधिक कानून, जैसे धारा 124ए (राजद्रोह) का किसी भी प्रकार के विद्रोह या असन्तोष को दबाने और नियंत्रित करने के लिए एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया। यह दर्शाता है कि कानूनी ढाँचे का उपयोग औपनिवेशिक सुरक्षा के साधन के रूप में कैसे किया गया।

भारत में राष्ट्रवादी सुरक्षा चिन्ताओं का उदय

साम्राज्यवादी सुरक्षा का थोपना, व्यापक आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन ने भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और इसकी विशिष्ट सुरक्षा चिन्ताओं को सीधे तौर पर सामने ला दिया। दादाभाई नौरोजी जैसे राष्ट्रवादी नेताओं ने अंग्रेजों द्वारा भारी कराधान और सैन्य खर्च की कटु आलोचना की। उन्होंने तर्क दिया कि इन नीतियों ने भारत के आर्थिक विकास को प्रतिबन्धित किया है, जिससे भारत अंग्रेजी सामानों के लिए एक बाजार और कच्चे माल का स्रोत बन गया है। इससे अन्ततः भारतीय उपनिवेश से ब्रिटेन की ओर धन का एक महत्त्वपूर्ण निकास हुआ। (चन्द्रा, 2009) ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय सेना के विदेशों में उपयोग ने और अधिक असन्तोष को बढ़ाया। इस शोषण ने साम्राज्यवादी सुरक्षा प्राथमिकताओं और भारत के राष्ट्रीय हितों के बीच एक मौलिक असंगति को उजागर किया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भारत के लोगों को एकजुट किया और देश की राष्ट्रीय सुरक्षा नीति को शान्ति और अहिंसा की ओर ले जाने में प्रभावित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC), जो 1885 में स्थापित हुई थी, शुरू में शिक्षित भारतीयों के लिए शासन में अधिक भूमिका की वकालत करने का मंच था। लेकिन 20वीं सदी की शुरुआत तक, यह ब्रिटिश शासन से पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की ओर स्थानान्तरित हो गया। बंगाल के विभाजन (1905) और जलियाँवाला बाग नरसंहार (1919) जैसी प्रमुख घटनाओं ने राष्ट्रवादी आन्दोलन को और तेज कर दिया और ब्रिटिश और भारतीयों के बीच की खाई को गहरा कर दिया (चन्द्रा, 2009)। असहयोग आन्दोलन (1920-22), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-34) और भारत छोड़ो आन्दोलन (1942) जैसे जन आन्दोलनों ने अहिंसक प्रतिरोध रणनीतियों के माध्यम से स्वतन्त्रता के लिए व्यापक जन समर्थन प्राप्त किया। यह अवधि दर्शाती है कि राष्ट्रीय सुरक्षा केवल बाहरी खतरों के बारे में नहीं है, बल्कि आन्तरिक वैधता और लोगों की आकांक्षाओं के साथ राज्य नीति के तालमेल के बारे में भी है। स्वतन्त्रता संग्राम के शान्ति और अहिंसा पर जोर ने स्वतन्त्रता के बाद के दृष्टिकोण को आकार दिया, जिसने शुरू में गुट-निरपेक्षता और रक्षा खर्च को कम करने को प्राथमिकता दी (चन्द्रा, 2009)। इसलिए, औपनिवेशिक विरासत ने स्वतन्त्रता के बाद भारत में सैन्य शक्ति के प्रति गहरा सन्देह पैदा कर दिया और इसकी प्रारम्भिक विदेश नीति विकल्पों को प्रभावित किया। नये राष्ट्र ने साम्राज्यवादी आदेशों से मुक्त, अपनी शर्तों पर सुरक्षा को परिभाषित करने की कोशिश की।

स्वतन्त्रता के बाद भारत और नया सुरक्षा प्रतिमान

1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत को तेजी से बदलते विश्व में अपने राष्ट्रीय सुरक्षा प्रतिमान को परिभाषित करने का कठिन कार्य करना पड़ा। भारत का विभाजन, कश्मीर संघर्ष और शीत युद्ध ने इसकी प्रारम्भिक नीतियों को महत्त्वपूर्ण रूप से बदल दिया। जैसा कि परांजपे (2016) का तर्क है कि भारत की रणनीतिक संस्कृति, जो अपने आधुनिक रूप में नवजात थी, ने ऐतिहासिक अनुभवों पर आधारित होने के साथ-साथ समकालीन भू-राजनीतिक वास्तविकताओं के अनुकूलन की शुरुआत की।

शीत युद्ध के दौरान भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति एक रणनीतिक विकल्प थी, जिसका उद्देश्य महाशक्ति प्रतिद्वंद्विता में उलझने से बचना था। इसने भारत को स्वतंत्र विदेश नीति अपनाने और आन्तरिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करने की अनुमति दी। मूल रूप से, यह स्वायत्तता और रणनीतिक स्थान को संरक्षित करने की एक सुरक्षा रणनीति थी (रंगराजन, 2024)। भारत ने आत्मनिर्भरता पर भी ध्यान देना शुरू किया। स्वदेशी औद्योगिक और रक्षा आधार विकसित करने की आवश्यकता से प्रेरित होकर, आत्मनिर्भरता भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू बन गया। इसमें एक स्वतंत्र परमाणु निवारक का विकास शामिल था, जिसे विशेष रूप से 1962 के भारत-चीन युद्ध और 1974 में पोखरण-I परमाणु परीक्षण के बाद राष्ट्रीय सुरक्षा का निर्णायक कारण माना गया। एक अन्य चुनौतीपूर्ण मुद्दा अलगाववादी आन्दोलन था। नक्सलवाद और साम्प्रदायिक हिंसा ने महत्त्वपूर्ण आन्तरिक सुरक्षा खतरों को उजागर किया, जिसके लिए कानून परिवर्तन, विकास और राजनीतिक समाधानों के संयोजन की आवश्यकता थी। इस सन्दर्भ में, भारत ने एक कदम आगे बढ़कर एक स्थिर और सहयोगी पड़ोस के महत्त्व को मान्यता दी। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, भारत ने अपने तत्काल पड़ोसियों के साथ सहभागिता की नीति को लगातार अपनाया।

स्वतन्त्रता के बाद भारत और विकसित सुरक्षा सिद्धान्त

1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद, भारत को विभाजन के तत्काल परिणामों से लेकर शीत युद्ध की भू-राजनीतिक जटिलताओं तक कई जटिल सुरक्षा चुनौतियों का सामना करना पड़ा। तब से भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा निरन्तर विकास और बदलाव के दौर से गुजरी है। ये सिद्धान्तगत बदलाव, सैन्य आधुनिकीकरण और रणनीतिक स्वायत्तता की निरन्तर खोज द्वारा चिह्नित होते हैं।

प्रारम्भिक चुनौतियाँ और सुरक्षा का प्रश्न (1947-1962)

ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के दो डोमिनियन या प्रभुत्वों (पाकिस्तान और भारत) में विभाजन ने भारत के लिए प्रमुख सुरक्षा चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। पाकिस्तान और चीन के साथ सीमा विवादों और राज्य-प्रायोजित आतंकवाद

का उदय तत्काल प्राथमिक खतरे बन गये। कश्मीर मुद्दा एक केन्द्रीय विवाद बन गया। अन्ततः इसी के कारण 1947-48 में पहला भारत-पाकिस्तान युद्ध हुआ। इस संघर्ष ने कश्मीर को एक स्थायी तनाव बिन्दु बना दिया और दोनों नवगठित राष्ट्रों के बीच हथियारों की खरीद की दौड़ और प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गयी (निकेल्ड एंड डाइम्ड, 2022)।

रक्षा शक्ति के सन्दर्भ में, अगस्त 1947 में भारतीय सेना की प्रारम्भिक ताकत लगभग 4,00,000 थी। लेकिन राजनीतिक नेतृत्व ने रक्षा खर्च को कम करने के लिए इसे 2,00,000 तक कम करने की कोशिश की। यह शान्ति और अहिंसा पर प्रचलित जोर से बहुत प्रभावित था (एसपीएस लैंड फोर्सेस, 2025)। नियमित सेना का समर्थन करने के लिए। सरकार ने 1948 में एक नया टेरिटोरियल आर्मी एक्ट लागू किया। 1949 में नियमित अधिकारियों के कमांड के साथ पैदल सेना और तोपखाने की इकाइयाँ गठित की गयीं। नागरिक-सैन्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण बदलाव लाए गये। 1955 में सभी सशस्त्र बलों के लिए केन्द्रीकृत कमांडर-इन-चीफ का पद समाप्त कर दिया गया और तीनों सेनाओं (थल सेना, नौसेना और वायु सेना) के प्रमुख बनाये गये ताकि वे अपने-अपने क्षेत्र में एक समान और स्वतंत्र हों। हालाँकि, रक्षा मंत्रालय में नागरिक नौकरशाहों ने महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर हावी होना शुरू कर दिया। इस तरह की प्रारम्भिक संरचना को जानबूझकर नागरिक मामलों में सैन्य हस्तक्षेप के जोखिम को कम करने के लिए बनाया गया था। इसके अलावा, नेहरू ने मुख्य रूप से गुट-निरपेक्षता (प्रमुख शीत युद्ध गुटों के लिए तटस्थ रहने की स्थिति) और सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण होने पर आधारित विदेश नीति पर जोर दिया। नेहरू की इस नीति का उद्देश्य अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर निर्णय लेने और कार्रवाई करने की भारतीय स्वतन्त्रता को संरक्षित करना था (राधिका, 2025)।

प्रमुख संघर्ष और सिद्धान्तगत बदलाव (1962-1999)

1962-1999 की अवधि में प्रमुख संघर्षों और घटनाओं ने भारत के राष्ट्रीय सुरक्षा दृष्टिकोण और सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण रूप से बदल दिया। 1962 का भारत-चीन युद्ध भारत के लिए एक परेशान करने वाली सुरक्षा विफलता थी। इसने प्रधानमंत्री नेहरू के भ्रमों को तोड़ दिया और भारतीय सेना की

रणनीतिक खामी को उजागर किया। (एसपीएस लैंड फोर्सेस, 2025) इस हार ने भारत के लिए एक जागृति का काम किया। इससे सैन्य उन्नयन और विस्तार कार्यक्रम की शुरुआत हुई, जिसने सेना के आकार को दोगुना कर दिया और रक्षा बजट को बढ़ाया। (आर्मी यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969) इन घटनाओं ने उपकरण, प्रशिक्षण और नेतृत्व क्षमता में अन्तर्निहित कमजोरियों को सामने लाया। अन्ततः इसने भारतीय नेतृत्व और सेवाओं को आधुनिक बनाने, उन्नत करने और विस्तार करने के लिए मजबूर किया।

1965 का भारत-पाकिस्तान युद्ध एक कदम आगे बढ़ा और इसने भारतीय सेना की क्षमताओं का और परीक्षण किया। इसने उपकरण, प्रशिक्षण और समग्र सैन्य बुनियादी ढाँचे में निरन्तर कमजोरियों को उजागर किया। हालाँकि इस संघर्ष ने कश्मीर विवाद को हल नहीं किया, लेकिन इसने अमेरिका और ब्रिटेन से हथियारों की आपूर्ति में कटौती को जन्म दिया। 1962 और 1965 के युद्धों के साथ-साथ 1971 के संघर्ष ने यह प्रदर्शित किया कि बाहरी दबावों से भारतीय रक्षा परिवर्तन और उन्नयन लगातार प्रभावित हुआ।

1971 का भारत-पाकिस्तान युद्ध भारत के लिए एक निर्णायक जीत थी। इसने बांग्लादेश नामक एक नये राष्ट्र को जन्म दिया, जिसने क्षेत्र के भू-राजनीतिक परिदृश्य को महत्त्वपूर्ण रूप से बदल दिया। भारत के लिए इस जीत ने रक्षात्मक दृष्टिकोण से रणनीतिक सोच में बदलाव का मार्ग प्रशस्त किया। भारत-सोवियत शान्ति, मैत्री और सहयोग सन्धि (1971) ने भारत और सोवियत संघ के बीच घनिष्ठ साझेदारी को उजागर किया। (भारतीय दूतावास मॉस्को, 2021; MOFA जापान, 1971) इस सन्धि ने युद्ध के दौरान सोवियत सैन्य समर्थन के लिए एक ढाँचा प्रदान किया और भारत की मॉस्को के साथ दोस्ती को मजबूत किया। दिलचस्प बात यह है कि यह औपचारिक गुट-निरपेक्षता की स्थिति से एक 'स्पष्ट विचलन' को दर्शाता है। यह एक गहरी रणनीतिक संस्कृति को उजागर करता है जो राज्य के अस्तित्व और शक्ति सन्तुलन को प्राथमिकता देता है।

1971 के युद्ध के बाद भारत की परमाणु क्षेत्र में क्षमताएँ तेजी से बढ़ीं। यह महाशक्तियों के शक्ति-संघर्ष में कठपुतली बनने की चिन्ताओं से प्रेरित था। इसका परिणाम 1974 में शान्तिपूर्ण परमाणु विस्फोट के रूप में हुआ। इसने भारत की तकनीकी और नवाचार शक्तियों को प्रदर्शित किया। 1998 में

भूमिगत परीक्षणों की एक श्रृंखला के साथ भारत की स्पष्ट परमाणु शक्ति की घोषणा ने क्षेत्रीय सुरक्षा में एक नया आयाम जोड़ा। इसका उद्देश्य प्रतिरोध (डेटेरेंस) के माध्यम से शान्ति था, लेकिन इस प्रतिरोध ने क्षेत्र में स्थिरता को खतरे में भी डाला।

1999 का कारगिल युद्ध भारत के लिए एक और जागृति का कॉल था। इसने भारत को अपने सशस्त्र बलों को आधुनिक बनाने, खुफिया ढाँचे पर काम करने, संयुक्त संचालन को फिर से कल्पना करने और अपनी विदेश नीति और सम्बन्धों का पुनर्जनन करने के लिए मजबूर किया। इस संघर्ष ने महत्त्वपूर्ण खुफिया चूक को उजागर किया, जिसके परिणामस्वरूप एक अलग रक्षा खुफिया एजेंसी (DIA) का गठन हुआ और खुफिया संचालनों में सुधार हुए। भारत ने विशेष पर्वतीय युद्ध क्षमताओं की आवश्यकता को महसूस किया। यह गतिशीलता और सटीकता की ओर रणनीतिक बदलाव और अधिक सुरक्षा के लिए सीमा सतर्कता को बढ़ाने की ओर महत्त्वपूर्ण कदम था। इस युद्ध ने भारत के युद्ध सिद्धान्त को भी आकार दिया और कोल्ड स्टार्ट जैसी अवधारणाओं के विकास में योगदान दिया, जो सीमित तैनाती के लिए त्वरित जुटाव रणनीति थी।

शीत युद्ध के बाद का युग और समकालीन सुरक्षा परिदृश्य

1991 में सोवियत संघ के विघटन और शीत युद्ध के अन्त ने भारत को अपनी विदेश नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा स्थिति का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए मजबूर किया। इस अवधि में पारम्परिक गुट-निरपेक्षता से अधिक व्यावहारिक सुरक्षा दृष्टिकोण की ओर महत्त्वपूर्ण बदलाव देखा गया। सोवियत विघटन ने नयी चुनौतियाँ पैदा कीं, जिनमें संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सुरक्षात्मक वीटो का नुकसान और सॉफ्ट-करेंसी सैन्य उपकरण सौदों का समापन शामिल था। साथ ही, एक आर्थिक संकट उभरा जिसने भारत को उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की शर्तों को अपनाने के लिए मजबूर किया। इस रणनीतिक बदलाव में विदेश नीति में कुछ कट्टरपंथी बदलाव शामिल थे, जिसमें आर्थिक और रणनीतिक लाभों को सुरक्षित करने के लिए अमेरिका, चीन और अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ सहभागिता शामिल थी। 'सर्व-संरेखण' (ऑल अलाइनमेंट) को अक्सर रणनीतिक स्वायत्तता की आधुनिक

अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है। यहाँ भारत बहु-ध्रुवीय विश्व में अपने राष्ट्रीय हितों को अधिकतम करने और रणनीतिक स्थान को बढ़ाने की कोशिश करता है। (CFR, 2025)

भारत का परमाणु सिद्धान्त मूल रूप से 'नो फर्स्ट यूज' (NFU) नीति पर आधारित है। यह 'विश्वसनीय न्यूनतम निवारण' बनाये रखने की प्रतिबद्धता के साथ युग्मित है। (सुन्दरम और रमाना, 2018) यह सिद्धान्त इस तथ्य पर निर्भर करता है कि भारत परमाणु हथियारों का उपयोग तब तक नहीं करेगा जब तक कि उस पर पहले परमाणु हमला न हो। फिर भी, यह अपने क्षेत्र या लोगों पर रासायनिक जैविक युद्ध (CBW) हमलों के जवाब में एक विकल्प बनाये रखता है। भारत के पास पूर्ण रूप से परिचालित परमाणु त्रय (तीन स्तरीय) हमला क्षमता है, जो यह भूमि, वायु और समुद्र के माध्यम से वितरित कर सकती है। यह इसकी मजबूत द्वितीय हमला (स्ट्राइक) क्षमता को उजागर करता है। अक्सर NFU नीति को भारत की जिम्मेदार परमाणु शक्ति की स्थिति के प्रमाण के रूप में माना जाता है। लेकिन संकट की स्थितियों में इसकी सख्त व्याख्या के बारे में सोचा जा सकता है (सुन्दरम और रमाना, 2018)।

स्वदेशी रक्षा निर्माण और आत्मनिर्भरता पर महत्त्वपूर्ण ध्यान दिया गया है। यह 'मेक इन इंडिया' और 'आत्मनिर्भर भारत' जैसे प्रमुख कार्यक्रमों के माध्यम से रणनीतिक रूप से किया गया है। इससे तेजस लड़ाकू जेट, आकाश मिसाइल, पिनाका रॉकेट सिस्टम और अर्जुन टैंक जैसे उन्नत हथियार प्रणालियों का विकास और परिचय हुआ है। इसके अलावा, स्वदेशी नौसैनिक प्रणालियों जैसे आई.एन.एस. विक्रांत और आई.एन.एस. अरिहंत की कमीशनिंग में वृद्धि देखी गयी है। हाल के सैन्य सुधारों में रक्षा स्टाफ प्रमुख (CDS) और सैन्य मामलों के विभाग (DMA) का पद सृजन शामिल है ताकि राष्ट्रीय संसाधनों को अनुकूलित किया जा सके और सेवाओं के बीच अन्तर संचालनीयता में सुधार हो। भारतीय रक्षा मंत्रालय ने कृत्रिम बुद्धिमत्ता, 5G, क्वांटम प्रौद्योगिकी और साइबर सुरक्षा जैसी आधुनिक प्रौद्योगिकियों में भारी निवेश शुरू किया है, जिसने भारत में एक रक्षा साइबर एजेंसी और कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) टास्क फोर्स की स्थापना की है (बारू, 2024, 10 सितम्बर, TOI)।

हिन्द महासागर में समुद्री सुरक्षा को महत्त्व दिया गया है क्योंकि हिन्द महासागर क्षेत्र (IOR) भारत की आर्थिक रीढ़ के रूप में कार्य करता है, जिसमें 95% समुद्री व्यापार इन जलक्षेत्रों से होकर गुजरता है। भारत ने इस समुद्री क्षेत्र में एक शुद्ध सुरक्षा प्रदाता की भूमिका हासिल की है। भारत ने पारम्परिक सतर्कता से अधिक मुखर रुख अपनाया है ताकि अपनी समुद्री सुरक्षा को सुरक्षित किया जा सके और क्षेत्र में किसी भी प्रतिकूलता का मुकाबला किया जा सके। इस प्रक्रिया में सक्रिय सहभागिता, समुद्री डकैती विरोधी अभियान, मानवीय सहायता और आपदा राहत (HADR) और निगरानी एवं निगरानी नेटवर्क के माध्यम से समुद्री जागरूकता को बढ़ाना शामिल है (एशिया पैसिफिक फाउंडेशन, 2025)। पश्चिमी हिन्द महासागर पर प्रमुख ध्यान रहा है क्योंकि गैर-पारम्परिक खतरों में वृद्धि हुई है; यह चीनी जहाजों की उपस्थिति और भारत-अफ्रीका समुद्री सहयोग के विस्तार के कारण बढ़ा है। (ORF ऑनलाइन, 9 जून, 2025) भारत की 'एक्ट ईस्ट' नीति ने भी ASEAN देशों के साथ सम्बन्धों को गहरा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और दक्षिण-चीन सागर क्षेत्र के रणनीतिक महत्त्व पर जोर दिया है। (एशिया पैसिफिक फाउंडेशन, 2025)

नयी विश्व व्यवस्था और सुरक्षा के उभरते आयाम

भारत की साइबर सुरक्षा नीति का उद्देश्य सभी के लिए एक सुरक्षित, विश्वसनीय और जवाबदेह साइबरस्पेस सुनिश्चित करना है। भारत ने बिजली, परिवहन, बैंकिंग जैसे महत्त्वपूर्ण बुनियादी ढाँचा क्षेत्रों को सुरक्षित करने के लिए कई पहल शुरू की हैं। भारतीय कंप्यूटर आपातकालीन प्रतिक्रिया टीम (CERT-In) और राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण सूचना बुनियादी ढाँचा संरक्षण केन्द्र (NCIIPC) जैसे प्रमुख संस्थान साइबर सुरक्षा ऑडिट करते हैं और भारत में कंप्यूटर सुरक्षा घटना प्रतिक्रिया टीमों (CSIRTs) के लिए मैनुअल और दिशा-निर्देश जारी करते हैं। भारत में, उन्नत कंप्यूटिंग विकास केन्द्र (C-DAC) विदेशी समाधानों पर निर्भरता कम करने के लिए स्वदेशी साइबर सुरक्षा उपकरण विकसित करता है। इस दिशा में, CERT-In ने देश और क्षेत्र में साइबर हमलों और साइबर आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए सरकारी निकायों के लिए एक साइबर संकट प्रबन्धन योजना (CCMP)

तैयार की है (PIB, 25 जुलाई, 2025)।

भारत ने क्षेत्रीय और वैश्विक सुरक्षा ढाँचे की रक्षा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत संयुक्त राष्ट्र शान्ति रक्षा अभियानों में सबसे बड़ा योगदानकर्ता रहा है, जिसका इतिहास 1953 से शुरू होता है। यह अहिंसा और 'वसुधैव कुटुंबकम' (विश्व एक परिवार है) के सिद्धान्त के प्रति उसकी प्रतिबद्धता को दर्शाता है। भारत सार्क (SAARC), बिम्सटेक (BIMSTEC) और शंघाई सहयोग संगठन (SCO) जैसे कई क्षेत्रीय समूहों और संगठनों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। भारत ने अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया के साथ चतुर्पक्षीय सुरक्षा संवाद (QUAD) में भाग लिया है, जो इंडो-पैसिफिक सुरक्षा पर जोर देता है और क्षेत्र में चीन का मुकाबला करने का प्रयास करता है। (एशिया पैसिफिक फाउंडेशन, 2025) भारत ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सुधारों की वकालत की है ताकि स्थायी सदस्यता प्राप्त हो और विश्व स्तर पर निरस्त्रीकरण और जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित मुद्दों के लिए वैश्विक समर्थन प्राप्त हो।

एंड्रिया मॉन्टी और रेमंड वैक्स की पुस्तक 'नेशनल सिक्योरिटी इन द न्यू वर्ल्ड ऑर्डर : गवर्नमेंट एंड द टेक्नोलॉजी ऑफ इन्फॉर्मेशन' (2021) में सूचना प्रौद्योगिकी के राष्ट्रीय सुरक्षा बुनियादी ढाँचे पर प्रभाव को उजागर किया गया है। भारत में यह साइबर सुरक्षा में प्रकट हुआ है। भारत को नियमित रूप से साइबर जासूसी, साइबर युद्ध और महत्त्वपूर्ण बुनियादी ढाँचा हमलों से बढ़ते खतरों का सामना करना पड़ता है, जिसने मजबूत साइबर सुरक्षा ढाँचे की आवश्यकता को जन्म दिया है। सूचना युद्ध हाल के समय में काफी चुनौतीपूर्ण है। गलत सूचना अभियान और सोशल मीडिया का हथियारीकरण राष्ट्रीय एकता और देश में समग्र सार्वजनिक व्यवस्था के लिए नयी उभरती चुनौतियाँ पैदा कर चुके हैं। इसके अलावा, अंशुमान बेहरा और सीताकांत मिश्रा की सम्पादित पुस्तक 'वैरिंग डायमेंशन्स ऑफ इंडिया'ज नेशनल सिक्योरिटी : इमर्जिंग पसपेक्टिव्स' (2022), भारत और दक्षिण एशिया के लिए आधुनिक सुरक्षा चुनौतियों की जटिल प्रकृति को उजागर करती है। भारत का विशाल तट और हिन्द महासागर क्षेत्र में इसकी स्थिति समुद्री सुरक्षा को अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम बनाती है, जिसमें समुद्री डकैती, समुद्री मार्गों की सुरक्षा और नौसैनिक शक्ति का प्रसार और

प्रक्षेपण शामिल है। भारत की बढ़ती ऊर्जा माँग और आयात पर निर्भरता ऊर्जा सुरक्षा को एक महत्त्वपूर्ण चिन्ता बनाती है। यह अन्ततः इसकी विदेश नीति और वैश्विक साझेदारियों को प्रभावित करती है। (उपाध्याय, 23 जुलाई, 2025, TOI) जलवायु परिवर्तन, जल की कमी और प्राकृतिक आपदाएँ जैसे और अधिक ज्वलन्त मुद्दे क्षेत्र में गैर-पारम्परिक सुरक्षा खतरों के रूप में सम्भावित रूप से मान्यता प्राप्त हैं। इसका क्षेत्र में मानव सुरक्षा और स्थिरता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत मानव सुरक्षा, गरीबी उन्मूलन, स्वास्थ्य सुरक्षा और खाद्य सुरक्षा के मुद्दों से लगातार जूझ रहा है। अन्त में, इन्हें देश में समग्र राष्ट्रीय स्थिरता बनाये रखने के लिए अभिन्न अंगों के रूप में मान्यता दी गयी है। ये भारत की प्राचीन बुद्धिमत्ता के साथ भी मेल खाते हैं, जो राज्य को बाहरी और आन्तरिक दोनों खतरों से बचाने की बात करते हैं।

ब्रायन फॉन्सका और एडुआर्डो ए. गमार्रा की पुस्तक 'सिक्योरिटी इन द अमेरिकास इन द ट्वेंटी-फर्स्ट सेंचुरी' (2017) अमेरिका के एक अलग भौगोलिक सन्दर्भ पर केन्द्रित है, लेकिन विभिन्न प्रकार के खतरों की विकसित प्रकृति, क्षेत्रीय सहयोग के महत्त्व और संस्कृति एवं सुरक्षा की परस्पर क्रिया पर उनका जोर भारत की सुरक्षा चुनौतियों के अनुभवों के साथ सम्बन्ध रखता है। भारत भी अन्तरराष्ट्रीय अपराध से जूझता है। इसके लिए सैन्य प्रतिक्रियाओं से परे एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है और इसके लिए अलग-अलग रणनीतियों की आवश्यकता है। मजबूत खुफिया संग्रहण और साझा करने की गम्भीर प्रणाली की आवश्यकता है। यह आज की सुरक्षा चुनौतियों के लिए प्रासंगिक है, जैसा कि अमेरिका के विभिन्न देशों के सन्दर्भ में चर्चा की गयी है।

भारत में समकालीन आन्तरिक सुरक्षा चुनौतियाँ

अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अपनी बढ़ती प्रतिष्ठा के बावजूद, भारत को आन्तरिक सुरक्षा चुनौतियों के एक समूह से जूझना पड़ता है। यह इसकी विशाल जनसंख्या, बहु-जातीय संरचना और जटिल सामाजिक-राजनीतिक गतिशीलता से उत्पन्न होता है। (गांगुली, 16 जून, 2025, इंडियन सेंचुरी) ऐसी चुनौतियाँ कई बाहरी कारकों के साथ गहराई से उलझी हुई हैं। यह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए एक समग्र दृष्टिकोण को उजागर करता है जो पारम्परिक सीमा सुरक्षा मुद्दों

और गैर-पारम्परिक आन्तरिक सुरक्षा चुनौतियाँ दोनों को सम्बोधित करना चाहिए। स्वतन्त्रता के बाद से राष्ट्रीय एकता पर जोर इस सन्दर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह दर्शाता है कि आन्तरिक एकजुटता और सामंजस्य बाहरी शक्ति और स्थिरता के लिए अति आवश्यक है।

महत्त्वपूर्ण आन्तरिक सुरक्षा चुनौतियों में से एक देश के भीतर जातीय समूहों द्वारा हिंसक राजनीतिक जुटाव है। इसमें नये प्रान्तों या राज्यों और 'मिट्टी के पुत्रों' के लिए नीतियों की माँग शामिल है। यह अक्सर आन्दोलन और अशान्ति की ओर ले जाता है। जम्मू और कश्मीर में निरन्तर परेशानी है, जो पाकिस्तान समर्थित राजनीतिक जुटाव और अलगाववादी एजेंडे से प्रेरित है। जम्मू और कश्मीर में लम्बे समय से विद्रोह का इतिहास रहा है, जिसे अक्सर पाकिस्तान आधारित इस्लामवादी समूहों द्वारा जिहाद के रूप में देखा जाता है। इस स्थिति ने लक्षित हत्याओं और राज्य में निरन्तर अस्थिरता को जन्म दिया है। पंजाब राज्य में एक स्वतंत्र खालिस्तान के लिए हिंसक अलगाववादी अभियान भारत में एक और ज्वलन्त मुद्दा है। यह आन्दोलन भारत और विदेशों में गतिविधियों के साथ फिर से उभरा है, जिसने कुछ देशों के साथ कूटनीतिक तनाव को जन्म दिया है। (गांगुली, 16 जून, 2025, इंडियन सेंचुरी) भारत के पूर्वोत्तर में बढ़ती जातीय और राजनीतिक अशान्ति एक और मुद्दा है जो महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप माँगता है। यह क्षेत्र कुछ हद तक आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है और विभिन्न जनजातियों, अन्तर-जातीय संघर्षों और ऐतिहासिक प्रवास से सम्बन्धित मुद्दों के कारण अलगाववादी विद्रोहों का सामना करता रहा है। एक अन्य आन्तरिक चुनौती माओवादी आन्दोलन की तीव्रता और क्षेत्रीय प्रसार है, जो ग्रामीण गरीबी, शोषण और कृषि सुधारों के कार्यान्वयन की विफलता में शामिल है। यह विद्रोह कई राज्यों में फैल गया है और आदिवासी क्षेत्रों में एक समानान्तर राज्य की स्थापना के साथ राज्य के वैध प्राधिकरण को चुनौती देता है। एक अन्य सुरक्षा चुनौती भारतीय मुस्लिमों में बढ़ती इस्लामी कट्टरता है। यह ऐतिहासिक रूप से निहित साम्प्रदायिक तनावों, अफगानिस्तान में सोवियत-विरोधी जिहाद जैसे क्षेत्रीय घटनाक्रमों और वैश्विक जिहादी विचारधाराओं के उदय से प्रेरित है, जो प्रायोजित आतंकी गतिविधियों से प्रभावित है। (गांगुली, 16 जून, 2025, इंडियन सेंचुरी)

निष्कर्ष

इस प्रकार, भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा ने कई उतार-चढ़ावों के बाद ठोस आकार लिया है। इसने प्राचीन राज्य-कौशल और बुद्धिमत्ता से लेकर आधुनिक जटिलताओं और चुनौतियों तक निरन्तर विकास के साथ आकार लिया है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में व्यक्त कुछ मूलभूत सिद्धान्त सैन्य, आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक आयामों को समाहित करने वाले एक समग्र दृष्टिकोण पर जोर देते हैं, जिसमें विदेश नीति के प्रति व्यावहारिकता शामिल है। इसलिए ये आधुनिक समय में भी महत्त्वपूर्ण निरन्तरता और महत्त्व को दिखाते हैं। हमारी प्राचीन भारतीय बुद्धिमत्ता, जो अहिंसा और धर्म युद्ध के नैतिक विचारों के साथ युग्मित है, एक परिष्कृत रणनीतिक संस्कृति की ओर मार्गदर्शन करती है, जो नैतिक बाधाओं के निर्देशन में कठोर शक्ति को सन्तुलित करने में सक्षम है। मध्यकालीन काल राजनीतिक विखंडन और कई बाहरी आक्रमणों द्वारा चिह्नित था जो केन्द्रीकरण और सैन्य अनुकूलन के महत्त्व को उजागर करता है। यह संगठन, प्रौद्योगिकी और रणनीति में नवाचारों की ओर ले जाता है जो दिल्ली सल्तनत की स्थायी सेना से लेकर मराठा के गोरिल्ला युद्ध तक दिखायी देता है। ऐसी ऐतिहासिक अनुकूलनशीलता देश में रक्षा उन्नयन और आधुनिकीकरण के लिए एक मिसाल के रूप में स्थापित होती है। औपनिवेशिक काल ने क्षेत्र में साम्राज्यवादी हितों की सेवा के लिए भारत के सुरक्षा तंत्र की पुनर्रचना की। जिसने विदेशी उद्देश्यों और युद्धों को पूरा करने के लिए भारतीय संसाधनों का शोषण किया। इसने भारतीय राष्ट्रवाद के उदय को जन्म दिया, जिसने एक अलग सुरक्षा चिन्ताओं को व्यक्त किया और देश में स्वतन्त्रता के बाद की विदेश नीति को आकार दिया। गुट-निरपेक्षता भारत की प्रारम्भिक विदेश नीति थी जो सैन्य खर्च को कम करने से सम्बन्धित थी। इस औपनिवेशिक विरासत ने सैन्य शक्ति के प्रति गहरा सन्देह पैदा किया जिसने प्रारम्भिक नीति निर्णयों को प्रभावित किया।

स्वतन्त्रता के बाद की यात्रा ने उभरते और गतिशील सुरक्षा वातावरण के प्रति एक व्यावहारिक और अनुकूल प्रतिक्रिया द्वारा आकार लिया है। कुछ

प्रारम्भिक चुनौतियाँ विभाजन और सीमा विवादों से उत्पन्न हुईं। इससे एक मजबूत रक्षा प्रतिष्ठान का गठन हुआ। चीन और पाकिस्तान के साथ प्रमुख संघर्षों और युद्धों ने देश में सैन्य विस्तार और आधुनिकीकरण में बदलावों के लिए उत्प्रेरक और अनुस्मारक के रूप में कार्य किया। 1962 के चीन के साथ युद्ध ने महत्त्वपूर्ण रक्षा निर्माण को प्रेरित किया और 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध ने अधिक मुखर क्षेत्रीय भूमिका की ओर रणनीतिक बदलाव को चिह्नित किया। 1998 में परमाणु शक्ति की स्पष्ट घोषणा और 1999 के कारगिल युद्ध ने भारत की रणनीतिक सोच को और परिष्कृत किया। इसने परमाणु तंत्र के तहत सीमित युद्ध के सिद्धान्त की स्थापना और भविष्य में किसी भी अप्रिय घटना का मुकाबला करने के लिए उन्नत खुफिया क्षमता की ओर ध्यान केन्द्रित किया। आज, भारत गुट-निरपेक्षता से बहु-संरेखण (मल्टी अलाइनमेंट) या सर्व-संरेखण (ऑल अलाइनमेंट) की रणनीति की ओर बढ़ गया है; यह क्षेत्र में अपने आर्थिक और रणनीतिक हितों को सुरक्षित करने के लिए विविध वैश्विक खिलाड़ियों के साथ सहभागिता पर जोर देता है। इसे देश के मजबूत रक्षा आधुनिकीकरण और नवाचार कार्यक्रमों, हथियार आपूर्तिकर्ताओं के विविधीकरण और रक्षा उत्पादों के स्वदेशी विनिर्माण पर अधिक ध्यान में देखा जा सकता है। भारत की विकसित समुद्री सुरक्षा रणनीति एक शुद्ध सुरक्षा प्रदाता के रूप में सक्रिय भूमिका निभाती है। भारत की साइबर सुरक्षा में प्रगति बाहरी खतरों के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण को उजागर करती है। साथ ही, भारत देश के भीतर जटिल आन्तरिक सुरक्षा चुनौतियों से जूझता रहता है, जिसमें जातीय जुटाव, अलगाववादी आन्दोलन, विद्रोह और कट्टरता शामिल हैं। यह बाहरी ताकतों और निहित स्वार्थों से और अधिक उलझा हुआ और प्रभावित हुआ है। आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा चुनौतियों की निरन्तर परस्पर क्रिया भारत के लिए एक समग्र और व्यापक सुरक्षा रणनीति की आवश्यकता है।

इसलिए, हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा एक गतिशील संरचना है। यह भारत की समृद्ध ऐतिहासिक विरासत, प्रचलित भू-राजनीतिक वास्तविकताओं और आन्तरिक और बाहरी खतरे की धारणाओं की जटिल क्रिया द्वारा निरन्तर आकार लेती है और प्रभावित होती है।

प्राचीन बुद्धिमत्ता और विचार से प्रेरणा और शक्ति लेते हुए, सदियों के संघर्ष, युद्ध और अनुकूलन से सबक के साथ, भारत ने वैश्विक विश्व व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की है और वैश्विक सुरक्षा क्षेत्र में तेजी से आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रहा है।

हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना
छत्रपति शिवाजी महाराज

छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्म 1627 में दक्कन क्षेत्र के जुन्नार के पास शिवनेरी किले में, में हुआ था। शिवाजी उस समय पैदा हुए थे जब मुगल और बीजापुर जैसे राज्यों का पतन लगभग कगार पर था। बचपन में उनको अपने पिता शाहजी भोसले द्वारा बहुत ज्यादा प्रेम नहीं मिल पाया। उनका पालन उनकी माता जीजाबाई और भरोसेमन्द प्रशासक दादाजी कोंडदेव की देख-रेख में पुणे में हुआ था। उन्होंने ही उनमें संयम, अनुशासन और न्याय करने का कौशल भरा था। उनके प्रारम्भिक कार्य हिन्दू भावना और संस्कृति के प्रति प्रेम से बहुत अधिक प्रभावित थे, जबकि उनकी स्कूली शिक्षा बहुत ही कम थी। उनके जीवन पर उनकी माँ जीजाबाई का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है, जिन्होंने उनके चरित्र-निर्माण, कौशल-विकास और नैतिक विकास में एक अनोखा योगदान दिया। दादाजी कोंडदेव ने भी शिवाजी के जीवन निर्माण में अहम भूमिका निभाई। कोंडदेव ने शिवाजी को कृषि सुधार, सम्पत्ति प्रबन्धन कौशल और न्याय की शिक्षा दी। कम उम्र में भी उन्होंने न्याय के प्रति प्रेम, साहस, और एक मजबूत हिन्दू के रूप में अपनी पहचान स्थापित की। इन सबके पीछे दादाजी कोंडदेव और जीजाबाई की अहम भूमिका रही है। पश्चिमी घाट क्षेत्र में लगातार लोगों से वार्तालाप ने उनके व्यक्तित्व को और निखारने का कार्य किया और उन्होंने कम उम्र में अनेक लोगों का सम्मान और निष्ठा अर्जित कर ली।

शिवाजी ने लगभग 19 वर्ष की आयु से ही नियंत्रण स्थापित करना शुरू कर दिया था। 1646 में उन्होंने तोरण किले पर नियंत्रण स्थापित कर लिया

जब उनकी आयु सिर्फ 19 साल की थी। धीरे-धीरे उन्होंने पुणे क्षेत्र पर अपना दबदबा बनाया और अपने पिता की जागीर को और भी मजबूत किया। समय के साथ, उन्होंने कई अन्य किलों पर कब्जा कर लिया जो रणनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने उत्तर कोंकण क्षेत्र में भी अपना प्रभुत्व जमाया और अपने क्षेत्र का विस्तार किया। 1650 के मध्य तक शिवाजी पुणे, मावल क्षेत्र के कुछ हिस्से और कई किलों को अपने आधिपत्य क्षेत्र में मिलाने में सफल रहे। यही क्षेत्र उनके बाद के साम्राज्य की आधारशिला बनी। शिवाजी के कार्यों से नाखुश होकर बीजापुर ने उनके पिता शाहजी को बंदी बना लिया। लेकिन शिवाजी ने फिर अपना कौशल दिखाया और मुगल शहजादा मुराद की सहायता से और अपने रणनीतिक कौशल से बीजापुर से अपने पिता को रिहा करवा लिया। बीजापुर का पतन शिवाजी के लिए एक सुनहरा अवसर था। इससे शिवाजी को अपने साम्राज्य को स्थापित करने में बल और दिशा दोनों मिल गये। शिवाजी ने अपने इर्द-गिर्द भरोसेमन्द अधिकारियों की नियुक्ति की और प्रशासन का काम दिया।

शिवाजी एक महान व्यक्तित्व के रूप में भारत के लिए प्रेरणास्त्रोत रहे हैं। उनका संघर्ष और देश के प्रति बलिदान एक अध्याय की तरह है, जिसे हर भारतवासी आत्मसात करना चाहेगा और उनका अनुसरण करके जीवन में उच्चतम सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। लगभग 20 साल की उम्र में ही उन्होंने अपना लक्ष्य तय कर लिया था और उसको प्राप्त करने के लिए उन्होंने अथक प्रयास भी किये। उनका जीवन एक विरासत के रूप में रणनीतिक दृष्टि और महत्त्वाकांक्षा को दर्शाता है। शिवाजी एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के रूप में तब उभरे जब हिन्दुओं के लिए माथे पर तिलक लगाना भी दुष्कर था। वे एक सुरक्षा कवच की तरह सामने आते हैं और मुगलों के खिलाफ विकल्प के रूप में देखे जाते हैं। शिवाजी और उनके पुत्र औरंगजेब के लिए खिलाफत का प्रतिबिम्ब बनकर सामने आते हैं। शिवाजी को हम भारत के सन्दर्भ में और सुरक्षा की दृष्टि से उनके महत्त्वपूर्ण योगदान से समझ सकते हैं। राष्ट्र और सुरक्षा की दृष्टि से उनके योगदान को कुछेक दिये हुए महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से समझा जा सकता है जिनकी आधुनिक भारत में अहम भूमिका रही है—

शिवाजी महाराज की गोरिल्ला युद्ध नीति और सुरक्षा रणनीति

शिवाजी महाराज सैन्य प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। उन्होंने पारम्परिक युद्ध के जगह पर कुछ विशेष सैन्य रणनीतियाँ अपनाने का प्रयत्न किया। मुगल, आदिलशाही और अन्य विरोधियों के खिलाफ उन्होंने चपलता, अचानक आक्रमण और भौगोलिक लाभ जैसे अवसरों का लाभ उठाकर उन्हें हराने का प्रयास किया। उनकी युद्ध नीति मुख्यतः गोरिल्ला नीति (गनिमी कावा) से प्रभावित थी। इस नीति की वजह से वे आज विश्व के सबसे बड़े छापामार युद्ध रणनीतिकारों में शामिल हैं। गनिमी कावा में अचानक आक्रमण, अचानक वापसी और शत्रु के मन में भय उत्पन्न करना आदि शामिल था। इस तकनीक से मराठाओं की सेना की छोटी टुकड़ी भी बड़े सैनिक दल को भारी नुकसान पहुँचाने में सक्षम थी। मराठा सेना छोटी टुकड़ियों में बँटी होती थी जिसके कारण उनकी रफ्तार तेज होती थी और वे मुगल सेना को काफी नुकसान पहुँचाते थे, जो प्रायः धीमे चलने वाली होती थी।

अगर हम किलों की रणनीति के बारे में बात करें तो शिवाजी महाराज ने किलों को एक अहम हिस्सा समझा था, सुरक्षा की दृष्टि से। उन्होंने 300 से अधिक किलों का निर्माण, पुनर्निर्माण और कई किलों का अधिग्रहण किया। इन किलों ने अन्त में उनकी सैन्य रणनीति में मुख्य भूमिका निभाने का काम किया। किलों के भी अलग-अलग प्रकार थे और उनकी भूमिका भी अलग थी। मुख्य रूप से तीन प्रकार के किले हुआ करते थे—(1) गिरिदुर्ग या पहाड़ी किले ऊँचाई पर स्थित होते थे जिन्हें भेदना दुश्मन के लिए कठिन होता था; इनमें राजगढ़, रायगढ़ और प्रतापगढ़ आदि शामिल थे; (2) जलदुर्ग या समुद्री किले पश्चिमी क्षेत्र में थे जिनका मुख्य उद्देश्य विदेशियों के आक्रमण से सुरक्षा था; इनमें मुख्य रूप से सिंधुदुर्ग और विजयदुर्ग आदि शामिल थे; (3) भूमिदुर्ग या मैदानी किलों का प्रयोग व्यापार मार्ग और आपूर्ति सुरक्षा के लिए किया जाता था; इनमें पल्हना और पुरंदर आदि किले मुख्य रूप से शामिल थे। इन किलों की मुख्य विशेषताएँ थी—गुप्त द्वार और अनेक प्रवेश द्वार। इनका प्रयोग दुश्मन की घेराबंदी के समय किले से सुरक्षित निकलने के लिए किया जाता था। इसका उद्देश्य दुश्मन को लम्बे समय तक घेराबंदी में फँसाकर रखना था; किलों की दीवारें बहुत मजबूत होती थीं ताकि दुश्मन

उसे भेद न पायें। इन किलों में आवश्यक भंडारगृह और शस्त्रागार के लिए जगह होती थी। इन किलों का इस्तेमाल अक्सर सुरक्षा और छापामार युद्ध के लिए किया जाता था।

शिवाजी महाराज की सेना छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटी होती थी, जो अन्य मुगल सेना और हाथी सेना से अलग थी। मुगल सेना बड़ी संख्या में होने के कारण अक्सर धीमी गति से चलती थी। इसके विपरीत, शिवाजी की सेना जल्दी से पलायन कर सकती थी और अचानक आक्रमण करने में सक्षम थी। शिवाजी की सेना में बर्गी और शिलेदार (घुड़सवार सेना) छापामार आक्रमण के लिए मुख्य रूप से प्रयोग किये जाते थे। पैदल सेना तलवार, भाला, धनुष और बन्दूक का प्रयोग करती थी। कुछ स्वतंत्र युद्ध दल भी होते थे जो मुख्य रूप से दुश्मन की चाल को बाधित करते थे। इन सबको दुरुस्त रखने के लिए निरन्तर प्रशिक्षण चलता रहता था। इन विशेषताओं ने मराठा सेना को मुगल सेना से श्रेष्ठ बना दिया था।

शिवाजी महाराज की सैन्य सफलता के पीछे एक और महत्त्वपूर्ण तंत्र था, और वह थी उनकी संगठित गुप्तचर व्यवस्था (इंटेलीजेंस)। इनको विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता था ताकि ये दुश्मन की हर गतिविधि और चाल पर नजर रख सकें। गुप्तचरों को अलग-अलग जगहों पर भेजा जाता था, जैसे कि मुगल, आदिलशाही एवं अन्य रियासतों में। ये गुप्तचर ग्रामीण और व्यापारियों से महत्त्वपूर्ण सूचना एकत्रित करते थे और दुश्मन के पत्रों को रोककर उनकी गतिविधि का पता लगाते थे। इन विधियों से शिवाजी महाराज ने कई युद्धों में समय के अनुसार दुश्मन को हराया।

अगला सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था नौसेना का होना। कोंकण और पश्चिमी घाट की ओर विदेशियों की गतिविधियों को भाँपते हुए, शिवाजी ने भारत की पहली संगठित नौसेना का निर्माण किया। उनकी नौसेना के लिए कल्याण, विजयदुर्ग और रत्नागिरी आदि जगहों पर युद्धपोत बनाये जाते थे; सिन्धुदुर्ग और विजयदुर्ग जैसी जगहों को नौसेना अड्डे के रूप में विकसित किया गया था; सुरक्षा की दृष्टि से विशेष प्रकार की तोपों से लैस जहाज और तेज चलने वाले जहाजों का निर्माण किया गया था तथा इनके माध्यम से विदेशी ताकतों पर नजर रखी गयी थी और अन्ततः उन पर नियंत्रण रखा जाता था। इन योजनाओं और प्रबन्धन के तहत नौसेना के माध्यम से कोंकण की रक्षा

विदेशी ताकतों से की गयी। इन सभी योजनाओं का आज भी सुरक्षा की दृष्टि से उपयोग किया जाता है।

हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना और उसकी प्रशासनिक व्यवस्था

शिवाजी महाराज एक महान योद्धा होने के साथ-साथ एक महान प्रशासक भी थे। शिवाजी ने हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना करने का प्रयास किया जिसमें न्याय, कुशल प्रशासन और आर्थिक समृद्धि सब कुछ प्राप्त किया जा सके। उन्होंने अपने हिन्दवी स्वराज्य को समावेशी, प्रगतिशील और सुव्यवस्थित आधारशिला देने का प्रयास किया, जिससे देश में विकास और स्थिरता को प्राप्त किया जा सके। इस प्रयास में, शिवाजी महाराज का उद्देश्य एक ऐसा राज्य स्थापित करना था जो विदेशियों के हस्तक्षेप और प्रभाव से मुक्त हो। शिवाजी का विशेष ध्यान मुगल और दक्कनी सुल्तानों पर हुआ करता था।

शिवाजी के सामने अनेकों चुनौतियाँ थीं, जैसे अपने काल में तेज रफ्तार से बढ़ रहे औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों की शक्ति; दक्कनी सुल्तानों जैसे आदिलशाह और निजामशाह आदि का महाराष्ट्र के बड़े भूभाग पर आधिपत्य होना; विदेशी शक्तियाँ जैसे पुर्तगालियों और ब्रिटिशों का समुद्री क्षेत्रों में नियंत्रण होना; और अपने क्षेत्र के स्थानीय सामन्तों (देशमुख) आदि का अत्यधिक शक्तिशाली होना जो अक्सर लाचार किसानों का शोषण करते रहते थे।

हिन्दवी स्वराज्य के लिए शिवाजी महाराज ने अनेक सुधारवादी और क्रान्तिकारी कदम उठाये। जिसके तहत युद्ध नीति से उन्होंने तोरण, राजगढ़ और कोंकण इत्यादि किलों को जीतकर एक क्षेत्रीय नियंत्रण स्थापित किया। उन्होंने देशमुख और सामन्ती व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया तथा उनको मराठा राज्य के अधीन कर लिया। उन्होंने प्रत्यक्ष शासन पर जोर दिया ताकि जनता से जुड़ाव बना रहे। इसके साथ-साथ राज्य का कोष हमेशा भरता रहे, इसके लिए उन्होंने स्थानीय उद्योग, व्यापार, कृषि आदि क्षेत्रों को प्रोत्साहन प्रदान किया। इन तमाम प्रयासों से उन्होंने हिन्दवी स्वराज्य की नींव रखी जो मराठा मूल्यों पर आधारित था और भारत को एक सशक्त राष्ट्र के रूप में पुनर्स्थापित करने का प्रयास कर रहा था।

प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए उन्होंने अष्टप्रधान मंडल (आठ मंत्रियों का परिषद्) की स्थापना की। इसमें हरेक मंत्री को एक विशेष कार्य के लिए नियुक्त किया जाता था। इससे शासन व्यवस्था दुरुस्त और व्यवस्थित चलती रही। मंत्रियों में पेशवा अग्रणी थे जो प्रधानमंत्री का पद सँभालते थे और उनका प्रमुख कार्य प्रशासन, नीति और राज्य के मामलों को देखना होता था। अमात्य जो कि वित्त मंत्री थे, कोष, कर प्रणाली और राजस्व की देखभाल करते थे। सचिव दस्तावेज, पत्राचार अदि का कार्यक्षेत्र देखते थे। मंत्री जो कि गृह मंत्री के समतुल्य थे, आन्तरिक सुरक्षा और गुप्तचर विभाग सँभालते थे। सेनापति युद्ध नीति और सैन्य प्रबन्धन देखने का कार्य करते थे। सुमंत को विदेश मंत्री भी कहा जाता था, जो विदेशी राज्यों के साथ कूटनीति आदि कार्यों का निर्वहन करते थे। न्यायाधीश न्याय प्रणाली को देखते थे और कानूनी विवादों का निपटारा करते थे; और पंडित राव धार्मिक और सांस्कृतिक मंत्री थे जो धार्मिक नीति और शिक्षा का निरीक्षण करते थे। अष्टप्रधान प्रणाली ने मराठा राज्य को सशक्त बना दिया था। इसका मुख्य कारण था दायित्वों का विकेन्द्रीकरण, जिससे शक्ति और कार्य का आवंटन सुनिश्चित होता था। यह प्रणाली इतनी प्रभावी थी कि इसका संचालन शिवाजी महाराज के बाद भी लगातार चलता रहा। शिवाजी महाराज की धार्मिक नीति बहुत ही उदार थी। उन्होंने सारे धर्मों का सम्मान किया; उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम स्थलों को समान रूप से महत्त्व दिया। साथ ही सभी को समान धार्मिक और आर्थिक लाभ देने का प्रयास किया।

अष्टप्रधान मंडल के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था थी कर प्रणाली और राजस्व की। इस प्रणाली को शिवाजी जी ने जितना जनहितकारी हो बनाने का प्रयास किया। इसके सन्दर्भ में प्रमुख कदम था जागीरदारों और जमींदारों को हटाकर किसानों को प्रत्यक्ष रूप से राज्य या सरकार से जोड़ना। हर क्षेत्र में जमीनों को चावर के द्वारा मापा जाता था। मापने वाला डंडा पाँच मुट्ठी लम्बाई का होता था। हर गाँव की भूमि को इस प्रकार मापा गया था कि उनके लिए उचित कर का निर्धारण किया जा सके। शिवाजी की कर प्रणाली में विभिन्न कर शामिल थे, जैसे कि चौथ (25%) और सरदेशमुखी (10%) आदि। चौथ को मुगल और आदिलशादी नियंत्रण वाले क्षेत्रों में लगाया जाता था और बदले में उन्हें सैन्य सुरक्षा दी जाती थी। सरदेशमुखी को मराठा क्षेत्र

में आने वाले लोगों से वसूला जाता था। किसानों से प्रत्यक्ष कर वसूला जाता था तथा बिचौलियों को समाप्त कर दिया गया था। कर व्यवस्था के अलावा, शिवाजी महाराज ने कृषि को बढ़ावा देने के लिए जल संचयन और सिचाई प्रणाली को बढ़ावा दिया। इन नीतियों का प्रभाव यह हुआ कि किसानों पर कम भार पड़ता था तथा मुगलों के अपेक्षा ये ज्यादा न्यायसंगत थीं। इस प्रकार कर के माध्यम से राज्य के कोष में भी वृद्धि देखी गयी जिसने प्रशासन को और मजबूत करने में अहम् भूमिका निभायी और अन्य क्षेत्रों जैसे कृषि, उद्योग और व्यापार में बढ़ोतरी का कारण बनी। इन तमाम सुधारों से हिन्दवी स्वराज्य को स्थिरता और एक निश्चित दिशा मिली।

शिवाजी महाराज की सैन्य शक्ति भी एक अनोखी मिसाल है रणनीति और सूझ-बूझ की। जब उन्होंने अपनी सैन्य पारी की शुरुआत की थी तब उनके पास महज 1,200 घुड़सवार (पागा) और 200 निजी घुड़सवार (सिलहदार) थे, लेकिन जावली के विजय (1655) के बाद उन्होंने अपनी शक्ति को संगठित करके अपनी सेना को शक्तिशाली रूप देने का प्रयास किया। इस युद्ध के बाद घुड़सवारों की संख्या 7,000 हो गयी और 3,000 निजी घुड़सवार (सिलहदार) हो गये। उन्होंने 7,000 पठानों की सेना भी खड़ी की। अफजल खान की मौत के बाद, शिवाजी महाराज ने 7,000 पागा, 8,000 सिलहदार और 12,000 की इन्फेंट्री सेना खड़ी की जिससे उनकी सेना एक अत्यन्त शक्तिशाली सेना के रूप में उभरकर सामने आयी। उनकी मृत्यु के समय उनके पास 45,000 पागा, 60,000 सिलहदार और एक लाख इन्फेंट्री सेना थी। इससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाते हुए उसे सुरक्षित और सन्तुलित रखा। इसका मुख्य कारण था रणनीतिक सेना भर्ती और सेना को क्षति से बचाते हुए युद्ध में जीत हासिल करना।

अक्सर कहा जाता है कि हिन्दवी स्वराज्य की नींव उसकी सशक्त सैन्य व्यवस्था में निहित थी। शिवाजी महाराज ने एक प्रभावशाली और सशक्त सेना का गठन किया था, जो हिन्दवी स्वराज्य के विस्तार के लिए कारगर साबित हुआ। इसको गठित करने के लिए शिवाजी ने अनेक बदलाव और संशोधन किये। इसके लिए स्थायी और वेतन वाले सैनिकों को नियुक्त किया गया जिससे स्थिरता मिली; तेज छापामार युद्ध के लिए घुड़सवार सेना का गठन किया गया; किलों की सुरक्षा और निगरानी के लिए पैदल सैनिकों का

चयन किया गया; युद्ध के लिए बन्दूकची और तोपची का चयन किया गया; यूरोपीय शत्रुओं से निपटने के लिए प्रभावी नौसेना का चुनाव किया गया। इन सारे सुधारों से हिन्दवी स्वराज्य की सुरक्षा सुनिश्चित की गयी जिससे स्वराज का विस्तार सम्भव हुआ और स्थायित्व बना रहा।

सेना के संगठन के अलावा अगर हम उनके नागरिक प्रशासन पर ध्यान केन्द्रित करें तो हमें अनेकों विशिष्ट बातों का पता चलता है जो आज के आधुनिक प्रशासन के लिए कारगर साबित हो सकती हैं। शिवाजी के प्रशासन में हर किले को तीन महत्त्वपूर्ण अधिकारियों के नियंत्रण में रखा गया था, जैसे कि हवलदार, सबनीस और सर-ए-नौबत, जो संगठित होकर एक साथ कार्य करते थे। किसी भी किले को किसी एक अधिकारी के भरोसे नहीं छोड़ा जाता था। इससे विश्वासघात और गद्दारी की सम्भावना लगभग ना के बराबर थी। हवलदार अक्सर मराठा होता था और सबनीस प्राय: एक ब्राह्मण होता था। भंडार और राशन का अक्सर एक कायस्थ अधिकारी के रखरखाव में होता था। हर किले के हवलदार को इतनी शक्ति दी जाती थी कि वह किसी भी कनिष्ठ अधिकार को हटा सकता था तथा सीलबंद पत्र अपने वरिष्ठ अधिकारियों को लिख सकता था। इन सारे प्रबन्धों से नागरिक प्रशासन सुचारु रूप से चलता रहा। इसमें सैन्य बल और पुलिस का आपस में तालमेल था जिससे कोई दुविधा नहीं होती थी।

मुगलों, आदिलशाही और निजामशाही से शत्रुता होने के बावजूद, शिवाजी महाराज ने अपनी धर्म निष्पक्षता और सहिष्णुता को नहीं छोड़ा। उन्होंने कभी भी जजिया जैसे धार्मिक कर को नहीं लगाया और किसी भी धर्म या समुदाय के प्रति भेदभाव नहीं किया। उन्होंने मुगलों के विपरीत, धार्मिक स्थलों की सुरक्षा की, चाहे वे किसी भी धर्म या समुदाय के हों। हिन्दवी स्वराज्य में उन्होंने मुसलमानों को भी अहम् भूमिका दी; इसकी मिसाल सिद्धी हिलाल और दौलत खान जैसे मुस्लिम सेनापतियों का उच्च पद पर नियुक्त किया जाना था। इस तरह शिवाजी ने एक समृद्ध, सहिष्णु और प्रभावशाली राज्य की कल्पना की और उसकी स्थापना भी की। अन्य शब्दों में, शिवाजी का हिन्दवी स्वराज्य न केवल एक राज्य था बल्कि राष्ट्रीय गौरव, आत्मनिर्भरता और जनकल्याण का प्रतिबिम्ब था। जिससे प्रेरणा लेकर आज भी आधुनिक भारत अपनी सुरक्षा और उन्नति को सुनिश्चित कर सकता है।

मुगलों और अन्य आक्रमणकारियों के विरुद्ध उनकी सैन्य रणनीति

शिवाजी महाराज की सैन्य रणनीति प्रभावी योजना और प्रबन्धन का मिश्रण थी। उन्होंने विषम युद्ध, किले-आधारित रक्षा प्रणाली, छापामार युद्ध और कुशल कूटनीति का सफल प्रयोग किया। इन युद्ध योजनाओं से उन्होंने शक्तिशाली मुगल, आदिलशाही, सिद्धी, पुर्तगाली और अंग्रेज जैसे शत्रुओं का सामना किया। शिवाजी द्वारा किले का रणनीतिक प्रयोग, तीव्र और गतिशील सैनिकों का प्रयोग काफी कारगर साबित हुआ जिससे शत्रुओं के मन में एक मनोवैज्ञानिक भय पैदा हुआ। शिवाजी की विषम युद्ध शैली ने मराठा राज्य को काफी बल प्रदान किया। इस युद्ध शैली में एक छोटी सी सेना की टुकड़ी असामान्य रणनीति का प्रयोग करके बड़े सैन्य दल को चकमा दे देती थी और उन्हें अस्त व्यस्त कर देती थी, जिससे उनकी हार हो जाती थी। इस युद्ध शैली में अचानक हमला करके गायब हो जाना अथवा वापस चले जाना शामिल था। इस तरकीब से मुगल और आदिलशाही सेना परेशान हो जाती थी। शिवाजी प्रत्यक्ष युद्ध से बचने का प्रयास करते थे जिससे कम-से-कम मराठा सैनिक मारे जायें। दुश्मनों पर अचानक आक्रमण किया जाता था और चौकन्ना होकर वहाँ से निकलना होता था। बड़ी सेना की कमजोर कड़ी पर आक्रमण करना होता था जिससे दुश्मन का मनोबल न बढ़ने पाये। दुश्मन के रास्ते नष्ट करना, उनकी रसद प्रणाली नष्ट करना आदि युद्ध रणनीति में शामिल थे। विषम युद्ध के उदाहरण में प्रतापगढ़ का युद्ध (1659) शामिल है, जिसमें शिवाजी ने आदिलशाह के सेनापति अफजल खान पर अचानक हमला करके उसकी सेना को हरा दिया था; विषम युद्ध नीति के तहत उन्होंने अपने-आप को आगरा के कैदखाने (1666) से बचाया। इसी युद्ध नीति का प्रयोग करके उम्बरखिंड के युद्ध (1661) में उन्होंने पश्चिमी घाट की सँकरी पहाड़ियों का प्रयोग करके मुगल सेनापति करतलब खान को हराया था।

शिवाजी महाराज की किला नीति युद्ध की दृष्टि से मराठा राज्य की रीढ़ की हड्डी के समान थे। उन्होंने किलों के निर्माण, कब्जे और उनकी किलेबंदी करके एक नयी प्रणाली विकसित की थी। इन किलों का उपयोग खासकर गोरिल्ला युद्ध के लिए किया गया। किलों को अक्सर युद्ध का मुख्यालय बनाया जाता था। किलों का उपयोग करके अक्सर शत्रुओं को

थकाया जाता था ताकि उन्हें आसानी से हराया जा सके। रणनीतिक दृष्टि से किलों के भी कई प्रकार थे, जिसकी व्याख्या पहले भी की जा चुकी है। किलों में गिरि दुर्ग या पहाड़ी दुर्ग, जल दुर्ग या समुद्री किले और भू दुर्ग या मैदानी किले मुख्यतः शामिल थे। इन किलों में आने-जाने के अनेक गुप्त प्रवेश द्वार होते थे; जल संचय प्रणाली होती थी। दीवारें मजबूत होती थीं; तोपों से लैस होते थे और चौकियों व गुप्तचर व्यवस्था का उचित प्रयोग होता था।

शिवाजी महाराज की युद्ध नीति में कूटनीतिक कौशल और रणनीतिक सन्धियों और गठबन्धन की अहम भूमिका थी। कुछ सन्धिया विशेष थीं, जैसे कि मुगलों के खिलाफ उन्होंने गोलकुंडा के कुतुबशाह सुल्तान से सन्धि की; पुरंदर की सन्धि (1665) में उन्होंने अस्थायी रूप से 23 किले सौंप दिये, लेकिन इससे उन्हें अपनी सेना संगठित करने के लिए काफी समय मिल गया; आगरा की जेल से वे अपनी कूटनीति से भाग निकले। उन्होंने पुर्तगालियों से भी सन्धि की जिससे उनका जल मार्ग का व्यापार सुरक्षित रहे और उनकी नौसेना मजबूत रहे। इस सब सन्धियों का प्रभाव यह हुआ कि उनके दुश्मन भी एक साथ नहीं आ पाये और उनके खिलाफ एक संगठित मोर्चा नहीं खोल पाये। सन्धियों के माध्यम से समय प्राप्त करके उन्होंने अपनी स्थिति को मजबूत बनाया और अपनी शक्ति को संगठित किया। इसी दौरान व्यापार के माध्यम से उन्होंने नये सैन्य संसाधन भी प्राप्त किये।

शिवाजी की रणनीतियों के सफल होने के अनेकों कारण थे—उनमें मुख्य रूप से शामिल थे दुश्मन की कमजोरियों को पहचानना और उसके अनुसार योजना बनाना; प्रत्यक्ष टकराव से हमेशा बचना और गोरिल्ला युद्ध नीति का प्रयोग करना; समय को बचाते हुए अपनी रक्षा प्रणाली मजबूत करना तथा कूटनीति और सन्धि से दुश्मनों को एकजुट ना होने देना। इन सबको अगर ध्यान में रखा जाये तो यह निष्कर्ष निकलता है कि शिवाजी महाराज की युद्ध नीति आज के भारत के लिए प्रेरणा है, जिसे आत्मसात करके हम आधुनिक भारत को सुरक्षित और समृद्ध बना सकते हैं।

हिन्दवी स्वराज्य का आधुनिक राष्ट्रीय सुरक्षा पर प्रभाव और प्रयोग

शिवाजी महाराज का जीवन और उनकी रणनीति आधुनिक भारत के लिए एक अभिन्न अध्याय के समान है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

शिवाजी की दूरदर्शी नेतृत्व क्षमता और सैन्य रणनीति आज के आधुनिक भारत के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। शिवाजी की रक्षा नीति, खुफिया तंत्र, किले की सुरक्षा इत्यादि आधुनिक भारत के लिए महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हैं।

भारत की आधुनिक सैन्य रणनीति शिवाजी महाराज की अनेकों तकनीकों का प्रयोग करती हैं। आतंकवाद विरोधी मुहिम में भारतीय सेना और अर्ध-सैनिक बल कश्मीर हो या उत्तर-पूर्व अपने गोरिल्ला और छापामार युद्ध प्रणाली का उच्चतम प्रयोग करते हैं। यह प्रणाली शिवाजी महाराज की छापामार युद्ध शैली से ही प्रेरित है। भारत के अनेक जगहों पर जंगल युद्ध नीति या पर्वत युद्ध नीति में सैनिकों को इस प्रकार के युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जाता है, जो शिवाजी महाराज के युद्ध नीति से ही प्रेरित है। भारत की आधुनिक विशेष सैन्य बल टुकड़ी शिवाजी महाराज की नीति का ही पालन करती है जिसमें सेना की टुकड़ी छोटी परन्तु प्रभावी होती है। इसके माध्यम से शत्रु को अधिक नुकसान पहुँचाया जाता है। आज इसमें मुख्य रूप से स्पेशल फोर्स, नेशनल सिक्योरिटी गार्ड और मार्कोस कमांडो होते हैं। इनके माध्यम से आतंकवादियों से प्रभावी तरीके से निपटा जाता है।

आधुनिक खुफिया तंत्र भी कहीं न कहीं शिवाजी महाराज के खुफिया तंत्र से प्रभावित है। आज रॉ (रिसर्च एंड एनालिसिस विंग) और आईबी (इंटेलिजेंस ब्यूरो) भी शिवाजी की अनेकों विधियों को अपनाकर अपना कार्य करता है, जिसमें उनकी जासूसी प्रणाली काफी प्रभावी है। इसके अलावा, राज्य की पुलिस और अर्धसैनिक बल भी स्थानीय खुफिया तंत्र को मजबूत करने के लिए इनका प्रयोग करते हैं। सीमा निगरानी और रखरखाव दूसरा पहलू है जो शिवाजी के खुफिया तंत्र से प्रभावित है। इसमें सीमा की निगरानी अनेकों माध्यमों और आधुनिक मशीनों द्वारा की जाती है। शिवाजी महाराज ने हमेशा खुफिया तंत्र को प्राथमिकता दी, जिससे सुरक्षा प्रणाली काफी सुदृढ़ हो जाती। इस पद्धति को आज भी आधुनिक राष्ट्रीय सुरक्षा में प्रयोग किया जाता है।

शिवाजी महाराज की मैदानी सुरक्षा प्रणाली को भी आधुनिक भारत की सुरक्षा प्रणाली में विशेष स्थान दिया जाता है। उदाहरण के लिए, शिवाजी के अनेकों किले और चौकियाँ आज भी सैन्य ठिकानों के रूप में उपस्थित हैं, जिनका प्रयोग सैन्य सुरक्षा में किया जाता है। शिवाजी के पहाड़ी किलों और बंकरों की तर्ज पर भारतीय सेना पाकिस्तान और चीन की सीमा पर इनका

निर्माण आज भी करती है। शिवाजी की प्रहरी प्रणाली का आज भी प्रयोग किया जाता है, बशर्ते कि आज आधुनिक संचार तकनीक का भी साथ में प्रयोग किया जाता है, जैसे ड्रोन, सेटेलाइट इत्यादि।

नौसेना के क्षेत्र में शिवाजी महाराज का विशेष योगदान रहा है। आज की आधुनिक नौसेना बहुत हद तक उनका अनुसरण करती है। समुद्री और सीमा सुरक्षा के लिए नौसेना अक्सर शिवाजी द्वारा विकसित की गयी प्रणाली को ही आधार बनाती है। शिवाजी के समुद्री किलों की तर्ज पर भारतीय नौसेना ने आई.एन.एस. शिवाजी और करवार नौसेना बेस बनाने का प्रयास किया है, जिससे समुद्री सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके। इन प्रणालियों के माध्यम से हिन्द महासागर पर भारत का एक विशेष रणनीतिक नियंत्रण स्थापित है, जो कि भारत के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह स्थिति भारत को न सिर्फ एक सैनिक शक्ति के रूप में दर्शाता है, बल्कि एक नौसैनिक शक्ति के रूप में भी विश्व में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

शिवाजी महाराज की धार्मिक और सांस्कृतिक नीति व आधुनिक भारत

शिवाजी महाराज की धार्मिक और सांस्कृतिक नीति ने हिन्दवी स्वराज्य को केन्द्र में रखा जिसमें एक-दूसरे के प्रति सम्मान और आदर शामिल था। उन्होंने मुगलों से मतभेद और द्वंद्व होने के बावजूद किसी मुस्लिम को उसके धर्म के लिए प्रताड़ित या उसके धर्म परिवर्तन पर बल नहीं दिया। शिवाजी की धार्मिक और सांस्कृतिक नीति बिना किसी धर्म को हानि पहुँचाए हिन्दू पुनर्जागरण पर केन्द्रित थी। आज भारत में लाखों और हजारों मन्दिर सैकड़ों वर्षों से सुरक्षित हैं इसका मुख्य कारण शिवाजी जैसे योद्धा और संरक्षक हैं। उन्होंने मन्दिरों और पुजारियों को संरक्षण प्रदान किया; ध्वस्त मन्दिरों का पुनर्निर्माण कराया; मन्दिरों को राजकीय सहायता प्रदान की। उन्होंने अपना राज्याभिषेक वैदिक रीति-रिवाजों से करवाया, जिससे हिन्दू सत्ता का पुनरुत्थान सम्भव हुआ।

शिवाजी महाराज ने मुगलों की तरह जजिया कर नहीं वसूला। उन्होंने मुस्लिम नागरिकों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दी जिसमें मस्जिदों व दरगाहों की सुरक्षा की गयी; उनकी सेना में कई महत्त्वपूर्ण पदों पर मुस्लिम नियुक्त किये गये थे। शिवाजी ने गैर-हिन्दुओं के धर्मान्तरण का कोई प्रयोग नहीं

किया, सबको अपना धर्म मानने की स्वतन्त्रता थी। उन्होंने मुगलों और पुर्तगालियों के बलपूर्वक धर्म परिवर्तन का भी कड़ा विरोध किया। शिवाजी ने अपनी सेना को सख्त आदेश दिये कि कोई भी बच्चा, बूढ़ा, महिला और धार्मिक स्थल आहत ना हो और उन्हें हानि ना पहुँचायी जाये। शिवाजी के लिए सन्त और सूफी फकीर काफी महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने समर्थ गुरु रामदास, तुकाराम और वरकीरी सम्प्रदाय के सन्तों का खूब आदर-सत्कार किया और उनके विचारों को भी अपनाया। उन्होंने हिन्दू होने के बावजूद मुस्लिम सूफी-सन्तों को बराबर आदर और सम्मान दिया तथा दरगाहों और मस्जिदों को संरक्षण प्रदान किया।

सांस्कृतिक नीति में शिवाजी महाराज ने मुख्यत: मराठी और भारतीय गरिमा, हिन्दू परम्परा और क्षेत्रीय गौरव को पुनरुज्जीवित किया। इससे भारत के नागरिकों को आत्मबल और साहस मिला। उन्होंने फारसी के स्थान पर मराठी को अपनी प्रशासन व्यवस्था की भाषा बनाया; इससे आमजन के लिए प्रशासन सुगम हो गया। संस्कृत को भी प्रोत्साहन मिला जिससे धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थों को सँजोया जा सके और उन्हें आमजन मानस तक पहुँचाया जा सके। हिन्दू परम्पराओं को खासकर बढ़ावा दिया गया और प्रोत्साहित किया गया।

कला और साहित्य के क्षेत्र में भी शिवाजी का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने भारतीय भाषा के अनेक कवियों और साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान किया, जिसमें मुख्य रूप से मराठी और संस्कृत कवि थे। इसके अतिरिक्त, हिन्दू धर्मशास्त्र, ग्रन्थ और कथाओं को समान संरक्षण प्रदान किया गया। उनके दरबारी कवि थे परमानन्द और कवीन्द्र, जिन्होंने हिन्दू राज्य की महिमा का गुणगान किया था। दरबारों की वेशभूषा में भी सुधार किया गया। उन्होंने स्वदेशी पहनावे को प्रोत्साहित किया। मराठी संस्कृति को बचाये रखने के लिए उन्होंने पारम्परिक पगड़ी और धोतर को प्रोत्साहित किया। उत्सवों और सांस्कृतिक समारोह आयोजित किये गये जिनमें भारतीय सभ्यता, संस्कृति, विधा और कौशल को बढ़ावा दिया गया। गणेश चतुर्थी और होली को हर्षोउल्लास के साथ मनाया गया ताकि वे हिन्दू एकता को बनाये रखने में कारगर साबित हों। सैन्य विजय और राज्य के समारोह अक्सर इन धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सवों के साथ मनाया जाते थे।

मुगल धार्मिक नीति की तुलना में शिवाजी की धार्मिक और सांस्कृतिक नीति अधिक समावेशी और सहिष्णु थी। औरंगजेब ने जजिया कर लगाया, लेकिन शिवाजी ने कोई धार्मिक कर किसी भी धर्म के ऊपर नहीं लगाया। मुस्लिमों ने फारसी को राजभाषा बनाया, लेकिन शिवाजी ने मराठी और संस्कृत को अपनाया और बढ़ावा दिया। शिवाजी की धार्मिक नीति में सकारात्मकता देखने को मिली। उन्होंने हिन्दुओं को अलग ऊर्जावान पहचान दी तथा मराठा और भारतीय संस्कृति के गौरव को बढ़ाया। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहित किया जिससे साम्प्रदायिक सौहार्द को बनाये रखा जा सके। इन सब योजनाओं से भारतीय परम्परा और संस्कृति को आत्मबल मिला और उसका उत्साहवर्धन हुआ। हालाँकि, शिवाजी भी आलोचना से अछूते नहीं थे। ब्राह्मण समुदाय के कुछ लोगों ने उनके राज्याभिषेक का विरोध किया, क्योंकि वे उन्हें क्षत्रिय नहीं मानते थे, उनको आक्रामक धार्मिक नीति न अपनाकर रक्षात्मक नीति अपनाने के लिए भी कोसा गया लेकिन इन सबके बावजूद, शिवाजी का स्थान एक महान योद्धा और शूरवीर के रूप में भारत के गौरवशाली इतिहास में हमेशा के लिए दर्ज है।

निष्कर्ष

शिवाजी महाराज की प्रासंगिकता आधुनिक भारत के लिए और भी बढ़ जाती है जब हम अनेकों सीमाओं पर अलग-अलग प्रकार की चुनौतियों का सामना कर रहे होते हैं। शिवाजी द्वारा विकसित की गयी विभिन्न युद्ध शैलियाँ और सुरक्षा प्रणालियाँ भारत के लिए एक सैन्य उपहार हैं जो बहुमूल्य हैं और जिनका सदुपयोग एक समृद्ध और सुरक्षित भारत के निर्माण में किया जा सकता है। उनके समावेशी विचार, युद्ध शैली, धार्मिक सहिष्णुता, नागरिक प्रबन्धन और प्रशासन, नौसेना प्रबन्धन, राजनयिक कूटनीति इत्यादि का उपयोग करके भारत को एक नयी दिशा दी जा सकती है। उनकी सहिष्णु नीति और सर्वधर्म समभाव की भावना और योजना भारत को एक सूत्र में जोड़ने का काम कर सकती है और उसका अनुसरण करके भारत को एक समृद्ध, शक्तिशाली और प्रभावी राष्ट्र के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है।

स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है...
बाल गंगाधर तिलक

लोकमान्य का पूरा नाम बाल गंगाधर तिलक था और जनता ने उन्हें प्रसिद्ध होने के कारण 'लोकमान्य' की उपाधि दी थी। उनका जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी में हुआ था। वे एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और उनके पिता श्री गंगाधर रामचन्द्र तिलक पेशे से एक शिक्षक थे। तिलक ने 1877 में पुणे के डेक्कन कॉलेज से गणित में स्नातक की डिग्री प्राप्त की थी और 1879 में बॉम्बे के गवर्नमेंट लॉ कॉलेज से कानून की पढ़ाई (एल.एल.बी.) की थी। शिक्षा सुधार के प्रति उनके जुनून और जोश ने 1880 में उन्हें न्यू इंग्लिश स्कूल और 1884 में डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया, जिसके माध्यम से उन्होंने फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना की। इसका उद्देश्य राष्ट्रवादी आदर्शों को बढ़ावा देने तथा राष्ट्रहित को बढ़ावा देने में संलग्न करना था।

अनेकों उपाधियों के अतिरिक्त, वे विभिन्न विषयों जैसे इतिहास, संस्कृत, खगोलशास्त्र, गणित इत्यादि में भी पारंगत थे। उन्होंने स्वंतंत्रता संग्राम में अपनी प्रतिभा और कौशल का भरपूर प्रयोग किया था। लोकमान्य स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भिक और गिने-चुने मुख्य नेताओं में से एक थे और वे 'लाल-बाल-पाल' चर्चित त्रिमूर्ति का हिस्सा भी थे। उनका दिया हुआ प्रसिद्ध नारा 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' ने भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना की एक अनोखी लहर जगा दी थी। एनी बेसेंट के साथ मिलकर 1914 में उन्होंने इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की थी और उसके बाद 1916 में मुहम्मद अली जिन्ना के साथ लखनऊ समझौते में भी

भाग लिया था। लोकमान्य तिलक के प्रयासों से लखनऊ अधिवेशन को हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने वाले अधिवेशन के नाम से भी जाना जाता है।

लोकमान्य के योगदान अनगिनत हैं। लेकिन स्वतन्त्रता के दौरान उनका गणेश उत्सव और शिवाजी जयन्ती जैसे सार्वजनिक उत्सवों का योजनाबद्ध तरीके से मंचन कराना अपने-आप में अलग महत्त्व रखता है। इसके माध्यम से जनमानस में आजादी के प्रति एक विशेष प्रकार की चिंगारी उत्पन्न हुई। इसके द्वारा उन्हें सामाजिक एकजुटता को अप्रत्याशित रूप से बढ़ावा देने में मदद मिली। उन्होंने दक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना करके भारतवर्ष में स्वदेशी शिक्षा का स्तर बढ़ाया और स्वदेशी को प्रोत्साहित करने का अथक प्रयास किया। उनके प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'केसरी' और 'मराठा' ने अंग्रेजी शासन के खिलाफ जनमत तैयार करने में अहम भूमिका निभाई थी।

लोकमान्य की मृत्यु 1 अगस्त, 1920 को हुई, लेकिन उनकी विचारधारा और लेखनी ने भारत के स्वतन्त्रता संग्राम को नयी दिशा और ऊर्जा प्रदान की। गांधीजी ने उन्हें 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा था, जबकि अंग्रेज उन्हें 'भारतीय अशान्ति का पिता' मानते थे। ये दोनों वाक्य उनके प्रभाव और व्यक्तित्व की जटिलता को दर्शाते हुए उनके व्यक्तित्व की विशेषता की ओर इंगित करते हैं। बालगंगाधर तिलक को 'लोकमान्य' की उपाधि से सुशोभित किया गया, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'लोगों द्वारा स्वीकृत व्यक्ति', जो जनमानस को प्रिय है और जिसका जनता सम्मान करती है।

लोकमान्य को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का जनक माना जाता है, क्योंकि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम पूर्ण स्वराज की बात रखी थी। उनके प्रसिद्ध नारे 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' (जो 1916 में दिया गया), से खासकर युवा वर्ग काफी प्रभावित और प्रोत्साहित हुआ और इससे स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक गति मिली।

1908 में तिलक को क्रान्तिकारियों के समर्थन में अखबारों में लिखने के लिए गिरफ्तार कर लिया गया और 6 साल की सजा सुनाई गयी। उन्हें बर्मा की मांडले जेल में रखा गया जहाँ अपने समय का सदुपयोग करते हुए उन्होंने 'गीता रहस्य' नामक 400 पन्ने की पुस्तक लिखी, जो 'भगवद्गीता' के दार्शनिक और नैतिक पहलुओं पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

इस पुस्तक के माध्यम से हम तिलक की बौद्धिक समझ और गहराई को देख सकते हैं। 1914 में उन्होंने इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की जो स्वशासन की माँग को और मजबूत करने का एक विशेष प्रयास था। 1916 में उन्होंने मुहम्मद अली जिन्ना के साथ लखनऊ समझौते में भाग लिया, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

तिलक का राष्ट्रवाद और स्वराज की अवधारणा

विभिन्न इतिहासकारों ने तिलक को अक्सर कट्टर राष्ट्रवादी की श्रेणी में रखा। लेकिन तिलक ने राष्ट्रवाद और स्वशासन को केवल एक राजनीतिक लक्ष्य नहीं बनाया, बल्कि इसे एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आन्दोलन के तौर पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। इससे जनमानस को आत्मबल और आत्मसम्मान दोनों प्राप्त हुआ। तिलक का हमेशा यही मानना था कि हरेक भारतीय नागरिक को अपनी संस्कृति, इतिहास और परम्पराओं का सम्मान करते हुए राष्ट्रवाद को बढ़ावा देना चाहिए। सिर्फ यही एक रास्ता है जिसके माध्यम से भारत अंग्रेजी औपनिवेशिक दासता से मुक्त हो पायेगा और एक सशक्त राष्ट्र बन पायेगा। तिलक ने राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति से जोड़ने का अथक प्रयास भी किया। इससे हर भारतवासी को आत्मबल और आत्मशक्ति मिलती रहेगी।

गणेश चतुर्थी और शिवाजी जयन्ती जैसे आयोजन सामाजिक एकता और राष्ट्रीय चेतना को बढ़ाने के लिए थे, लेकिन इससे कभी-कभी गैर-हिन्दू समुदायों से दूरी भी उत्पन्न हुई। इसके अलावा, तिलक ने स्वदेशी शिक्षा को राष्ट्रवाद का एक महत्त्वपूर्ण हथियार बनाने का प्रयास भी किया था। उदाहरण के लिए, डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी और फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना के माध्यम से उन्होंने युवाओं में राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार-प्रसार करने का प्रयास किया था। अपने समाचार-पत्रों के माध्यम से उन्होंने जनता को अंग्रेजी शासन की नीतियों के खिलाफ जाग्रत करने का प्रयास भी किया। तिलक ने भारतीयों में आत्म-सम्मान और स्वाभिमान की भावना को बढ़ाने का अथक प्रयास किया। वे हर भारतीय को सशक्त बनाना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजी शासन को एक विदेशी जुल्म के रूप में और भारतीय इतिहास के

गौरवशाली अतीत (जैसे शिवाजी और पेशवाओं के शासन) को प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिससे आम नागरिक अपने-आप को अंग्रेजों से कमतर न समझें।

तिलक की स्वराज की अवधारणा राजनीतिक स्वतन्त्रता से कहीं अधिक थी। उनका दृष्टिकोण समग्र था, जिसमें आत्मनिर्भरता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार इत्यादि भी शामिल थे। उनके लिए स्वराज केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति नहीं था, बल्कि यह भारतीयों द्वारा अपने देश का सम्पूर्ण नियंत्रण और आत्मनिर्णय का अधिकार था। तिलक ने इसे एक नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य के रूप में देखने का प्रयास किया, जिसका आधार भारतीय संस्कृति और भारतीय मूल्य हों। राष्ट्रीय कांग्रेस में तिलक ने उदारवादी नेताओं की प्रार्थना और याचिका नीति का कड़ा विरोध किया था। उनका विश्वास था कि स्वराज सिर्फ सक्रिय प्रतिरोध, जन-आन्दोलन और अंग्रेजी शासन के खिलाफ दबाव के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकेगा। इस दृष्टिकोण की वजह से उन्हें चरमपंथी (गरम दल का नेता) के रूप में देखा जाने लगा।

इस आन्दोलन के माध्यम से वे स्वराज को एक लोकप्रिय माँग बनाने में सफल रहे थे। स्वराज की प्राप्ति के लिए तिलक ने सामाजिक एकता को हमेशा आवश्यक माना। 1916 के लखनऊ समझौते में उन्होंने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहयोग स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई थी, जो स्वराज की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम था। तिलक ने अपने राष्ट्रवाद और स्वराज की अवधारणा से भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक नयी दिशा दी। उनके अथक प्रयासों ने जनता को राजनीतिक रूप से सक्रिय किया और स्वतन्त्रता के लिए एक मजबूत आधार बनाया। लेकिन उनके हिन्दू-केन्द्रित विचारों को कुछ आलोचकों ने बहुत ही संकीर्ण माना। चाहे जो भी हो, तिलक का राष्ट्रवाद और स्वराज की माँग भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की नींव थी। उन्होंने हर भारतीय को अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करना और स्वशासन के लिए पूरी शक्ति से लड़ना सिखाया। उनकी विचारधारा ने न केवल उस समय के नेताओं को प्रभावित किया, वह बल्कि भविष्य के स्वतन्त्रता सेनानियों जैसे महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस और अनेक युवा नेताओं के लिए भी एक प्रेरणास्रोत बनी।

सदानन्द मोरे की किताब 'लोकमान्य से गांधी' के सन्दर्भ में देखें तो तिलक का विचार स्वराज को न केवल एक राजनीतिक लक्ष्य के रूप में देखता है, बल्कि हर भारतवासी के मूलभूत अधिकार के रूप में देखता है। तिलक का मत था कि अंग्रेजों से स्वशासन की माँग कोई दया या भीख नहीं है, बल्कि यह हमारा जन्म से प्राप्त अधिकार है और इसे हमें हर हाल में प्राप्त करना चाहिए। मोरे की किताब में तिलक और गांधीजी के विचारों की तुलना के सन्दर्भ में, तिलक का दृष्टिकोण गांधीजी के स्वराज के विचार से कुछ अलग था। जहाँ तिलक स्वराज को तत्काल और पूर्ण स्वतन्त्रता के रूप में देखते थे, जिसमें अंग्रेजी शासन के खिलाफ सक्रिय प्रतिरोध और आन्दोलन शामिल हो, वहीं गांधीजी ने स्वराज को व्यक्तिगत और सामुदायिक आत्म-अनुशासन के साथ जोड़ने का प्रयास किया था। तिलक के लिए स्वराज एक जन्मसिद्ध अधिकार था जिसे पाने के लिए बल का प्रयोग भी उचित था, वहीं दूसरी ओर गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा के माध्यम से प्राप्त करने के पक्ष में थे।

तिलक का सांस्कृतिक और धार्मिक राष्ट्रवाद

तिलक स्वतन्त्रता आन्दोलन के एक ऐसे प्रभावी नेता थे जिन्होंने सांस्कृतिक और धार्मिक राष्ट्रवाद का भारतीय जनमानस के बीच प्रसार करने का अथक प्रयास किया, जो आगे चलकर स्वराज के आन्दोलन के लिए एक प्रमुख हथियार और आधार बन सका। तिलक का राष्ट्रवाद भारतीय संस्कृति, परम्पराओं और हिन्दू धर्म के गौरवशाली इतिहास में निहित था और उसी से प्रेरित भी था। तिलक ने सांस्कृतिक और धार्मिक प्रतीकों का सदुपयोग करके जनमानस को एक धागे में पिरोने का कार्य किया और अंग्रेजी राज के खिलाफ एक शक्तिशाली राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करने का प्रयास किया।

तिलक का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भारतीय पहचान को पुन: जाग्रत कर अंग्रेजी दासता से आजादी के लिए एक आधार प्रदान करता है। उनका विश्वास था कि भारतीय संस्कृति और इतिहास का गौरव ही लोगों में आत्म-सम्मान और आत्मबल जगा सकता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने अनेकों तरकीबें अपनायीं, जैसे कि सार्वजनिक उत्सवों का उपयोग इत्यादि।

इन उत्सवों से उन्होंने सामाजिक एकता, राष्ट्रीय जागरूकता और अंग्रेजी शासन विरोधी भावनाओं को समर्थन प्रदान किया। इसी प्रकार, उन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज की जयन्ती को मानकर शिवाजी महाराज को एक राष्ट्रीय नायक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जो विदेशी आक्रांताओं के खिलाफ एक प्रेरणा थे।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने के लिए तिलक ने शिक्षा और संस्कृति के माध्यम का सहारा लिया। डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी और फर्ग्यूसन कॉलेज के जरिये उन्होंने युवाओं में भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति प्रेम और गर्व की भावना विकसित करने का अथक प्रयास किया था। अपने समाचार-पत्रों के माध्यम से उन्होंने भारतीय परम्पराओं और इतिहास की महिमा का प्रचार किया, साथ ही अंग्रेजी शासन की नीतियों की पुरजोर आलोचना भी की। इसके अतिरिक्त, उन्होंने भारत के अनेकों ऐतिहासिक नायकों और प्रतीकों को राष्ट्रीय गौरव के स्रोत के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यह सांस्कृतिक पुनर्जागरण भारतीयों को यह विश्वास दिलाने का एक प्रयास था ताकि वे अपने-आप को एक महान सभ्यता के वंशज के रूप में देख सकें और यह विश्वास कर सकें कि वे स्वयं को शासित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, तिलक ने हिन्दू धर्म के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भगवद्गीता' को राष्ट्रीय संघर्ष से जोड़ने का प्रयास किया। मांडले जेल में उनके द्वारा लिखी गयी कृति 'गीता रहस्य' में वे कर्मयोग को निस्वार्थ कर्म और स्वराज के लिए संघर्ष से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उनका मानना था कि गीता का सन्देश न केवल आध्यात्मिक है, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक उत्थान के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उनकी इस व्याख्या का उद्देश्य हिन्दू धर्म को राष्ट्रीय चेतना का एक अभिन्न हिस्सा बनाना था। तिलक का विश्वास था कि धार्मिक भावनाएँ जनता को संगठित और एकत्रित करने का सबसे प्रभावी माध्यम हैं। उनके लिए स्वराज केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं थी, बल्कि एक आध्यात्मिक अवधारणा भी थी। वे कहते थे कि भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के मूल्य ही स्वराज की नींव बनेंगे। तिलक की यह विचारधारा भारतीय समाज को नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सशक्त बनाने का निस्वार्थ और अनोखा प्रयास था।

महाराष्ट्र में उभर रही इस क्रान्तिकारी चेतना के साथ-साथ राजनीतिक स्तर पर भी उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में तिलक का उदय हुआ, उन्होंने अंग्रेजी शासन के खिलाफ सक्रिय प्रतिरोध की नीति अपनाई। उनका मत था कि स्वराज की प्राप्ति के लिए एक संगठित और प्रत्यक्ष राजनीतिक संघर्ष परम आवश्यक है। कांग्रेस में उन्हें उग्रवादी खेमे का नेता माना जाता था। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण आयामों को बढ़ावा देने का भरपूर प्रयास किया। तिलक का यह दृष्टिकोण गांधीजी के अहिंसात्मक प्रतिरोध से बिल्कुल अलग था, क्योंकि तिलक अधिक उग्र प्रयास के पक्षधर थे।

तिलक के लिए स्वराज केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं था, बल्कि वे इसे सामाजिक न्याय, आर्थिक आत्मनिर्भरता और शिक्षा के प्रसार के रूप में भी देखते थे। इस विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए, उन्होंने अनेकों संस्थानों और सोसाइटी की स्थापना कर शिक्षा को बढ़ावा देने का प्रयास किया और अपने समाचार-पत्रों 'केसरी' और 'मराठा' के माध्यम से जनमानस में चेतना बढ़ाने का अथक प्रयास किया। तिलक का मत था कि सही मायने में स्वराज तभी सम्भव है जब समाज में समग्र विकास और समता स्थापित हो, और अंग्रेज इसके विपरीत कार्यों में लिप्त थे।

अंग्रेजी शासन के खिलाफ तिलक का संघर्ष और राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

तिलक का अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष उनकी निडरता और सांस्कृतिक व बौद्धिक मंचों के उपयोग से प्रेरित था। उन्होंने उदारवादी रवैया अपनाने के बजाय प्रत्यक्ष टकराव की रणनीति का समर्थन किया। उन्होंने अपने समाचार-पत्रों के माध्यम से अंग्रेजी शासन के शोषण को उजागर किया, उनकी नीतियों की आलोचना की और जनता में उनके खिलाफ चेतना पैदा करने का प्रयास किया। 1896-97 के अकाल और प्लेग के दौरान, अंग्रेजी नीतियों पर उनके आलोचना वाले तीखे लेखों ने जनमानस में आक्रोश को भड़का दिया था, जिसके परिणामस्वरूप 1897 में उन्हें राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। उनके अनेक प्रकाशनों ने अंग्रेज विरोधी भावनाओं को एकजुट करने का अथक प्रयास किया। तिलक की अंग्रेजी शासन के

खिलाफ बेबाक आलोचना ने उन्हें बार-बार अंग्रेजी सरकार के निशाने पर लाया। परन्तु वे हार नहीं माने और लड़ते रहे। 1908 में क्रान्तिकारी तत्त्वों का साथ देने और 'केसरी' में क्रान्तिकारियों का बचाव करने वाले लेखों के लिए उन्हें राजद्रोह का दोषी ठहराया गया और छह साल (1908-1914) के लिए मांडले जेल में भेज दिया गया। परिस्थिति विषम होने के बावजूद उन्होंने 'गीता रहस्य' जैसी अद्भुत और प्रभावी किताब लिख डाली, जो कि हिन्दू ग्रन्थों को स्वतन्त्रता संघर्ष से जोड़ने वाली एक दार्शनिक रचना है। इस पुस्तक ने राष्ट्रवादियों को दीर्घकालीन प्रेरणा प्रदान की, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत ही सहायक रही। तिलक स्वदेशी आन्दोलन के बहुत बड़े समर्थक थे। उन्होंने अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी उत्पादों को बढ़ावा देने का जनमानस से आग्रह किया। 1905 के बंगाल विभाजन के दौरान, उन्होंने अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार को आर्थिक विरोध के हथियार के रूप में लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया, जिसने अंग्रेजी व्यवसाय को कमजोर किया और भारतीय आत्मनिर्भरता को बल दिया। इससे स्वदेशी वस्तुओं का निर्माण और उनका देश में बड़े स्तर पर उपभोग भी सम्भावित हुआ।

तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को कुलीन वर्गों के गलियारे से बाहर लाकर आमजन के आन्दोलन में बदल दिया। उनकी स्वराज की परिभाषा और दृष्टिकोण ने आने वाले अनेक आन्दोलनों को प्रेरित किया। 1890 में कांग्रेस में शामिल होने के बाद, तिलक चरमपंथी गुट (गरम दल) के नेता बन गये और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे नरम दल के नेताओं के दृष्टिकोण का कड़ा विरोध किया। 1906 और 1907 के कांग्रेस अधिवेशनों में नरम दल वालों के साथ मतभेदों ने कांग्रेस को विभाजित करने का कार्य किया। इस विभाजन से कट्टरपंथी दल मजबूत हुआ और आन्दोलन को अधिक आक्रामक रणनीतियों की ओर ले जाने का प्रयास किया। 1916 में तिलक ने एनी बेसेंट के साथ मिलकर अखिल भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की, जिसमें अंग्रेजी साम्राज्य के भीतर स्वशासन (डोमिनियन) की माँग की गयी। होमरूल लीग ने रैलियों, पर्चों और सभाओं के द्वारा लाखों लोगों को, खासकर महाराष्ट्र में, जुटाने का और एक साथ लाने का प्रयास किया। तिलक की रणनीतियों ने स्वराज को एक लोकप्रिय माँग बना दिया जिसने शहरी व ग्रामीण भारत को एक धागे में पिरोने का अथक प्रयास किया।

सामाजिक एकता की महत्ता को समझते हुए तिलक ने 1916 के लखनऊ समझौते में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एक गठबन्धन में अहम भूमिका निभाई। इस समझौते के माध्यम से उन्होंने दोनों समुदायों को स्वशासन की माँग के लिए एकजुट किया, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में एक महत्त्वपूर्ण कारगर कदम था। इससे तिलक आक्रामक छवि में कुछ बदलाव भी दिखा, अब वे सिर्फ कट्टरवादी हिन्दू नेता नहीं रहे थे। तिलक द्वारा जनमानस में जागरण, सांस्कृतिक गौरव और आत्मनिर्भरता पर जोर ने महात्मा गांधी जैसे नेताओं को भी प्रभावित किया, जिसके परिणाम स्वरूप असहयोग आन्दोलन में तिलक की बहिष्कार रणनीतियों की झलक दिखाई देती है। तिलक की पुस्तक 'गीता रहस्य' ने क्रान्तिकारियों और उदारवादियों दोनों को समान रूप से प्रेरित किया और स्वतन्त्रता संघर्ष को एक नैतिक और आध्यात्मिक कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

तिलक के अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया रूप प्रदान किया। सांस्कृतिक उत्सवों, समाचार-पत्रों और सार्वजनिक अभियानों के द्वारा उन्होंने स्वराज की लड़ाई को एक जन-आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया। उनकी गिरफ्तारियों ने उनकी लोकप्रियता को बढ़ाने का कार्य किया। 1 अगस्त, 1920 को तिलक के निधन ने एक महान युग का अन्त कर दिया, लेकिन उनकी विरासत हमेशा जीवित रहेगी। गांधीजी के आन्दोलनों की नींव रखने में उन्होंने भूमिका निभाई और अनेकों स्वतन्त्रता सेनानियों को निरन्तर प्रेरित किया। उनकी आत्मनिर्भर और सांस्कृतिक गौरव की दृष्टि ने भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला रखी, जिसकी वजह से उन्हें भारत की स्वतन्त्रता के प्रमुख व्यक्तित्व में रखा जाता है।

तिलक ने सामाजिक सुधार के लिए अनगिनत पहले की, खासकर राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने और मजबूत करने के लिए। तिलक ने गणेश उत्सव और शिवाजी जयन्ती जैसे सार्वजनिक उत्सवों को राष्ट्रीय मंच की तरह इस्तेमाल किया, जिसने सामाजिक सौहार्द और एकजुटता को बढ़ाने में अहम भूमिका निभायी। ये सभी उत्सव न केवल धार्मिक थे, बल्कि इनका सदुपयोग राजनीतिक चेतना और जागरूकता को बढ़ाने तथा अंग्रेजी शासन के खिलाफ एकता बढ़ाने के लिए भी किया गया। तिलक का विश्वास था कि सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करना स्वतन्त्रता संग्राम का एक अहम हिस्सा है।

तिलक का जीवन अनगिनत चुनौतियों और संघर्ष से भरा रहा है। उनके द्वारा लिखे गये लेखों और गतिविधियों के कारण उन्हें अनेकों बार जेल जाना पड़ा। 1908 की जेल की सजा ने तो उनके स्वास्थ्य को ही हिलाकर रख दिया था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि उनकी कुछ नीतियों ने (जैसे हिन्दू राष्ट्रवाद पर जोर) हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रभावित किया, लेकिन लखनऊ समझौता इस दिशा में एक सार्थक कदम था। अंग्रेज तिलक को 'भारतीय अशान्ति का पिता' कहते थे, जो उनके उग्र राष्ट्रवाद को दर्शाता है। महात्मा गांधीजी ने उन्हें 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा, जो उनकी समृद्ध विरासत की ओर इंगित करता है।

तिलक की मृत्यु 1920 में हुई, लेकिन उनकी विचारधारा ने स्वतन्त्रता संग्राम को एक नयी दिशा दी। उन्हें 'लोकमान्य' की उपाधि से सुशोभित किया जाना उनकी लोकप्रियता को दर्शाता है। उनकी पुस्तकें और समाचार-पत्र आज भी उनके बौद्धिक और पत्रकारिता के योगदान को याद कराते हैं। उनकी विरासत और विचारधारा को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। कुछ लोग उन्हें क्रान्तिकारी नेता मानते हैं, तो कुछ लोग उनके सामाजिक सुधार के कार्यों को अधिक महत्त्व देने का प्रयास करते हैं।

तिलक कांग्रेस के गरम दल के नेता के रूप में जाने जाते थे। उनका मत था कि अंग्रेजी राज के खिलाफ आमने-सामने का प्रतिरोध और विरोध आवश्यक है। उन्होंने स्वराज को हर भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार माना। 1905 में जब बंगाल विभाजन हो रहा था तब तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन का पुरजोर समर्थन किया था। इस आन्दोलन का असर इतना गहरा था कि अंग्रेजी अर्थ-व्यवस्था की नींव हिल गयी, जिससे राष्ट्रीय एकता को मजबूती और बल मिला और स्वदेशी को बढ़ावा।

अपने लेखन और पत्रकारिता के कौशल से उन्होंने जनमानस में एक अनोखा आत्मविश्वास भरने का कार्य किया था। उनके द्वारा प्रकाशित विभिन्न लेखों ने अंग्रेजी शासन की नीतियों की जमकर आलोचना की और जनमानस में एक अद्‌भुत चेतना और आत्मविश्वास का संचार किया। समाचार-पत्रों के माध्यम से प्राय: उन्होंने स्वराज के महत्त्व को जनमानस तक प्रभावशाली तरीके से पहुँचाने का प्रयास किया और अंग्रेजी शासन के खिलाफ एकजुट होने की प्रेरणा दी। अपनी लेखनी के वजह से उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा, लेकिन राष्ट्र के प्रति उनका अटूट प्रेम उन्हें आगे बढ़ने का हौसला देता रहा।

तिलक के विचारों का स्वतन्त्रता संघर्ष पर प्रभाव

तिलक की राष्ट्रवादी विचारधारा, स्वराज की अवधारणा, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और जन एकता की रणनीतियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को कुलीन वर्गों की सभाओं से उठाकर जनमानस के समक्ष रखने का प्रयास किया। तिलक के नारों ने भारतीय स्वतन्त्रता को एक नैतिक और वैचारिक लक्ष्य के रूप में स्थापित कर दिया था। इन सबसे उदारवादी प्रार्थनाओं के बजाय सक्रिय प्रतिरोध को बढ़ावा मिला। उनके विचारों ने स्वतन्त्रता संघर्ष को व्यापक, समावेशी और गतिशील आन्दोलन में बदलकर रख दिया। उन्होंने स्वतन्त्रता को केवल राजनीतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जागरण का प्रतीक बनाया। उनकी विरासत ने गांधी, देश के क्रान्तिकारियों और बाद के अनेक नेताओं को प्रेरित किया, जिससे भारत के 1947 में स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। तिलक का प्रभाव आज भी जीवित तिलक का राष्ट्रवाद और स्वराज की अवधारणा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में एक क्रान्तिकारी मोड़ की तरह थी। उनकी विचारधारा ने भारतीय समाज में नयी चेतना का उद्‌घोष किया और स्वतन्त्रता संघर्ष को व्यापक बनाने में मुख्य भूमिका निभाई है, जिसका प्रभाव आज के समय में भी उतना प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण जितना पहले था।

तिलक का आत्मनिर्भरता और स्वशासन के लिए अथक प्रयास

तिलक की दृष्टि में भारतीयों के लिए आत्मनिर्भरता एक शक्तिशाली हथियार था। जिसके माध्यम से हर भारतीय शोषित होने से बचेगा और आत्मविश्वास को बनाये रखेगा। इस विचारधारा के आधार पर उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया, जिसके माध्यम से हर भारतीय नागरिक ने अंग्रेजी वस्तु का बहिष्कार किया और स्वदेशी पर विश्वास करते हुए अपने आत्मविश्वास को बनाये रखा। इससे भारतीय कुटीर और अन्य उद्योगों को बढ़ावा मिला, जोकि आत्मनिर्भरता की ओर एक कदम था। तिलक के दृष्टि में यह केवल एक आर्थिक कदम नहीं था, बल्कि अंग्रेजी शासन के खिलाफ एक संगठित विरोध का हिस्सा था। यह आत्मनिर्भरता और स्वतन्त्रता को जोड़ने वाली एक कड़ी के समान है। उन्होंने जनमानस का आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए

सामाजिक और सांस्कृतिक मंचों का प्रयोग बड़े उत्कृष्ट तरीके से किया। इन मंचों के माध्यम से उन्होंने भारतीयों में सांस्कृतिक पहचान और स्वतन्त्रता की भावना को बढ़ावा दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग राष्ट्रीय संघर्ष और आन्दोलन से ज्यादा से ज्यादा संख्या में जुड़ने लगे। उनकी इस भूमिका ने न केवल समकालीन आन्दोलन को बल दिया, बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बनी है।

तिलक का अन्तिम समय और विरासत

तिलक भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के महान नायक के रूप में जाते हैं, जिन्होंने अपने विचारों, संघर्षों और जनमानस के जागरण के माध्यम से भारत के स्वराज के सपने को साकार करने का प्रयास किया। उनका अन्तिम समय दुखद परिस्थितियों में बीता, लेकिन उनकी विरासत ने स्वतन्त्रता संग्राम को एक नयी दिशा दी और आज भी भारतीय राष्ट्रवाद में जीवित है।

1920 तक के लम्बे समय के कारावास (खासकर 1908-1914 की मांडले जेल की कठिन परिस्थितियों ने) और निरन्तर राजनीतिक गतिविधियों ने उनके स्वास्थ्य को बहुत कमजोर कर दिया था। इसके अतिरिक्त, उनकी पत्नी सत्यभामा की असमय मृत्यु और पारिवारिक जिम्मेदारियों ने भी उन पर भावनात्मक दबाव डाला। होमरूल आन्दोलन (1916-1918) के बाद, तिलक ने अंग्रेजी सरकार की नीतियों के खिलाफ अपनी सक्रियता बढ़ा दी। 1919 में वे लन्दन गये, जहाँ उन्होंने भारत की स्वशासन की माँग को अन्तरराष्ट्रीय मंच पर रखने का प्रयास किया और ब्रिटिश लेबर पार्टी के साथ भारत के मुद्दों के बारे में चर्चा की। हालाँकि, इस यात्रा से उनके स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। 1920 की शुरुआत में, तिलक बॉम्बे (मुम्बई) लौटे, जहाँ उनकी सेहत और तेजी से बिगड़ने लगी और उन्हें मधुमेह व अन्य स्वास्थ्य समस्याओं को झेलना पड़ा। जुलाई 1920 में उनकी स्थिति नाजुक हो गयी और इन समस्याओं के बावजूद, वे जब तक जीवित रहे स्वतन्त्रता संग्राम के लिए समर्पित रहे और अपने अनुयायियों को प्रेरित करते रहे। 1 अगस्त, 1920 को तिलक का बॉम्बे में निधन हो गया। उनकी मृत्यु की खबर ने पूरे देश में शोक की लहर उत्पन्न कर दी। लाखों लोगों ने उनके अन्तिम संस्कार में हिस्सा लिया और उनकी मृत्यु को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक

अपूरणीय क्षति माना गया। महात्मा गांधी, जिन्हें तिलक ने बहुत प्रभावित किया था, ने उनकी मृत्यु को 'राष्ट्र के लिए एक बड़ा नुकसान' कहा था।

तिलक की विरासत स्वतन्त्रता संघर्ष और भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में अमर है। उनके विचारों और प्रयासों ने न केवल उनके समकालीन आन्दोलन को आकार दिया, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणास्रोत बनो। तिलक का स्वतन्त्रता के लिए समर्पण अटूट था। उनकी असमय मृत्यु ने एक युग का अन्त कर दिया, लेकिन उनकी विरासत और प्रेरणा ने स्वतन्त्रता संग्राम को नयी ऊर्जा देने का प्रयास किया। स्वराज, सांस्कृतिक जागरण, जनमानस का जुटाव और आत्मनिर्भरता के उनके विचारों ने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को आकार दिया तथा भावी पीढ़ियों को भी प्रेरित किया। तिलक की विरासत आज भी भारतीय राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक गौरव और स्वाभिमान की भावना में जीवित है, जो उन्हें भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के एक अमर व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती है।

तिलक एक ऐसे नेता थे जिन्होंने स्वतन्त्रता को सिर्फ राजनीतिक माँग नहीं, बल्कि एक आमूलचूल बदलाव का रास्ता बनाया। आज जब हम आत्मनिर्भर भारत की बात करते हैं या सांस्कृतिक गौरव की चर्चा करते हैं, तो तिलक की विचारधारा की गूँज हमें सुनाई देती है। उनका जीवन हमें सिखाता है कि सच्ची आजादी तब मिलती है, जब हरेक नागरिक अपने हक के लिए लड़ना सीख जाये। तिलक सिर्फ एक नाम नहीं, बल्कि एक प्रेरणामयी व्यक्तित्व हैं। उनकी जिन्दगी हमें बताती है कि मुश्किलें कितनी भी बड़ी क्यों न हों, अगर इरादे मजबूत हों तो कोई भी मंजिल दूर नहीं। स्वतन्त्रता संग्राम में उनका योगदान एक मिसाल है, जो आने वाली पीढ़ियों को हमेशा रास्ता दिखाएगी और प्रेरित करती रहेगी।

तिलक की विचारधारा और आज के भारत में उसकी प्रासंगिकता

तिलक की विचारधारा भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय एक प्रेरणास्रोत थी और आज भी इसकी प्रासंगिकता बनी हुई है। उनकी विचारधारा के मुख्य तत्त्व (स्वराज, आत्मनिर्भरता, सांस्कृतिक गौरव और सक्रिय प्रतिरोध) आज के आधुनिक भारत में भी महत्त्वपूर्ण हैं। तिलक ने कहा था, 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।' उनका मानना था

कि स्वशासन के बिना स्वतन्त्रता एक स्वप्न के समान है। उनका पूरा जोर स्वदेशी पर था जिससे जनमानस को हमेशा के लिए आत्मबल मिल सके। आज के भारत का 'आत्मनिर्भर भारत' अभियान तिलक की इस विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है।

वर्तमान भारत में सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित करने और राष्ट्रीय एकता को बल देने के प्रयास जारी हैं। तिलक का यह दृष्टिकोण विविधता से परिपूर्ण भारत में एकता बनाये रखने और उसे जोड़े रखने के लिए प्रासंगिक दिखाई देता है। हालाँकि, इसे और भी बेहतर ढंग से लागू करना आवश्यक है ताकि सभी समुदाय इसमें सामंजस्य बना सकें। आज के भारत में शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। 'सर्व शिक्षा अभियान', 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' और 'डिजिटल इंडिया' जैसे प्रयास तिलक के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को साकार करते हुए नजर आते हैं, जो भारत को स्वदेशी संसाधनों से सशक्त और मजबूत बनाते हैं। शिक्षा को विकास और प्रगति का आधार बनाने वाला उनका विचार आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना पहले था। वर्तमान भारत में सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर नागरिकों की सक्रिय भागीदारी देखी जा सकती है। पर्यावरण संरक्षण, भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन और किसान आन्दोलन जैसे उदाहरण तिलक के सक्रिय प्रतिरोध के विचार को इंगित करते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि तिलक के विचार नि:सन्देह भारत के लिए एक धरोहर है, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम को एक नयी दिशा प्रदान की और अनेक वर्गों को प्रभावित और प्रेरित भी किया, और आज तक कर रह हैं। उनका उग्र राष्ट्रवाद उस समय काल के लिए परम आवश्यक था, जिससे अंग्रेज सबक ले सकें कि भारत के लोग साहसी और निडर हैं और उन्हें लम्बे समय तक गुलाम नहीं बनाये जा सकता। भारत के लोग सक्षम और कुशल हैं, जिससे वे अपनी आपूर्ति के लिए विदेशी व्यापार पर भी निर्भर नहीं हैं। उसी प्रकार, उन्हें विदेशी शासन की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे स्वशासन करने में भी सक्षम हैं। तिलक ने भारतवासियों को आत्मविश्वास से भरने का कुशल कार्य किया और निडर बनाने का हरसम्भव प्रयास किया। शायद, यही उनका सबसे बड़ा योगदान है स्वतन्त्रता संघर्ष और आधुनिक भारत के निर्माण में।

तिलक से गांधी : नेतृत्व का हस्तान्तरण

भारतवर्ष की आजादी में महाराष्ट्र की अहम भूमिका रही है। खासकर, 20वीं सदी की शुरुआत में, जब राष्ट्रीय आन्दोलन की चेतना अपने चरम पर थी। यह वह समय था जब अंग्रेजी शासन के खिलाफ सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों ने अपनी गति पकड़ ली थी। इन सभी आमूलचूल बदलाओं को सदानन्द मोरे अपनी पुस्तक 'लोकमान्य से महात्मा' में बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। साथ वह औपनिवेशिक भारत के सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सांस्कृतिक और बौद्धिक जागरण इत्यादि के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं।

नेतृत्व हस्तान्तरण : एक आघातकारी परिवर्तन

सदानन्द मोरे अपनी किताब 'लोकमान्य से महात्मा' में तिलक की मृत्यु के पश्चात् गांधीजी के पक्ष में नेतृत्व हस्तान्तरण को एक राजनितिक घटना न मानकर उसे एक गहन सांस्कृतिक और सामाजिक आघात के रूप में देखने और प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। मोरे जी का मानना है कि इस परिवर्तन ने महाराष्ट्र के सामाजिक ताने-बाने के गहरे अन्तर्विरोध को सामने लाकर रख दिया। तिलक का नेतृत्व मुख्य रूप से हिन्दू राष्ट्रीयता और उग्र प्रतिरोध पर आधारित था जो मुख्यत: ब्राह्मण और उच्च वर्गों में लोकप्रिय था। इसके इतर, गांधी की अहिंसात्मक और समावेशी दृष्टिकोण ने व्यापक जनमानस, खासकर गैर ब्राह्मण और ग्रामीण समुदायों को आकर्षित करने का प्रयास किया। इस नेतृत्व के हस्तान्तरण से न केवल वैचारिक बदलाव हुए, बल्कि सामाजिक शक्ति के सन्तुलन में भी बदलाव आया। यह बदलाव और हस्तान्तरण बिल्कुल भी आसान नहीं था। इसने तनाव और संघर्ष को भी जन्म दिया।

तिलक और गांधीजी के बीच नेतृत्व हस्तान्तरण से परिवार और समुदाय के स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ा। महाराष्ट्र में तिलक को एक मराठी नायक और ब्राह्मण नेता के रूप में देखा जाता था। इसके विपरीत, गांधीजी की गैर-ब्राह्मणवादी और सर्वधर्म समभाव की नीतियों को शुरू से ही दुविधा की नजर से देखते रहे। इस बदलाव ने परिवारों के भीतर भी मतभेद उत्पन्न कर दिये। पुरानी पीढ़ी तिलक के उग्रवाद से प्रभावित थी, तो युवा पीढ़ी अहिंसा की ओर आकर्षित थी। मोरे जी इन सूक्ष्म सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को उजागर करते हैं, जो महाराष्ट्र में स्वतन्त्रता की कहानी को और कठिन बना देती हैं। इस बदलाव को बेहतर तरीके समझने के लिए आवश्यक है कि दोनों नेताओं और उनकी विचारधाराओं पर एक नजर डाली जाये।

लोकमान्य तिलक : महाराष्ट्र के लिए एक प्रेरणास्त्रोत

तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। चितपावन ब्राह्मण अपनी बौद्धिक और प्रशासनिक क्षमताओं के लिए जाने जाते थे। तिलक के पिता श्री गंगाधर तिलक संस्कृत के विद्वान और शिक्षक थे। तिलक को प्रारम्भिक शिक्षा उनके पिता से ही मिली थी। उनकी माता पार्वती बाई ने उन्हें धार्मिक और नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी। तिलक की शिक्षा और प्रशिक्षण पुणे के डेक्कन कॉलेज में हुआ था, जहाँ उन्होंने गणित और संस्कृत में उच्च स्थान प्राप्त किया। 1877 में उन्होंने स्नातक की पढ़ाई पूरी की और उसके बाद कानून की पढ़ाई की। पश्चिमी शिक्षा ने उन्हें अलग प्रकार से तर्क करना और विश्लेषण करना सिखाया और उनकी चितपावन ब्राह्मण पृष्ठभूमि ने उन्हें हिन्दू दर्शन और परम्परा से मजबूती से जोड़े रखने का कार्य किया।

तिलक सबसे पहले महाराष्ट्र के फिर भारत के एक बहुत ही प्रभावशाली नेता बने। महाराष्ट्र में उन्होंने न केवल एक राजनीतिक नेता के रूप में कार्य किया, बल्कि एक बौद्धिक और सांस्कृतिक मार्गदर्शक के रूप में भी कार्य किया था। उन्होंने स्वराज के विचार को जनमानस तक पहुँचाने का कार्य किया। उनकी रणनीतियों ने महाराष्ट्र को स्वतन्त्रता आन्दोलन और संघर्ष का केन्द्र बना दिया था। तिलक के विचार गीता और छत्रपति शिवाजी महाराज की विरासत से बहुत ही प्रभावित थे। 'गीता' को उन्होंने एक कर्मयोग का

दस्तावेज बनाया, जो निष्काम कर्म और कर्तव्य पर बल देता है। उनकी पुस्तक 'गीता रहस्य' (1915), जो उन्होंने जेल में लिखी थी, में गीता को राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए एक प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। शिवाजी तिलक के लिए स्वशासन, स्वराज और साहस के प्रतीक थे। शिवाजी की गुर्रिल्ला युद्ध नीति और स्वतन्त्रता संग्राम के लिए उनके संघर्ष ने तिलक को अंग्रेजी शासन के खिलाफ मोर्चा सँभालने में मदद की। मराठा गौरव की यह भावना और एहसास उनके सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में स्पष्ट दिखाई देता है। इस भावना ने महाराष्ट्र फिर पूरे देश की जनता को एक सूत्र में बाँधने का कार्य किया।

19वीं सदी का समय महाराष्ट्र में बौद्धिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का काल था। इसके पीछे प्रेरणा के रूप में मराठा साम्राज्य की ऐतिहासिक गौरवगाथा और शिवाजी जैसे वीर योद्धा की विरासत शामिल थी। ज्योतिबा फुले, प्रभाकर पंडित जैसे कई समाज सुधारकों ने जाति-व्यवस्था और असमानता के खिलाफ आवाज उठाई। इससे गैर-ब्राह्मण आन्दोलन को गति और शक्ति मिली। इसके अतिरिक्त, चितपावन ब्राह्मण समुदाय (जिसमें तिलक पैदा हुए थे) ने भी हिन्दू धर्म और संस्कृति के उत्थान में भरपूर सहयोग दिया और उसका नेतृत्व भी किया। अनेकों समाचार-पत्र जैसे कि 'केसरी' और 'मराठा' ने जनमानस के बीच संगठित होने की भूमिका निभाई तथा उन्हें शिक्षित भी किया। गणेश उत्सव और शिवाजी समारोह जैसे जन आयोजनों ने सामूहिक राष्ट्रीय पहचान को मजबूत करने का प्रयत्न किया। यही जागरण आगे चलकर राष्ट्रीयता का आधार बना, जिसने बाल गंधाधर तिलक को लोकमान्य बनाया।

'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' तिलक ने यह प्रसिद्ध नारा दिया था। यही नारा बाद में जाकर भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष का एक शक्तिशाली प्रतीक बन गया। उनके लिए स्वराज केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं था, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आत्मनिर्भरता का एक दर्शन था। तिलक का मानना था कि स्वराज के बिना भारत अपनी पहचान और गरिमा को दुबारा प्राप्त नहीं कर पायेगा। स्वराज अपने-आप में अंग्रेजी शासन के प्रति चुनौती था। तिलक ने स्वराज को एक नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जो हरेक भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार था।

तिलक को गरम दल का नेता माना जाता था। वे उदारवादी नेताओं की प्रक्रिया से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार अंग्रेजी शासन के खिलाफ आक्रामक रवैया ही सही था। 1905 के बंगाल विभाजन के विरोध में हुए स्वदेशी आन्दोलन में तिलक ने अहम भूमिका निभाई। उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का समर्थन किया। इससे अंग्रेजी शासन को धक्का लगा और भारत में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिला। तिलक ने उग्र राष्ट्रवादी युवा और मध्यम वर्ग को बहुत प्रेरित किया। उनकी इस रणनीति ने स्वतन्त्रता संघर्ष को जन-आन्दोलन के रूप में बदलने का काम किया।

तिलक द्वारा सांस्कृतिक जागरण का प्रयास

तिलक ने सांस्कृतिक और सामाजिक आयोजनों को राजनीतिक जागरण का माध्यम बनाया। 1893 में उन्होंने पुणे में गणेश उत्सव का सार्वजनिक मंचन कर विभिन्न समुदायों और जातियों को एक साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। इससे निःसन्देह सामाजिक-सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय चेतना को बल मिला। इस तरह के उत्सवों में नाटक, भाषण, भजन इत्यादि शामिल थे, जिनके माध्यम से स्वराज और स्वदेशी के विचारों का प्रचार-प्रसार किया गया। तिलक ने शिवाजी समारोहों को भी बढ़ावा दिया, जिसने मराठा गौरव और स्वतन्त्रता की भावना को पुनर्जाग्रत करने का कार्य किया। ये सभी आयोजन अंग्रेजी शासन के खिलाफ एक प्रतीकात्मक प्रतिरोध बन गये, क्योकिं ये सभी प्रयास भारत के गौरवशाली इतिहास और संस्कृति को उजागर कर रहे थे।

समाचार-पत्र तथा उनके लेख तिलक के अगले सूची में थे। 1881 में तिलक ने मराठी साप्ताहिक 'केसरी' और अंग्रेजी साप्ताहिक 'मराठा' की शुरुआत की, जिन्हें उन्होंने अपने विचारों को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाया। 'केसरी' ने जनमानस को शिक्षित करने और औपनिवेशिक शासन की नीतियों की आलोचना करने में अहम भूमिका निभाई। तिलक के लेख तीखे, तर्कपूर्ण और प्रेरणा से भरे होते थे। इनके माध्यम से पाठक अपने-आप पर और भारतीय संस्कृति पर गौरवान्वित महसूस करता था। 'केसरी' ने सामाजिक सुधार, स्वदेशी और स्वराज जैसे मुद्दों पर व्यापक विमर्श को

बढ़ावा देने का कार्य किया और महाराष्ट्र की बौद्धिक और राजनीतिक दृष्टि को आकार देने का कार्य किया। तिलक के इन्ही प्रयासों ने उन्हें 'लोकमान्य' की उपाधि दिलाने में मदद की।

तिलक का राजनीतिक नेतृत्व और संघर्ष

तिलक द्वारा एनी बेसेंट के साथ मिलकर होमरूल लीग की स्थापना का उद्देश्य स्वराज और स्वशासन की माँग को आगे बढ़ाना था। होमरूल आन्दोलन ने स्वराज की माँग को एक लोकप्रिय नारा बनाया और दूरदराज के क्षेत्रों तक राष्ट्रीय चेतना का विस्तार करने का कार्य किया। तिलक ने पूरे भारतवर्ष में सभाओं के माध्यम से अंग्रेजी शासन की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों की कड़ी आलोचना की। उनकी रणनीति यह थी कि जनता को शिक्षित और संगठित करके अंग्रेजी सरकार पर दबाव डाला जाये। इस आन्दोलन के माध्यम से कांग्रेस के अन्दर उग्रवादी (गरम दल) और उदारवादी (नरम दल) एक मंच पर एक साथ आये जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन को गति और सफलता मिली।

तिलक का अंग्रेजी शासन से टकराव मानो जीवन का एक हिस्सा सा बन गया था। 1897 में लिखे गये उनके लेखों को राजद्रोह करार दिया गया और उसके लिए उन्हें सजा भी हुई। 1908 में 'केसरी' में क्रन्तिकारी गतिविधियों के समर्थन में लिखने के कारण उन्हें छह वर्ष की जेल हुई थी और उन्हें मांडले भेज दिया गया। इन गिरफ्तारियों से तिलक की छवि एक सच्चे क्रन्तिकारी और राष्ट्रवादी नेता के रूप में और भी मजबूत हुई। उन्हें और भी लोकप्रियता मिलने लगी, खासकर महाराष्ट्र में, जहाँ उन्हें मराठा गौरव का अवतार माना जाने लगा।

महाराष्ट्र और भारत में शोक और सन्नाटा

1 अगस्त, 1920 को तिलक की मृत्यु ने पूरे भारत में शोक की लहर पैदा कर दी। सबसे व्यापक प्रभाव महाराष्ट्र में देखा गया, जो तिलक की जन्मभूमि है। तिलक स्वराज के प्रतीक और महाराष्ट्र गौरव के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी मृत्यु ने एक युग का अन्त कर दिया, क्योंकि वे न केवल एक नेता थे, बल्कि एक सांस्कृतिक प्रेरक, बौद्धिक चिन्तक और मार्गदर्शक भी थे।

पुणे और मुम्बई में उनके अन्तिम संस्कार में लाखों लोग की भीड़ उमड़ी, यह उनकी लोकप्रियता और प्रभाव का ही प्रमाण था। 'केसरी' और अन्य समाचार-पत्रों ने उनके योगदान का स्मरण करते हुए विशेष संस्करण प्रकाशित किये गये। जनमानस ने उनकी मृत्यु को राष्ट्र के लिए एक अपूरणीय क्षति माना। कांग्रेस और स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्य नेताओं ने भी उनकी असमय मृत्यु को स्वराज आन्दोलन के लिए एक बड़ा झटका माना। तिलक की मृत्यु ने एक नेतृत्व शून्यता उत्पन्न कर दी, जिसे भरने की जिम्मेदारी गांधीजी पर आ गयी।

गांधीजी ने तिलक की मृत्यु पर एक गहरी संवेदना और शोक व्यक्त किया और उन्हें स्वराज के अग्रदूत के रूप में सम्मानित भी किया। गांधीजी ने 'यंग इंडिया' अखबार में लिखा कि तिलक का जीवन और कार्य हर भारतीय के लिए एक प्रेरणा है और उनकी स्वराज की माँग ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक नयी दिशा दी है। गांधीजी ने तिलक के साहस, बुद्धिमत्ता और जन-संगठन की क्षमता की प्रशंसा की। दोनों नेताओं के दर्शन और रणनीतियाँ भिन्न थीं, फिर भी गांधीजी ने तिलक के योगदान को स्वीकार किया और उनकी विरासत को आगे बढ़ाने का बीड़ा उठाया। उदाहरण स्वरूप, गांधीजी ने तिलक के होमरूल आन्दोलन से प्रेरणा ली और इसे असहयोग आन्दोलन में शामिल करने का प्रयास किया। तिलक की मृत्यु के बाद गांधीजी ने उनके अनुयायियों को साथ लाने की कोशिश की। गांधीजी का यह प्रयास राष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व हस्तान्तरण को सुगम बनाने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था, लेकिन यह पूरी तरह से तनावमुक्त नहीं रहा।

गांधीजी का राष्ट्रीय नेता के रूप में उदय

तिलक की मृत्यु के बाद गांधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का मोर्चा सँभाला और इसे एक व्यापक आन्दोलन में बदल दिया। तिलक की जन-जुटाव की रणनीतियों, जैसे सार्वजनिक सभाएँ, समाचार-पत्रों का उपयोग और सांस्कृतिक आयोजनों का प्रभाव, गांधीजी के कार्यों में स्पष्ट दिखता है। तिलक 'केसरी' अखबार के माध्यम से जनता को शिक्षित और संगठित किया करते थे; गांधीजी ने 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' जैसे प्रकाशनों का उपयोग करके जनता को प्रभावित किया। तिलक ने गणेश उत्सव से

सामाजिक एकता को बढ़ावा दिया था, तो गांधीजी ने खादी कपड़े और चरखे को सामूहिक प्रतिरोध का प्रतीक बनाने का प्रयास किया। तिलक का 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' का नारा गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का आधार बन गया, लेकिन गांधीजी ने इसे अपने अहिंसक ढाँचे में ढालकर आत्मसात किया। गांधीजी ने तिलक की विरासत को अपनाया, लेकिन उसे अपने दर्शन के अनुरूप परिवर्तित करना और ढालना नहीं भूले।

सन् 1920 में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन की शुरुआत की, जो भारत का पहला राष्ट्रव्यापी अहिंसक प्रतिरोध आन्दोलन था। इस आन्दोलन ने अंग्रेजी संस्थानों, जैसे स्कूलों, अदालतों और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार करने का हरसम्भव प्रयास किया। इसके अतिरिक्त, स्वदेशी और खादी को भरपूर बढ़ावा दिया गया, जिसने आर्थिक आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित किया। असहयोग आन्दोलन ने गांधीजी को राष्ट्रीय नेता के रूप में स्थापित किया, क्योंकि इसके माध्यम से ग्रामीण और शहरी जनता, विभिन्न धर्मों और जातियों को एक मंच पर लाया गया। तिलक की मृत्यु के बाद कांग्रेस को एकजुट करने में गांधीजी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन को औपचारिक रूप से अपनाया, जो कि स्वराज प्राप्ति की ओर एक नया कदम था। गांधीजी का यह उदय तिलक द्वारा तैयार की गयी आधारशिला या नींव पर आधारित था।

महात्मा गांधी : अहिंसक क्रान्ति के नेता

महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था तथा वे 2 अक्टूबर, 1869 को गुजरात के पोरबंदर में एक बनिया (वैश्य) परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने लन्दन में कानून की पढ़ाई की और उसके बाद दक्षिण अफ्रीका गये, जहाँ उन्होंने भारतीय प्रवासियों के खिलाफ हो रहे नश्ल आधारित भेदभाव के खिलाफ सत्याग्रह किया। अफ्रीका में एक दुखद नस्लीय घटना के अन्तर्गत उन्हें प्रथम श्रेणी के रेल डिब्बे से जबरदस्ती उतर दिया गया था। इस घटना ने उनके जीवन को बदलकर रख दिया। दक्षिण अफ्रीका में ही गांधीजी ने सत्याग्रह की अवधारणा को विकसित किया। यह अवधारणा सत्य और अहिंसा पर आधारित एक नये प्रकार का प्रतिरोध माध्यम था। 1906

में अफ्रीका की ट्रांसवाल सरकार द्वारा भारतीयों के लिए अनिवार्य किये गये पंजीकरण कानून के खिलाफ उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर दिया। इस आन्दोलन का प्रभाव इतना बड़ा था कि हजारों भारतीयों ने गिरफ्तारी दी, लेकिन अहिंसा को बनाये रखा। इस आन्दोलन ने गांधीजी को एक वैश्विक नेता के रूप में स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई। गांधीजी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में बिताए गये 21 वर्षों ने उन्हें अन्याय के खिलाफ संगठित और नैतिक प्रतिरोध की कला में माहिर कर दिया।

गोखले एवं अन्य नेताओं से प्रेरणा

गांधीजी 1915 में भारत लौटे और उन्हें राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। गोखले कांग्रेस के वरिष्ठ उदारवादी नेता के रूप में प्रसिद्ध थे। गोखले की सलाह पर गांधीजी ने देश के सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचे को समझने के लिए व्यापक यात्राएँ आरम्भ कर दी और वे कई महीनों तक भारत भ्रमण करते रहे। इससे उन्हें देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग प्रकार की समस्यायों के बारे में पता चला। गांधीजी एक से अधिक धर्मों से प्रभावित थे, जैसे कि बौद्ध, जैन, हिन्दू इत्यादि। उनके दर्शन को आकार देने में जैन धर्म की अहिंसा और हिन्दू धर्म का सत्य सर्वोपरि रहा। तिलक की तरह गांधीजी ने भी हिन्दू ग्रन्थ 'गीता' से गहन सीख और प्रेरणा ली। तिलक ने गीता को कर्मयोग से जोड़कर देखने का प्रयास किया, वहीं गांधीजी ने इसे निष्काम कर्म से जोड़ने का प्रयास किया। गोखले का मार्गदर्शन और भारतीय परम्परा व धरोहर का संयोग गांधीजी को एक अद्वितीय नेता के रूप में सामने लेकर आता है। इसके अतिरिक्त, गांधीजी पश्चिमी और भारतीय मूल्यों के समन्वय को भी दर्शाते हैं।

गांधीजी का सत्य और अहिंसा

गांधीजी वे पहले नेता थे जिन्होंने 'अहिंसा' और 'सत्य' जैसे शक्तिशाली शस्त्रों का स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रयोग किया। यह प्रयोग न केवल भारत, बल्कि विश्व स्तर पर एक शक्तिशाली प्रतिरोध के रूप में सफल और प्रसिद्ध हुआ। उनकी नेतृत्व शैली सादगी, नैतिकता और समावेशिता पर आधारित थी। उनके प्रयासों ने स्वंतत्रता आन्दोलन को एक जन आन्दोलन के रूप में

बदल दिया। गांधीजी एक प्रसिद्ध नेता के रूप में तब सामने उभरकर आते हैं जब बाल गंगाधर तिलक जैसे गरम दल के नेताओं ने पहले से ही स्वराज की नींव रख दी थी। तिलक ने सांस्कृतिक गौरव और प्रत्यक्ष कार्रवाई पर जोर दिया था, वहीं दूसरी ओर गांधीजी ने अहिंसक प्रतिरोह पर बल दिया। गांधीजी का सम्पूर्ण दर्शन मुख्य रूप से 'अहिंसा' और 'सत्य' पर आधारित था। गांधीजी के अनुसार, यह दर्शन न केवल नैतिक सिद्धान्त थे, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के शक्तिशाली शस्त्र थे। 'अहिंसा' का अर्थ सिर्फ हिंसा से बचना ही नहीं है, बल्कि मन, वचन और कर्म से दूसरों को हानि न पहुँचाना है। गांधीजी का मानना था कि अहिंसा में एक नैतिक शक्ति है, जो अत्याचारी के हृदय को भी बदल सकती है। 'सत्याग्रह' का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह। सत्याग्रह में सत्य के लिए अहिंसक प्रतिरोध शामिल था, जैसे कि असहयोग, उपवास और नागरिक अवज्ञा। गांधीजी ने इस दर्शन को सामूहिक प्रतिरोध का आधार बनाया। जिसने जनमानस को भी स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' (1909) में उन्होंने अंग्रेजी शासन और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए स्वराज को आत्म-नियंत्रण और एक नैतिक जीवन के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया।

तिलक और गांधीजी के दर्शन में एक आधारभूत अन्तर था। तिलक ने गीता के कर्मयोग की स्वराज के लिए प्रत्यक्ष कार्रवाई और उग्र प्रतिरोध के रूप में व्याख्या की। उनकी विचारधारा हिन्दू राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव पर आधारित थी, जो मुख्यत: शिक्षित और उच्च वर्गों को आकर्षित करता था। इसके इतर, गांधीजी का दर्शन सर्वधर्म समभाव और समावेशी विचार पर केन्द्रित था। उन्होंने अहिंसा को सभी धर्मों और समुदायों के लिए एक सार्वभौमिक सिद्धान्त माना। जहाँ तिलक ने स्वराज को एक राजनीतिक और सांस्कृतिक लक्ष्य के रूप में देखने का प्रयास किया, वहीं गांधीजी ने इसे व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता से जोड़ने का प्रयास किया। यह भिन्नता महाराष्ट्र में विशेष रूप से देखने को मिली। तिलक के ब्राह्मणवादी और उग्रवादी दृष्टिकोण ने गांधी की समावेशी और अहिंसक रणनीतियों को चुनौती दी।

गांधीजी का भारत में प्रारम्भिक प्रयोग

भारत वापस आने के बाद गांधीजी ने अपनी नेतृत्व शैली को स्थानीय मुद्दों से जोड़कर के स्वतन्त्रता आन्दोलन को ग्रामीण क्षेत्रों तक फैलाया। 1917 में बिहार के चम्पारण सत्याग्रह में उन्होंने नील उगाने वाले किसानों पर अंग्रेजी जमींदारों की दमनकारी नीतियों के खिलाफ सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया। चम्पारण सत्याग्रह भारत में गांधीजी का पहला प्रमुख आन्दोलन कहा जा सकता है, इसके माध्यम से उन्होंने किसानों को संगठित किया और अंग्रेजी शासन को नील की खेती की जाँच करने के लिए मजबूर कर दिया। चम्पारण आन्दोलन की सफलता ने गांधीजी को राष्ट्रीय स्तर पर एक अलग पहचान दिलाई। सन् 1918 में गुजरात के खेड़ा जिले में गांधीजी ने कर माफी के लिए सत्याग्रह का नेतृत्व किया, जहाँ सूखे के कारण किसान कर देने में असमर्थ थे। खेड़ा सत्याग्रह ने ग्रामीण जनता को स्वतन्त्रता आन्दोलन से जोड़ने का कार्य किया। इस आन्दोलन ने गांधीजी की नेतृत्व क्षमता और कौशल को प्रदर्शित किया। इन्हीं आन्दोलनों ने गांधीजी को 'महात्मा' की उपाधि दिलाई, जिसकी वजह से उन्हें जनता का विश्वास और स्नेह प्राप्त हुआ।

गांधीजी की नेतृत्व शैली और कौशल उनकी सादगी भरी जिन्दगी और नैतिकता से परिभाषित होते हैं। उन्होंने खादी के कपड़े पहनना शुरू किया और साबरमती आश्रम में एक साधारण जीवन बिताया; यह उनकी आत्मनिर्भरता और स्वदेशी के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाता था। उनकी सादगी ने उन्हें ग्रामीण और शहरी जनता के करीब ला दिया, खासकर निम्न वर्ग और गैर-ब्राह्मण समुदाय के लोगों के करीब। गांधीजी ने नैतिकता को नेतृत्व का आधार बनाया और इसके माध्यम से स्वयं को अनुशासित किया तथा अपने अनेकों अनुयायियों को आत्म-शुद्धि और जीवन में अनुशासन के लिए प्रेरित भी किया। उनकी यह कार्यशैली तिलक की उग्र और बौद्धिक नेतृत्व शैली से काफी अलग थी। सदानन्द मोरे के अनुसार, गांधीजी के समावेशी और नैतिक दृष्टिकोण ने महाराष्ट्र में तिलक के अनुयायियों के बीच मिश्रित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कीं, क्योंकि यह तिलक के हिन्दू राष्ट्रवाद और ब्राह्मणवादी छवि से अलग था। चाहे जो भी हो, गांधीजी की यह रणनीति और कौशल स्वतन्त्रता आन्दोलन को जनमानस के आन्दोलन में बदलने में सफल रहे।

तिलक और गांधीजी के दर्शन

तिलक का दर्शन हिन्दू राष्ट्रवाद पर आधारित था, जो भारतीय संस्कृति और इतिहास के महान गौरव पर ध्यान केन्द्रित करता है। उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतीकों (जैसे 'गीता' और 'छत्रपति शिवाजी') को राष्ट्रीय जागरण और चेतना का आधार बनाने का प्रयास किया। तिलक का मानना था कि हिन्दू धर्म की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्ति हर भारतीय को अंग्रेजी शासन के खिलाफ एकजुट कर सकने में सक्षम है। उनके द्वारा शुरू किये गये गणेश उत्सव और शिवाजी समारोह हिन्दू एकता और पहचान को मजबूत करने के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना को भी प्रेरित करते थे। तिलक की विचारधारा मुख्य रूप से शिक्षित और उच्च वर्गों में प्रसिद्ध थी, खासकर महाराष्ट्र में जहाँ मराठा गौरव और हिन्दू परम्पराएँ समाज के गहरे पैठी थीं।

इसके इतर, गांधीजी का दर्शन पूर्ण रूप से सर्वधर्म समभाव और मानवतावाद पर आधारित था। उन्होंने 'अहिंसा' और 'सत्य' को सभी धर्मों और समुदायों के लिए एक नैतिक सिद्धान्त माना। गांधीजी का विश्वास था कि यह स्वतन्त्रता संग्राम में सभी भारतीयों (चाहे वे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई तथा किसी अन्य धर्म को मानने वाले हों) के लिए आवश्यक है। उन्होंने अपनी किताब 'हिन्द स्वराज' में पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए स्वराज को आत्म-नियंत्रण और नैतिक जीवन के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया, जो किसी एक धर्म या संस्कृति तक सीमित नहीं था। गांधीजी की यह समावेशी दृष्टि तिलक के हिन्दू-केन्द्रित राष्ट्रवाद से टकराती नजर आती थी, खासकर महाराष्ट्र जैसे क्षेत्रों में, जहाँ तिलक की सांस्कृतिक विचारधारा मूल्यों की जड़ें गहरी थीं।

तिलक और गांधीजी दोनों ही नेताओं ने 'भगवद्गीता' से प्रेरणा लेने का प्रयास किया, हालाँकि उनकी व्याख्याएँ अलग-अलग रहीं। तिलक ने गीता को 'कर्मयोग' का प्रतिबिम्ब माना, जो हमेशा निष्काम कर्म और कर्तव्य पर जोर देता है। उनकी किताब 'गीता रहस्य' में उन्होंने गीता को स्वराज के लिए प्रत्यक्ष कार्रवाई और उग्र प्रतिरोध का एक नैतिक आधार माना। तिलक का कर्मयोग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए सक्रिय और जरूरत पड़ने पर हिंसक संघर्ष को भी उचित ठहराता था,

खासकर क्रान्तिकारी गतिविधियों के सन्दर्भ में यह ज्यादा सटीक है। इसके अलावा, गांधीजी ने गीता की अनासक्त योग के रूप में व्याख्या की, जिसमें निष्काम कर्म का अर्थ था फल की अपेक्षा किये बिना कार्य करते रहना। गांधीजी के लिए, कार्य हमेशा अहिंसक और नैतिक होना चाहिए। गांधीजी का अनासक्त योग व्यक्तिगत और सामूहिक शुद्धि चेतना पर आधारित था, जिसे सत्याग्रह के रूप में देखा जा सकता है। यह विचारधारा तिलक के कर्मयोग से अलग थी, क्योंकि यह हिंसा को स्वीकार नहीं करती थी और सामाजिक और सांस्कृतिक समावेशिता को अधिक महत्त्व देती थी। यह दार्शनिक बहस न सिर्फ व्यक्तिगत विश्वासों को इंगित करती है, बल्कि स्वतन्त्रता आन्दोलन की रणनीतियों और लक्ष्यों पर भी गहरा प्रभाव डालती है। इस अन्तर को महाराष्ट्र के सामाजिक ताने-बाने में उत्पन्न होने वाले तनाव का एक प्रमुख कारण माना गया।

19वीं-20वीं सदी की शुरुआत में महाराष्ट्र में सामाजिक ढाँचा ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण समुदायों के बीच गहरे विभाजन से चिह्नित होता था। तिलक (एक चितपावन ब्राह्मण) ने अपने सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों में हिन्दू प्रतीकों का भरपूर उपयोग किया। गणेश उत्सव और शिवाजी समारोह जैसे सामाजिक मंचन ने हिन्दू पहचान को मजबूत किया, लेकिन इससे गैर-ब्राह्मण समुदायों (विशेष रूप से मराठा और अन्य निम्न जाति) में यह धारणा पैदा हो गयी कि तिलक का राष्ट्रवाद ब्राह्मण-केन्द्रित रहा। ज्योतिबा फुले और उनके द्वारा शुरू किये गये सत्यशोधक समाज ने ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के खिलाफ आवाज उठाई, जिसके माध्यम से गैर-ब्राह्मण आन्दोलनों को शक्ति मिली। इस तरह देखें तो तिलक का राष्ट्रवाद जाने-अनजाने सामाजिक विभाजन को गहरा करता है जो महाराष्ट्र प्रदेश में सामाजिक तनाव का एक प्रमुख स्रोत बना। उनके नेतृत्व ने शिक्षित ब्राह्मणों और उच्च वर्गों को प्रेरित किया, साथ ही गैर-ब्राह्मण समुदायों में शंका की स्थिति पैदा की। तिलक के समर्थकों का मत था कि उनकी रणनीतियाँ राष्ट्रीय गौरव को सम्पूर्ण बल देती थीं, लेकिन गैर-ब्राह्मण नेताओं की दृष्टि से देखें तो यह सामाजिक समानता के लिए एक खतरा था। इस तनाव का अन्त तिलक की मृत्यु के बाद ही हो पाया, जब गांधीजी का समावेशी नेतृत्व राष्ट्रीय पटल पर उभरकर आया।

गांधीजी की नेतृत्व शैली तिलक से बिल्कुल अलग थी। उन्होंने जाति, धर्म और वर्ग के अन्तर को मिटाने का हरसम्भव प्रयास किया। उनकी खादी पहनने की प्रथा, साबरमती आश्रम में सादा जीवन, और हरिजन उत्थान जैसे सामाजिक कार्यों ने गैर-ब्राह्मण और निम्न वर्गों को सहजता से आकर्षित कर लिया। महाराष्ट्र क्षेत्र में जब ब्राह्मण-अब्राह्मण तनाव चरम पर था। गांधीजी की समावेशी रणनीति ने मिश्रित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कीं। गैर-ब्राह्मण समुदायों ने गांधीजी के सामाजिक समानता और एकता वाले दृष्टिकोण का स्वागत किया। गांधीजी ने समाज सुधारकों, जैसे विठ्ठल रामजी शिंदे का सहयोग किया, क्योंकि उन्होंने निम्न जातियों के उत्थान के लिए हरसम्भव प्रयास किया। जबकि, तिलक के ब्राह्मण समर्थकों ने गांधीजी की रणनीतियों को एक दुबिधा और शंका की नजर से देखा। उनका मानना था कि गांधीजी का सर्वधर्म समभाव और अहिंसक दृष्टिकोण तिलक के हिन्दू गौरव और उग्र प्रतिरोध की तुलना में कम प्रभावी था। सदानन्द मोरे इस सामाजिक तनाव को नेतृत्व हस्तान्तरण की प्रक्रिया में आघातकारी स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण पहलू मानते हैं। गांधीजी की समावेशिता ने महाराष्ट्र क्षेत्र में सामाजिक गतिशीलता को एक नया जीवन दिया, लेकिन यह तिलक के अनुयायियों के लिए एक नयी चुनौती के रूप भी थी।

तिलक का उग्र प्रतिरोध बनाम गांधीजी का असहयोग

गांधीजी और तिलक की राजनीतिक रणनीतियाँ उनके दर्शन को इंगित करती हैं। तिलक का उग्र प्रतिरोध स्वदेशी, बहिष्कार और होमरूल आन्दोलन जैसी प्रत्यक्ष कार्रवाइयों पर आधारित था। उन्होंने जनमानस को संगठित करने के लिए सांस्कृतिक आयोजनों और समाचार-पत्रों ('केसरी' और 'मराठा') का सदुपयोग किया। उनका मत था कि अंग्रेजी शासन को केवल प्रबल शक्ति और दबाव से ही हराया जा सकता है। उनकी रणनीतियों से क्रान्तिकारी गतिविधियों को प्रेरणा मिली, हालाँकि उन्होंने स्वयं अपने शब्दों से हिंसा का समर्थन नहीं किया। इसके इतर गांधीजी की असहयोग नीति अहिंसक प्रतिरोध पर आधारित थी। उन्होंने अंग्रेजी संस्थानों, जैसे स्कूलों, अदालतों और सरकारी नौकरियों का त्याग करने का आह्वान किया। सन् 1920 में शुरू हुआ असहयोग आन्दोलन गांधीजी की राष्ट्रीय स्तर पर पहली व्यापक

पहल थी, जिसने स्वदेशी और खादी के कपड़ों को बढ़ावा दिया। गांधीजी का मानना था कि अंग्रेजी शासन की वैधता को कमजोर करने का सबसे आसान तरीका है उनकी व्यवस्था में भागीदारी से मुँह मोड़ लेना। गांधीजी की यह रणनीति तिलक के उग्र प्रतिरोध से भिन्न थी, क्योंकि यह पूरी तरह से नैतिक और सामूहिक प्रतिरोध पर केन्द्रित थी। तिलक और गांधीजी की रणनीतियों का अन्तर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर भी स्पष्ट दिखता था। तिलक उग्रवादी दल के नेता थे और हमेशा उदारवादियों की याचिका-आधारित नीतियों का विरोध करते थे। 1907 के सूरत अधिवेशन में मतभेद की वजह से कांग्रेस का उग्रवादी और उदारवादी गुटों में विभाजन हो गया, जिसमें तिलक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1915 में भारत लौटने के बाद गांधीजी ने कांग्रेस में एक मध्यस्थ की भूमिका का निर्वहन किया। उन्होंने तिलक के स्वराज के विचार को आत्मसात किया, लेकिन इसे अहिंसक ढाँचे में ढालने का हरसम्भव प्रयास भी किया। तिलक और गांधीजी के बीच एक प्रबल व्यक्तिगत सम्मान भी मौजूद था। गांधीजी ने तिलक के होमरूल आन्दोलन का समर्थन किया और उनकी कानूनी लड़ाइयों में सहायता की। तिलक ने भी गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार किया, खासकर 1916 के लखनऊ समझौते के बाद, जब उग्रवादी और उदारवादी गुट एकजुट हुए। हालाँकि कई बार दोनों नेताओं की रणनीतियों का अन्तर कांग्रेस के भीतर तनाव का कारण भी बना। यह तनाव महाराष्ट्र क्षेत्र में विशेष रूप से देखा गया, जहाँ तिलक के अनुयायी गांधीजी की अहिंसक रणनीतियों को स्वीकार करने में सन्देह कर रहे थे। लेकिन गांधीजी की समावेशी रणनीतियों ने कांग्रेस को एक व्यापक मंच के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसने स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक नयी दिशा देने का प्रयास किया।

संक्षेप में, तिलक से महात्मा गांधी की ओर नेतृत्व का हस्तान्तरण स्वतन्त्रता आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। यह मुख्य रूप से महाराष्ट्र के सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में अद्वितीय है। तिलक ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और उग्र प्रतिरोध के माध्यम से स्वराज का सपना देखा, जबकि गांधीजी ने अहिंसा और समावेशिता के आधार पर इसे जनमानस के बीच में रखने का प्रयास किया। सदानन्द मोरे अपनी पुस्तक 'लोकमान्य से महात्मा' में इस राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व हस्तान्तरण को एक आघातकारी परिवर्तन के रूप

में प्रस्तुत करते हैं, जो सामाजिक तनावों, वैचारिक मतभेदों, परिवर्तनकारी सम्भावनाओं इत्यादि को उजागर करता है। यह नेतृत्व हस्तान्तरण तिलक और गांधीजी के सामाजिक प्रभाव, इसकी समकालीन प्रासंगिकता और भविष्य के लिए दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है और भारत और महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता को एक समग्र और समन्वयवादी ढाँचे में समेटने का प्रयत्न करता है।

महात्मा गांधी : सनातन धर्म, नैतिक शक्ति और स्वराज

महात्मा गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को पोरबंदर में हुआ था। उनके माता-पिता वैष्णव थे। उनके घर में नियमित रूप से पूजा-पाठ होता था, जिसमें 'रामायण' का पाठ विशेष था। आरम्भिक शिक्षा उन्होंने एक ब्राह्मण द्वारा घर पर पायी। वे रोज विष्णु स्रोत का पाठ करते थे। मात्र सात वर्ष की उम्र में वे पोरबंदर से राजकोट चले गये और वहाँ के ग्रामशाला में शिक्षा ग्रहण की। माँ से धार्मिकता मिली लेकिन धर्म का पहला पाठ अपनी धाय रम्भा से मिला जिसने उन्हें 'रामनाम' का पाठ सिखाया। राजकोट में ही गांधीजी को सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। उन्होंने हिन्दू धर्म के हर सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि उनके माता-पिता वैष्णव मन्दिर, राम मन्दिर और शिवालय सभी जगह जाते थे। उनके पिता करमचन्द गांधी के मित्रों का सम्बन्ध अलग-अलग धर्म और सम्प्रदाय था जो उनसे अक्सर मिला करते थे। इस वातावरण ने गांधीजी को अनेक धर्मों के बारे में जानने का अवसर प्रदान किया। ईसाई धर्म गांधीजी के लिए अपवाद था; इसका कारण था कि उन दिनों कुछ ईसाई राजकोट के हाई स्कूल के कोने में खड़े होकर हिन्दू देवी-देवताओं के खिलाफ भाषण देते थे। उनकी बातों से गांधीजी को पीड़ा पहुँचती थी। उनका मानना था कि जिस धर्म के कारण गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक बदलनी पड़े उसे धर्म किस अर्थ में कहा जा सकता है? निन्दनीय कार्य तब सम्भव हुआ जब कुछ लोग धर्म परिवर्तन करके अपने ही पूर्वजों की निन्दा करने लगे; इससे गांधी जो ईसाइयत से और घृणा हो गयी।

गांधीजी का तेरह साल की उम्र में कस्तूरबाई के साथ विवाह हो गया था। कस्तूरबाई सीधी, स्वतंत्र, मेहनती और कम बोलने वाली थीं। वह निरक्षर थीं, परन्तु उन्हें अपने अज्ञान का असन्तोष नहीं था। निरक्षर होने के बावजूद उन्होंने गांधीजी के आन्दोलनों और उनकी साधना में भरपूर योगदान दिया। वह दक्षिण अफ्रीका में पहली महिला सत्याग्रही बनीं और उम्र-भर देश की सेवा में संलग्न रहीं।

बचपन में गांधीजी संस्कृत में थोड़े कमजोर थे, लेकिन उन्होंने सीखने का प्रयत्न किया। संस्कृत की महत्ता को बताते हुए गांधीजी कहते हैं, "हिन्दी, गुजराती और संस्कृत एक भाषा मानी जा सकती है और उच्च प्रकार की गुजराती, हिन्दी, बांग्ला, मराठी इत्यादि जानने के लिए संस्कृत जानना आवश्यक है।" बचपन में गांधीजी हिन्दू धर्म की हालत देखकर विरोध के भाव से कुछ दिनों तक नास्तिक बन गये थे। उस दौरान उन्होंने कुछ कुकृत्य भी किये जिन पर उन्हें बाद में आत्मग्लानि भी हुई और उसके लिए उन्होंने अपने पिता को चिट्ठी लिखकर माफी भी माँगी। गांधीजी ने कुछ समय के लिए बॉम्बे विश्वविद्यालय में दाखिला लिया, लेकिन वहाँ उन्हें अच्छा नहीं लगा; फिर उन्होंने डॉक्टर बनने का सपना देखा, परन्तु उनकी वैष्णव आस्था बीच में आ गयी। फिर उन्होंने लन्दन से वकालत करने का निर्णय लिया। समुद्र पार करने पर जाति-बहिष्कार की उन्होंने कभी परवाह नहीं की, परन्तु अपनी माँ के डर को दूर करने के लिए बेचरजी स्वामी से मांस, मदिरा और स्त्री-संग से दूर रहने के तीन व्रत अवश्य लिये। 1888 में वे लन्दन के लिए रवाना हुए और लन्दन पहुँचने के बाद कई महीने तक अनिश्चय की स्थिति में रहे; दरअसल अंग्रेजी अर्थ में जेंटलमैन बनने की सनक उनके सर पर सवार थी; इस सनक में उन्होंने कुछ समय और पैसा भी बर्बाद किया, लेकिन यह सनक तीन महीने में ही गायब हो गयी। बाद में उन्होंने धीरे-धीरे अपने जीवन को कठोर बन्धन में बाँधना शुरू किया। साल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत' और अन्य कई पुस्तकें पढ़ी। इन सब पुस्तकों के पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि उनके जीवन में आहार-विषयक प्रयोगों ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। पहले यह प्रयोग आर्थिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से किये गये थे, लेकिन आगे चलकर इन्ही प्रयोगों ने धार्मिक रूप ले लिया। गांधीजी कहते हैं, "इस समय तक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे।

विलायत में उन्होंने धार्मिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया था। धार्मिक दृष्टि से मेरे कठिन प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में हुए। उनका बीज विलायत में बोया गया था।" अन्नाहार के प्रचार और प्रसार से गांधीजी को लोक सेवा का प्रारम्भिक अवसर प्राप्त हुआ। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन दिनों लन्दन में नये-नये क्रान्तिकारी विचारों का प्रादुर्भाव हो रहा था। अनेक बुद्धिजीवी और राजनीतिक आन्दोलनों के मुकाबले गांधीजी ने शाकाहार आन्दोलन को ही पसन्द किया, क्योंकि इस आन्दोलन में ही उन्हें अपने भावी जीवन की सम्भावनाएँ दिखाई दीं।

वकालत के प्रशिक्षण ने गांधीजी के चिन्तन को ज्यादा प्रभावित नहीं किया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विदेशी परिवेश और नये अनुभवों ने उन्हें अपने देश की मान्यताओं पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर प्रदान किया। अन्नाहार आन्दोलन को आगे बढ़ाते हुए एक मित्र के माध्यम से वे मैडम ब्लावत्स्की और एनी बेसेंट से मिले। उन्होंने मैडम ब्लावत्स्की द्वारा लिखी गयी 'टू थियोसोफी' पढ़ी। गांधीजी को इस पुस्तक से हिन्दू धर्म को और बेहतर ढंग से समझने में मदद मिली और उन्हें यह भी पता चला कि हिन्दू धर्म उतना रूढ़िवादी नहीं है जैसा कि ईसाई मिशनरी प्रचार करते हैं। गांधीजी को 'बाइबिल' पढ़ने का भी मौका मिला। ओल्ड टेस्टामेंट उन्हें कठिन और नीरस लगा; लेकिन न्यू टेस्टामेंट के 'सरमन ऑन द माउंटेन' का उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी दौरान उन्होंने कार्लाइल की 'ऑन हीरोज, हीरोज वर्शिप एंड द हीरोइक इन हिस्ट्री' में पैगम्बर मोहम्मद के प्रकरण को भी पढ़ा। लन्दन प्रवास के दौरान गांधीजी को प्रभावित करने में दो पुस्तकों ('भगवद्गीता' और 'बुद्धचरित') की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वहाँ कुछ मित्रों से भी पहचान हुई जिनमें एडविन अर्नाल्ड भी थे जो उन दिनों 'भगवद्गीता' का अनुवाद पढ़ रहे थे। उन्होंने संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए गांधीजी को आमंत्रित किया।

जून 1891 में गांधीजी लन्दन के बार में शामिल हुए और उसी महीने वे स्वदेश भी आये। ऊपरी तौर पर वह पश्चिमी शिक्षा में दीक्षित भारतीय ही जान पड़ते थे। गांधीजी लन्दन में शिक्षा प्राप्त करके एक लाभप्रद जीवन बिताना चाहते थे, लेकिन इंग्लैंड में रहते हुए उनके अन्दर एक ऐसी दृष्टि का जन्म हुआ जो पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से छोड़ने का आग्रह कर रही

थी। स्वदेश आने के बाद गांधीजी ने बॉम्बे हाई कोर्ट में वकालत शुरू की जो ज्यादा दिनों तक नहीं चल पायी। इन्हीं दिनों गांधीजी एक हीरा व्यापारी रायचन्द भाई के सम्पर्क में आये जिन्होंने गांधीजी को काफी प्रभावित किया। रायचन्द भाई के अलावा गांधीजी टॉलस्टॉय और रस्किन की किताबों से काफी प्रभावित हुए थे। सन् 1893 में गांधीजी को दादा अब्दुल्ला के फर्म के दावे के सन्दर्भ में दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा, जहाँ वह 21 वर्ष तक रहे थे; ट्रांसवाल और नेटल उनके कार्यक्षेत्र थे; वहीं उन्होंने अपना जीवन-दर्शन तय किया था। और लोक सेवा का यज्ञ शुरू किया था। गांधीजी के सहयोगी रावजी भाई मणिभाई के शब्दों में, "दक्षिण अफ्रीका की संस्कारहीन भूमि में 21 वर्ष तपश्चर्या करने के बाद गांधीजी ने सारे संसार के शान्ति-यज्ञ के पुरोहित की दीक्षा ली।" दक्षिण अफ्रीका में वह भारतीय समाज की सेवा में रम गये थे। इस सेवा में रमने का कारण गांधीजी की 'आत्म-दर्शन की अभिलाषा थी।' उन्होंने कहा, "ईश्वर की पहचान सेवा से होगी, यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं भारत की सेवा करना चाहता था, क्योंकि वह सेवा मुझे अनायास प्राप्त हुई थी। मुझे उसकी रुचि थी। मुझे उसे खोजने नहीं जाना पड़ा था। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़ के षड्यंत्रों से बचने और आजीविका खोजने के लिए दक्षिण अफ्रीका गया था लेकिन पड़ गया ईश्वर की खोज में, आत्म-दर्शन के प्रयत्न में। ईसाई भाइयों ने मेरी जिज्ञासा को बहुत तीव्र कर दिया था। वह किसी भी तरह शान्त न होने वाली थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहन मुझे शान्त होने न देते।" (आत्मकथा, पृ. 130)

ईसाई धर्म को लेकर गांधीजी की कठिनाई गहरी थी। "एक ईसा मसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं, उन्हें जो मानता है तर जाता है," यह बात गांधीजी के गले नहीं उतरती थी। गांधीजी ईसाई धर्म के बारे में सोचते रहते थे और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे, "यदि ईश्वर के पुत्र हो सकते हैं तो हम सब उनके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वरतुल्य हैं तो मनुष्य मात्र ईश्वर के समान या ईश्वर बन सकता है। ईसा की मृत्यु से और उनके रक्त से संसार के पाप धुलते हैं, इसे अक्षरश: सच मानने के लिए बुद्धि तैयार नहीं होती है। रूपक के रूप में उसमें सत्य चाहे हो। इसके अतिरिक्त, ईसाइयों का यह विश्वास है कि मनुष्य में आत्मा है, दूसरे जीवों में नहीं और देह के नाश के साथ उनका सम्पूर्ण नाश

हो जाता है, जबकि मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसा को एक त्यागी, महात्मा, दैवी-शिक्षक के रूप में स्वीकार कर सकता था, पर उन्हें अद्वितीय पुरुष के रूप में स्वीकार करना मेरे लिए शक्य न था। ईसा की मृत्यु से संसार को एक महान उदाहरण प्राप्त हुआ। पर उनकी मृत्यु में कोई गूढ़ चमत्कारी प्रभाव था, इसे मेरा हृदय स्वीकार नहीं कर सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिली जो अन्य धर्मावलम्बियों के जीवन से न मिली हो। उनमें होने वाले परिवर्तनों जैसे ही परिवर्तन मैंने दूसरों के जीवन में भी होते देखे थे। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई सिद्धान्तों में मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखाई पड़ी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू धर्मावलम्बियों का त्याग मुझे ऊँचा मालूम हुआ। मैं इस धर्म को सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था।" (आत्मकथा, पृ. 112) गांधीजी को उनके ईसाई मित्र उन्हें ईसाई बनाना चाहते थे और मुस्लिम मित्र मुस्लिम। अब्दुल्ला सेठ गांधीजी के आगे इस्लाम की खूबियों की चर्चा करते रहते थे। इस प्रकार के वातावरण में गांधीजी ने हिन्दू धर्म के बारे में गम्भीर विचार करना शुरू किया। उन्होंने नयी-नयी पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं। गांधीजी के मन में हिन्दू धर्म को लेकर भी कुछ दुविधाएँ थीं। हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता को, अनेक सम्प्रदायों को, जात-पाँत को और वेदों के ईश्वरप्रतीत होने के अर्थ को वे नहीं समझ सके थे। इसके बारे में गांधीजी ने रायचन्द भाई को पत्र लिखा और उन्होंने धीरज रखने और हिन्दू धर्म का गहन अध्ययन करने की सलाह दी।

दक्षिण अफ्रीका के अपने प्रवास के दौरान गांधीजी ने भारी तप किया। जीवन में प्रतिक्षण चित्तशुद्धि के प्रयत्न में लीन होकर सत्य के परम ध्येय की आराधना करते रहे। ऐसा करने के दौरान उन्होंने अन्य लोगों के जीवन को सुधारने में भी मदद की। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की लड़ाई 1906 में आरम्भ हुई और 1914 में समाप्त हुई। आठ वर्ष की सत्याग्रह की यह लड़ाई गांधीजी के धार्मिक जीवन का महान प्रयोग था। सत्याग्रह के मंत्रदाता के रूप में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों में तप, त्याग, सहनशीलता, सत्य, वीरता, श्रद्धा, निर्भयता और निश्छलता का संचार किया। इसमें जो शामिल हुआ उसकी एक ही भावना थी कि यह लड़ाई धर्मयुद्ध है। दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई में गांधीजी ने सत्याग्रह नामक जिस औजार का आविष्कार किया

था वह हिन्दू शास्त्रों के मंथन का ही परिणाम था। सत्याग्रह के आरम्भ होने से पहले गांधीजी ने 1906 में ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था। ब्रह्मचर्य व्रत और वानप्रस्थ धर्म को अंगीकार करने के बाद ही गांधीजी उस महत्त्व को समझ पाये थे। गांधीजी मानते थे कि व्रत बन्धन नहीं बल्कि स्वतन्त्रता का हार होता है। व्रत से बन्धना व्यभिचार से छुटकारा पाकर एक पत्नीव्रत का पालन करने के समान है। गांधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ है—ब्रह्मदर्शन। ब्रह्मचर्य का यह अर्थ उनके सामने क्रमश: अनुभव सिद्ध होता गया।

1896 में गांधीजी कुछ समय के लिए स्वदेश आये थे। इस दौरान उन्होंने अनेक तीर्थस्थल का भ्रमण किया। उन दिनों गांधीजी बम्बई में कुछ दिनों के लिए रुके थे। उसी दौरान उनके पुत्र मणिलाल अस्वस्थ हो गये। डॉक्टर ने अंडे और मुर्गी का शोरबा देने का आग्रह किया। गांधीजी के शब्दों में, "मेरा ख्याल है, मनुष्य के धर्म की परीक्षा ऐसे ही समय में होती है। सही हो या गलत पर मैंने यह धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादिक न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जो हमें जीने के लिए भी नहीं करनी चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे अपने लिए और परिवार वालों के लिए ऐसे समय मांस इत्यादि का उपयोग करने से रोकती है।" (आत्मकथा, पृ. 205-06) अपने पुत्र के प्राण संकट में होने के बावजूद गांधीजी ने मांस का सेवन नहीं करने दिया। उनका तर्क था कि डॉक्टर भी प्रयोग ही करता है, सब ईश्वर के हाथ में है। गांधीजी के जीवन में सादगी बढ़ने के साथ-साथ दवा लेने के प्रति उनकी रुचि भी समाप्त होती गयी। उन्होंने अपने कब्ज और सिरदर्द से मुक्ति के लिए नाश्ता लेना बन्द कर दिया था। जुस्ट की रिटर्न टू नेचर नामक पुस्तक पढ़कर मिट्टी का उपचार करना शुरू कर दिया। इससे उनका कब्ज ठीक हो गया। गांधीजी ने प्राकृतिक उपचार का अनुमोदन किया, लेकिन उनकी यह भी सलाह थी कि कोई भी प्रयोग अपनी बुद्धि और समझ का प्रयोग करके उसको परखने के बाद ही करना चाहिए।

गांधीजी को अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अदि नियमों की सिद्धि के लिए काफी प्रयत्न करने पड़े थे। उन प्रयत्नों का उन्हें आभास भी था, परन्तु अपने सम्पर्क में आने वाले अनेक धर्मावलम्बियों और जाति के लोगों के बीच अपने

और पराए, देशी और विदेशी, गोरे और काले, हिन्दू और मुसलमान अथवा ईसाई, पारसी या यहूदी का उन्होंने कभी कोई भेद नहीं किया। ऐसा करने के लिए उन्हें कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। गांधीजी ने सावधानी से नियमों का पालन शुरू किया था। इसमें एकादशी को उपवास और फलाहार शुरू किया था। बाद में इन तिथियों के दिन वे निराहार उपवास को अथवा एकासन को अधिक महत्त्व देने लगे; इसके अलावा प्रायश्चित्त आदि का कोई कारण मिल जाता था तो वे उपवास कर डालते थे। इन सबके बीच ब्रह्मचर्य के बिना जीवन उनको शुष्क और पशुओं जैसा लगने लगा। धर्मग्रन्थों में पायी जाने वाली ब्रह्मचर्य की प्रशंसा पहले उन्हें अतिशयोक्ति लगती थी, परन्तु जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा उन्हें स्पष्ट होता गया कि वह उचित है और अनुभवपूर्वक लिखी गयी है। मन-वचन-कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन किस प्रकार हो, यह उनकी चिन्ता थी और सत्याग्रह के लिए अधिक से अधिक समय कैसे बच सके और अधिक शुद्धि किस प्रकार हो, यह दूसरी चिन्ता थी। इन चिन्ताओं ने उन्हें आहार में अधिक संयम और अधिक परिवर्तन के लिए प्रेरित किया और पहले जो परिवर्तन वह मुख्यत: आरोग्य की दृष्टि से करते थे उन्हें अब धार्मिक कसौटी पर ही देखने लगे थे। गांधीजी ने अपने विचारों को मूर्त रूप देने के लिए फीनिक्स और टॉलस्टॉय फार्म की स्थापना की। गांधीजी के अनुसार कर्तव्य का बोध हमेशा दीपक की तरह स्पष्ट नहीं होता है। सत्य के पुजारी को बहुत ठोकरें खानी पड़ती हैं।

1915 में भारत आगमन पर गांधीजी को 'कैसर-ए-हिन्द' पदक से विभूषित किया गया। इसी समय उन्होंने भारत-भ्रमण करने की ठानी; उन दिनों हरिद्वार में कुम्भ का मेला लगा था; इस अवसर पर गोखले ने अपनी संस्था भारत सेवक समाज से एक बड़ी टुकड़ी भेजी थी; रंगून से लौटते समय गांधीजी वहाँ पहुँच गये। कुम्भ के अवसर पर गांधीजी ने अपने विचार रखे, "कुम्भ का दिन आया, वह मेरे लिए धन्य घड़ी थी। मैं यात्रा की भावना से हरिद्वार नहीं गया था। तीर्थ-क्षेत्र में पवित्रता के शोध में भटकने का मोह मुझे कभी नहीं रहा। किन्तु सत्रह लाख लोग पाखंडी नहीं हो सकते। कहा गया था कि सत्रह लाख लोग मेले में आये होंगे। इनमें असंख्य लोग पुण्य कमाने के लिए और शुद्धि प्राप्त करने के लिए आये थे, इसमें मुझे कोई शंका न थी।" (आत्मकथा, पृ. 330-31) यहीं हरिद्वार में गांधीजी ने 24 घण्टे में पाँच चीजों से

अधिक कुछ न खाने और रात्रि भोजन के त्याग का व्रत लिया था। हरिद्वार से गांधीजी ऋषिकेश गये; ऋषिकेश में अनेक संन्यासियों से मिले; संन्यासियों ने गांधीजी में धर्म की एक तीव्र भावना देखी, परन्तु सिर पर शिखा और जनेऊ न देखकर उन्हें दुःख हुआ। शिखा के बारे में गांधीजी ने संन्यासियों की बात मान ली। परन्तु जनेऊ के बारे में बोले, "मैं जनेऊ तो धारण नहीं करूँगा। जिसे न पहनते हुए भी असंख्य हिन्दू हिन्दू माने जाते हैं, उसे पहनने की जरूरत नहीं देखता। फिर जनेऊ धारण करने का अर्थ है, दूसरा जन्म लेना अर्थात स्वयं संकल्पपूर्वक शुद्ध बनना, ऊर्ध्वगामी बनना। आजकल हिन्दू समाज और हिन्दुस्तान दोनों जिस हालत में हैं उसमें जनेऊ धारण करने का हमें अधिकार ही कहाँ है? हिन्दू समाज को जनेऊ धारण करने का अधिकार तभी हो सकता है, जब वह अस्पृश्यता का मैल धो डाले, ऊँच-नीच की बात भूल जाये, जड़ जमाए हुए दूसरे दोषों को दूर करे और चारो ओर फैले हुए अधर्म और पाखंड का अन्त कर दे।" (आत्मकथा, पृ. 333)

महात्मा गांधी अपने-आप को सनातनी हिन्दू मानते थे। इसी के आधार पर उन्होंने अपने अध्यात्म और राजनीतिक विचारों को ढाला। गांधीजी ने अपनी और भारत की समस्या को धार्मिक समस्या के रूप में देखा था और इसके समाधान के लिए उन्होंने धार्मिक उपाय ही सुझाए थे। प्राचीन काल में अनेक महापुरुषों ने भी सनातन परम्परा के अनुसार कालानुरूप व्याख्या करके अनेक उपाय सुझाए थे। इन समस्यायों के लिए प्रायः धर्मग्लानि और धर्मलोप जैसे शब्द प्रयुक्त होते हैं। महापुरुषों के अनुसार धर्म के लोप का यही अर्थ है कि देश काल बदल रहा है, इसलिए धर्म की नये सिरे से व्याख्या होनी चाहिए। भारत में प्राचीन काल से ही धर्म को बहुत ही व्यापक रूप में देखा और समझा गया है। ऋग्वेद में सृष्टि के अखंड देशकाल व्यापी नियमों के लिए 'ऋत' का प्रयोग हुआ है जो एक नियम के रूप में सबसे ऊपर है। वेदों में ब्रह्मांड को चलाने वाले नियमों को ही 'ऋत' कहा गया है। यही 'ऋत' आगे चलकर सत्य और धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। भारत के ऋषियों को मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की जड़ में एक ही सत्य पिरोया हुआ दिखाई देता है। इसी को उन्होंने धर्म कहा है। 'धर्म' की भारतीय व्याख्या पश्चिम के 'रिलिजन' की व्याख्या से बिल्कुल अलग है। पश्चिम में धर्म, राजनीति, दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति है,

वहीं भारत में सभी प्रवृत्तियाँ धर्म में समाहित हो जाती हैं। इसलिए भारत में सामाजिक सुधार हो या सामाजिक चेतना दोनों के लिए धार्मिक प्रवृत्तियाँ ही काम आती हैं।

धर्म की इस भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए गांधीजी ने भारत में प्राचीन काल से चले आ रहे धर्म के प्रणेता और सुधारक के रूप में काम किया और इस बात को दोहराया कि उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति का स्रोत उनका धर्म ही है। गांधीजी राजनीतिक लड़ाई नहीं लड़ रहे थे; वे भारतीय सभ्यता की लड़ाई लड़ रहे थे जिसकी नींव आध्यात्मिक है। इसलिए भारतीय सभ्यता को केवल धर्म के सहारे ही समझा जा सकता है। गांधीजी ने कहा कि उनके जीवन का उद्देश्य सत्य की खोज है और यह खोज व्यक्तिगत नहीं थी बल्कि भारतीय सभ्यता की आधारशिला की खोज थी। गांधीजी ने कहा कि वर्ण-धर्म में ऊँच-नीच की कोई कल्पना नहीं थी और यह बाद की भटकन मात्र है। इसी तरह उन्होंने अस्पृश्यता की कठोर निन्दा की क्योंकि उनका स्थान कहीं भी शास्त्र सम्मत नहीं है। अत: गांधीजी ने सनातन की व्याख्या अपने समय अनुसार की थी।

इसमें सन्देह नहीं है कि अपने जीवन में गांधीजी ने चाहे जितने आन्दोलन किये हों, अंग्रेजी राज के खिलाफ सत्याग्रह किया हो, सामाजिक बुराइयों के खिलाफ जंग छेड़ी हो, रचनात्मक कार्य किये हों, इन सभी के पीछे गांधीजी के दिमाग में एक ही भावना काम कर रही थी, वह थी—उनकी धार्मिक भावना, पुरातन संस्कृति को अपने गौरव की ओर लौटाने की भावना और अन्तिम उद्देश्य था मोक्ष को प्राप्त करना। गांधीजी जीवन-भर इस मोक्ष मार्ग पर चलते रहे। उनके स्वराज में, रामराज्य में, सत्य में, अहिंसा में, या चरखा यज्ञ में हर जगह गांधीजी की मोक्ष की इच्छा ही दिखाई दे रही थी। यह इच्छा सहिष्णु थी या पुरातनपंथी इसका निर्णय तो सब लोग अपनी-अपनी बुद्धि से ही करेंगे।

गांधीजी के बारे में लोगों की धारणा है कि गांधीजी को गहन अध्ययन करने का बहुत कम अवसर प्राप्त हुआ था। इसलिए कुछ विद्वान उनके विचारों को उनके व्यक्तिगत विचार बता देते हैं या पश्चिमी मानवतावादी विचारों से प्रभावित विचार घोषित कर देते हैं। यह सत्य है कि गांधीजी का अधिकांश जीवन संघर्ष में गुजरा था, परन्तु उन्हें समय-समय पर जेल भी

जाना पड़ा था और उस समय का प्रयोग उन्होंने गहन अध्ययन करने में किया था। दक्षिण अफ्रीका से शुरू इस अध्ययन को उन्होंने भारत में भी जारी रखा। अपने अध्ययन की चर्चा गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में की है। गांधीजी ने जो अध्ययन 1893 में शुरू किया था उसको उन्होंने अफ्रीका की जेल यात्रा के समय और गहन बनाया। इस जेल यात्रा के दौरान उन्होंने अनेक भाषाओं में लेख और पुस्तकें पढ़ीं। संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं को सीखने की इतनी उत्कंठा गांधीजी में थी कि वह कोई भी अवसर जाने नहीं देते थे। गांधीजी 21 मार्च, 1922 को यरवदा जेल लाए गये थे और इस दौरान उन्होंने विभिन्न विषयों पर लगभग सौ से ज्यादा पुस्तकें पढ़ डालीं। गांधीजी के लिए अनेक जगहों से उनके मित्रों ने पुस्तकें भेजी जिसमें अधिकतर बेकार थीं या गांधीजी को पसन्द नहीं आती थीं। फिर भी वह उन्हें पढ़ते थे। ज्यादातर कट्टर ईसाइयों द्वारा लिखी पुस्तकें उन्हें पसन्द नहीं आती थीं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी थीं जिन्हें गांधीजी बिना पढ़े नहीं रह सकते थे, उनमें शामिल थीं 'महाभारत', 'रामायण', 'भागवत' और 'उपनिषद'। गांधीजी का मानना था कि 'महाभारत' कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है बल्कि इसमें रूपक द्वारा विश्व के सनातन सत्य की चर्चा की गयी है। इसमें कारण और कार्य के अटल नियम का सनातन रूप में अमल होते हुए बताया गया है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

गांधीजी के अनुसार पैगम्बर लाखों-करोड़ों में एक ऐसे व्यक्ति थे जिसने ईश्वर से डरकर चलने का प्रयास किया; जो गरीबों के बीच मरा और जिसने अपने लिए किसी आलीशान मकबरे की इच्छा नहीं रखी और छोटे से छोटे व्यक्ति को नहीं भूले; आजकल के मुसलमानों में जो पतनकारी असहिष्णुता और परधर्मावलम्बियों के धर्म परिवर्तन की प्रवृत्ति पायी जाती है; इसके लिए पैगम्बर को जिम्मेदार मानना उतना ही गलत है जितना कि आज के हिन्दुओं के अध:पतन और असहिष्णुता के लिए हिन्दू धर्म को जिम्मेदार ठहराना। (यंग इंडिया, 11.09.1924)

गांधीजी ने यरवदा जेल में न केवल गहन अध्ययन किया बल्कि अध्ययन के साथ-साथ कई सारे टिप्स लिये; इन्हीं के आधार पर उन्होंने 'यंग इंडिया' में 'माय जेल एक्सपीरिएंसेस' शीर्षक से लेख संकलन प्रस्तुत किया जो अप्रैल 1924 से अक्टूबर, 1924 तक चलती रही। इसी लेखमाला में गांधीजी

ने अपनी पढ़ी हुई 175 पुस्तकों में से कुछ का विशद विवेचन किया है। यह लेखमाला 'नवजीवन' में भी प्रकाशित हुई थी। गांधीजी हमेशा विनम्रता से यह कहते थे कि उन्होंने ज्यादा नहीं पढ़ा है, उनका भाषा ज्ञान अधूरा है। परन्तु उनका अध्ययन अद्वितीय था जिसे देखकर बड़े से बड़े विद्वान दाँतों तले उँगली दबा लेते थे। स्मृति और नीतिग्रन्थों को पढ़ने के बाद गांधीजी ने खुलेआम घोषणा कर दी कि अस्पृश्यता को सही ठहराना अधर्म है। इसलिए इसको शीघ्र ही समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधीजी का मानना था कि स्त्रियों के अधिकार की माँग करते हुए हमें स्त्रियों के धर्म की बलि नहीं देनी चाहिए। स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करते हुए भी पुरातन पुरुषों की निन्दा अथवा भर्त्सना आवश्यक नहीं है। गांधीजी अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रत्येक भारतीय के लिए संस्कृत भाषा और इसके वाङ्मय का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। 20 मार्च, 1927 को हरिद्वार की राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में भाषण देते हुए उन्होंने कहा, "संस्कृत का अध्ययन करना प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी का कर्तव्य है। हिन्दुओं का तो है ही, मुसलमानों का भी है क्योंकि आखिर उनके पूर्वज राम और कृष्ण ही थे और अपने इन पूर्वजों को जानने के लिए उन्हें संस्कृत सीखनी चाहिए। गांधीजी की समस्त प्रवृत्तियाँ धार्मिक थीं। वह धर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहते थे। इस धर्म के ज्ञान के लिए वे संस्कृत पढ़ना जरूरी मानते थे। गांधीजी के शब्दों में, "धर्म के ऊपर सब कुछ निर्भर है और संस्कृत जाने बिना धर्मशास्त्रों का ठीक ज्ञान मिलना अशक्य है। इसलिए संस्कृत जानना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है।" (वाङ्मय, 13/360) गांधीजी के दिमाग में संस्कृत और शास्त्र इतने अधिक छाए हुए थे कि वह उस हर व्यक्ति का अनुसरण करने को कहते थे जिनको इन विषयों में महारत हासिल है। श्रीलंका के बौद्धों को संस्कृत की महत्ता बताते हुए गांधीजी कहते हैं कि गौतम बुद्ध हिन्दुओं के भी हिन्दू थे। वे हिन्दुत्व के भाव से और वेदों के भाव से पूरी तरह रँगे हुए थे। वे उल्लासपूर्ण आत्मा के लिए उल्लासपूर्ण वातावरण में जन्मे थे। उन्होंने हिन्दुत्व और वेद के उपदेश से कभी इंकार नहीं किया।

आलस्य से, अज्ञान से और अनेक बार जानबूझकर की गयी गलतियों के कारण जनता को संस्कृत साहित्य का अपूर्ण अथवा गलत अनुवाद मिलता है। एक शक्तिशाली साहित्यकार को अपनी कला को कम-से-कम इतना

तो विकसित करना चाहिए कि पाठक उसे पढ़ने में लीन हो जाये। गांधीजी जिस स्वतन्त्रता का नेतृत्व कर रहे थे और जिस प्राचीन भारतीय सभ्यता को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश कर रहे थे, उसमें 'रामायण', 'महाभारत', 'गीता' और 'रामचरितमानस' जैसे ग्रन्थों से ही मदद मिल सकती थी। बुद्ध, रामानुज, शंकर, कबीर, नानक, चैतन्य, राममोहन और अन्य ने रूढ़ि का विरोध करके हमें रास्ता दिखाया है। गांधीजी के अनुसार बुद्ध, महावीर आदि ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की थी, बल्कि भारत के प्राचीन धर्म में ही सुधार के काम किये थे। गांधीजी भी सुधारक की हैसियत से काम करना चाहते थे। गांधीजी के शब्दों में, "मेरे बहुत से राजनीतिक मित्र मेरी आशा इसलिए छोड़ बैठे हैं कि उनका कहना है कि मेरी राजनीति भी मेरे धर्म से उद्‌भूत है और उनका कहना सही है। मेरी राजनीति तथा अन्य तमाम प्रवृत्तियों का स्रोत मेरा धर्म ही है। मैं इससे भी आगे बढ़ाकर यह कहूँगा कि धर्मपरायण व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति का स्रोत धर्म ही होना चाहिए।" (वाङ्मय, 57/214) गांधीजी का मानना था कि जिसका जीवन धर्म में रँगा है उसके ख्याल से राजनीति और अर्थशास्त्र सब धर्म के अंग हैं। धर्म रहित राजनीति शव के समान है जिसे दफना देना ही उचित है। गांधीजी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य था धर्म के अनुसार अपने जीवन का संचालन करना। गांधीजी के लिए धर्म का अर्थ हिन्दू धर्म नहीं था, उनका तात्पर्य उस मूल धर्म से है जो हिन्दू धर्म से उच्चतर है जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है; जो हमें अन्तर के सत्य से अटूट रूप से बाँध देता है और जो निरन्तर शुद्ध और पवित्र बनता रहता है। वह मनुष्य की प्रकृति का एक ऐसा स्थायी तत्त्व है जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार है। गांधीजी के शब्दों में, "मेरे राजनीतिक विचार, धार्मिक विचार और सामाजिक विचार सब एक ही वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ हैं, इसलिए वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। मगर जिसे अलग लगते हैं वे मेरी राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने के लिए अपना धर्म न छोड़े। लेकिन कोई मूर्ख या भीरू यदि अपना धर्म रूपी हीरा बेचकर राजनीतिक कंकर लेने लगे तो क्या मैं अपना धर्म छोड़ दूँ।" (वाङ्मय, 54/67)

गांधीजी के लिए आध्यात्मिकता सर्वोपरि थी; नीति और सदाचार के नियमों का बिल्कुल पालन न करने वाले को धार्मिक मानना उनके लिए

मुश्किल बात थी। आचरण से भिन्न ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे धर्म कहा जा सके। गांधीजी के अनुसार धर्म सीधी लकीर नहीं है, बल्कि विशाल वृक्ष है। उसमें करोड़ों पत्तों में से दो पत्ते भी एक जैसे नहीं हैं। प्रत्येक टहनी एक-दूसरे से अलग है। धर्म सीधी लकीर से परे है क्योंकि वह बुद्धि से परे है; और उसे सिर्फ अनुभव से ही जाना जाता है। गांधीजी सभी धर्मों को सच्चा मानते थे लेकिन एक भी धर्म ऐसा नहीं है जो अपने-आप में सम्पूर्ण है। सिर्फ ईश्वर ही अपने-आप में सम्पूर्ण हैं। गांधीजी के अनुसार सन्तान धर्म ऐसा सदाचार है जिसका लोग पालन कर सकते हैं; इसमें दुराचार और बुरी आदतों का निषेध है। धर्म वह है जिसे धारण किया जा सके; धर्म आत्म उन्नति का साधक है। इस प्रकार गांधीजी के लिए देश-सेवा, विश्व-सेवा, आत्मोन्नति और ईश्वर-दर्शन ये कोई पृथक वस्तुएँ नहीं हैं बल्कि एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गांधीजी भारत की सेवा के माध्यम से विश्व की सेवा करना चाहते थे और हिन्दू धर्म का पालन कर और उसमें सुधार लाकर हिन्दू धर्म की सेवा के द्वारा विश्व के अन्य धर्मों की सेवा करना चाहते थे। गांधीजी के अनुसार धार्मिक व्यक्ति मर्यादा से बाहर जाकर जीने से इनकार कर देता है; अधर्मी के लिए मर्यादा नहीं होती है। जीने के लोभ में वह अपने को भी बेच देगा।

भारत के स्वराज को प्राप्त करने के साधन 'सत्याग्रह' और 'अहिंसा' थे। इसलिए भारत के स्वराज से संसार को कोई खतरा नहीं था। गांधीजी का मानना था कि स्वराज अगर उचित साधनों द्वारा प्राप्त किया गया तो वह मानव के लिए बहुत लाभकारी होगा। गांधीजी की देशभक्ति की कल्पना सम्पूर्ण मानव जाति के हित के लिए रही है। गांधीजी के अनुसार धर्म का तात्पर्य संकुचित सम्प्रदाय या केवल ब्रह्मचर्य नहीं है। धर्म का व्यापक अर्थ है ईश्वरत्व के विषय में हमारी अटल श्रद्धा, पुनर्जन्म में अविचल श्रद्धा और सत्य और अहिंसा में हमारी पूर्ण श्रद्धा।

23 फरवरी, 1931 को गांधीजी ने डॉ. थॉर्नटन को लिखे पत्र में कहा कि यदि मिशनरी दोस्त भारतीयों का धर्म परिवर्तन करने और ईसा मसीह को उनके समीप लाने के अपने उद्देश्य को भूल सकें तो वे बेहद अच्छा कार्य कर सकेंगे। गांधीजी बार-बार कहते थे कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का धर्म परिवर्तन उचित नहीं है। व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्तव्य उनके धर्म की नींव हिलाने में नहीं बल्कि उसके धर्म में उसकी आस्था बढ़ाने में है। सभी

धर्मों में अपूर्णताएँ एक समान हैं। गांधीजी सभी धर्मों को बराबर महत्त्व देने में विश्वास रखते थे। वह कहते थे, "यदि मैं बाइबिल और कुरान को अपनी व्याख्या के अनुसार मानकर अपने को ईसाई या मुसलमान कह सकूँ तो मुझे अपने को ईसाई या मुसलमान कहने में जरा भी संकोच नहीं होगा, क्योंकि उस हालत में हिन्दू, ईसाई और मुसलमान ये शब्द पर्यायवाची ही हो जायेंगे। मेरा यह विश्वास है कि परलोक में न कोई हिन्दू है, न ईसाई और न ही मुसलमान है। वहाँ सब केवल अपने कर्मों का फल पाते हैं। उनकी अच्छाई या बुराई का निर्णय कर्मों से होता है। (वाङ्मय, 31/364)

अपने पूर्वजों के धर्म को गांधीजी ने सनातन हिन्दू धर्म के रूप में स्वीकार किया था। वह अपने-आप को सनातनी वैष्णव हिन्दू कहते थे। सनातन हिन्दू धर्म में गांधीजी जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख, आर्य आदि सभी सम्प्रदायों को एक ही पेड़ की विभिन्न टहनियाँ मानते हैं। उनकी यह मान्यता थी कि विभिन्न सम्प्रदायों में केवल साधना और उपासना का ही भेद है। उनका मौलिक सिद्धान्त और मान्यताएँ एक हैं; वे एक ही वैदिक धर्म की विभिन्न शाखाएँ हैं; आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और आस्तिकता में भारत के सभी सम्प्रदायों का विश्वास है। एकमात्र चार्वाक ही अपवाद है। अनेक व्याख्यानों में गांधीजी ने हिन्दू धर्म पर बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्मों के आक्रमण का उल्लेख करते हुए कहा कि यदि कुल मिलाकर देखें तो हिन्दू धर्म उनसे उबरकर निकला है। हर एक धर्म में जो अच्छाई थी उसे ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। हिन्दू धर्म के लोग यह मानते है कि ईश्वर है; वह अनादि है; निर्गुण है।

गांधीजी को हिन्दू धर्म को जानने-समझने और उसके प्रचार-प्रसार में बहुत अधिक रुचि थी। उनका मानना था कि साधारण हिन्दू धर्म सबको मान्य होने लायक है। साधारण हिन्दू धर्म को जानना केवल हिन्दुओं का नहीं बल्कि सारे भारतीयों का काम है। गांधीजी के अनुसार किसी भी समाज की शिक्षा उसके धर्म की शिक्षा के बिना निकम्मी है। जिसको हम लौकिक शिक्षा कहते हैं वह भी धर्म को दृढ़ करने वाली तालीम ही है। जिस देश में रामचन्द्र जैसे महापुरुष हुए हों वहाँ सभी धर्मों के लोगों को गर्व करना चाहिए.

प्राचीनता और आधुनिकता का अन्तर बताते हुए गांधीजी ने कहा कि आधुनिक सभ्यता का सार दो बातों में है; एक है निरन्तर भाग-दौड़ और

दूसरा है देश-काल के व्यवधान को समाप्त करने का प्रयास। भाग-दौड़ के कारण आधुनिक जीवन में उच्च विचारों के लिए समय ही नहीं बचता है। आधुनिक सभ्यता हमें भौतिक दृष्टिकोण देती है; आधुनिक व्यक्ति का जीवन जटिल होता है। गांधीजी का मानना था कि सादा जीवन अच्छा होता है क्योंकि उसमें ऊँची प्रवृत्तियों के लिए समय मिल जाता है। यह जीवन प्राचीन सभ्यता में आसान था। गांधीजी प्राचीन भारत सभ्यता का पुनरुद्धार करने की कोशिश कर रहे थे। भारतीय सभ्यता का पुनरुद्धार उसकी सनातन धर्म की मान्यताओं से ही हो सकता है। गांधीजी के मतानुसार हिन्दू धर्म का आन्तरिक स्वरूप सत्य और अहिंसा है। हिन्दू धर्म का तत्त्व मोक्ष है।

गांधीजी को इस बात का दुख था कि स्मृतियों के नाम पर घोर अधर्म हो रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति क्या करे? उसके सामने विकट प्रश्न यह है कि शास्त्रों में से वह किसे क्षेपण माने, किसे ग्राह्य और किसे त्याज्य समझे। ज्ञान के अभाव में भक्ति प्रधान हो जाती है। पाखंड, दम्भ, मद और माया आदि पाप जो वर्तमान सरकार में अनेक रूप से प्रकट हो रहे हैं, उसके साथ असहयोग करके हम जब आत्मशुद्धि प्राप्त करेंगे तब कदाचित हमें शास्त्रों का ज्ञान देने वाला कोई ज्ञानी पुरुष मिल जायेगा। तब तक हम प्राकृत लोग सरल भाव से मूल तत्त्वों का पालन करते हुए और हरिभक्ति करते हुए इस संसार से विचरण करें। पानी, अन्न और शादी-ब्याह के सम्बन्ध में हिन्दू जिन नियमों का पालन करते हैं उन्हें गांधीजी हिन्दू धर्म के आवश्यक चिन्ह नहीं मानते। हिन्दू धर्म में संयम को प्रधान पद दिये जाने के कारण खाने-पीने और शादी-ब्याह में प्रतिबन्ध लगाए गये होंगे; परन्तु जो इन नियमों का पालन नहीं करते उन्हें गांधीजी धर्मभ्रष्ट नहीं समझते। पानी, भोजन, विवाह आदि के व्यवहार को वे शिष्टाचार मानते हैं; उनमें आरोग्य और पवित्रता की रक्षा निहित होती है; परन्तु तिरस्कार के रूप में किसी के घर के भोजन अथवा पानी का त्याग करना हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। उनके आश्रम में रहने वाले लोगों को एक-दूसरे के साथ बैठकर खाने में कोई परहेज नहीं था, चाहे वे किसी भी मजहब या वर्ण के हों।

सनातन हिन्दू धर्म में अपनी तीव्र आस्था, भारत की प्राचीन संस्कृति में अगाध श्रद्धा के कारण और आधुनिक सभ्यता का विकराल रूप प्रत्यक्ष देखने के बाद गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारत के लिए आधुनिक

सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा बिल्कुल निरर्थक है। उनके अनुसार राममोहन रॉय और गंगाधर तिलक को अगर अंग्रेजी की छूत न लगी होती तो वे अधिक महान होते। गांधीजी के शब्दों में, "राममोहन और तिलक चैतन्य, शंकर, कबीर तथा नानक के सामने कुछ नहीं हैं। इन सन्तों की तुलना में इनका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था। अकेले शंकर ने जो कुछ कर दिखाया वह अंग्रेजी जानने वालों की सारी फौज भी नहीं कर सकती।" (वाङ्मय, 19/484) आदि शंकराचार्य को गांधीजी हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा आचार्य मानते थे। गांधीजी स्वामी दयानन्द सरस्वती को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और यह मानते थे कि उन्होंने हिन्दू धर्म की बहुत सेवा की है। उनकी बहादुरी के सम्बन्ध में किसी को शक नहीं हो सकता है। परन्तु गांधीजी के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने हिन्दू धर्म को बहुत संकुचित बना दिया था। उन्होंने अनजाने में ही अन्य धर्मों को गलत रूप में पेश किया था। गांधीजी इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे कि अगर आपके शत्रु में भी यदि कोई गुण है तो आपको उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। यदि आपके गुरु में कोई दोष है तो उसे कहने में कोई संकोच नहीं चाहिए। इस न्याय में विश्वास रखने के कारण गांधीजी ने मालवीय जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के बारे में यह कह दिया था कि उन्हें हिन्दू धर्म की गहरी समझ नहीं है, यद्यपि दोनों को वे अग्रज तुल्य मानते थे।

गांधीजी के लिए हिन्दू धर्म का मूल तत्त्व गोरक्षा है। यह प्रक्रिया मनुष्य को अपनी जातीय परिधि से बाहर ले जाती है। गांधीजी गाय में समस्त मानवेतर प्राणियों के दर्शन करते थे। मानवेतर प्राणियों के प्रति करुणा रखने की आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि वे मूक हैं। गोरक्षा हिन्दू धर्म की देन है और जब तक गोरक्षा करने वाले हिन्दू दुनिया में मौजूद हैं तब तक हिन्दू धर्म भी जीवित रहेगा। गांधीजी को गाय की चिन्ता बहुत अधिक थी। उन्होंने खिलाफत के मामले को अपना इसलिए बना लिया था क्योंकि उससे उन्हें अपने मुसलमान भाइयों से गाय को बचाने की आशा दिखाई देती है। गांधीजी कहते हैं, "भागवत में हम पढ़ते हैं कि भारतवर्ष का नाश कैसे हुआ। उसके अनेक कारणों में एक कारण हमारा गोरक्षा छोड़ देना भी बताया गया है। गोरक्षा करने की अशक्ति का हिन्दुस्तान की गरीबी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

गांधीजी स्वयं मूर्तिपूजक नहीं थे, परन्तु वे मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं रखते थे। वह यह समझते थे कि मूर्तिपूजा मानव स्वभाव का अंग है; मूर्तियों के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है। गांधीजी के अनुसार हिन्दू धर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनिया के सभी नबियों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है। हिन्दू धर्म सभी लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है और इसलिए इसका किसी धर्म से झगड़ा नहीं है। गांधीजी कहते हैं, "भले ही कोई मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दे, मैं दलित वर्गों का साथ नहीं छोड़ सकता। जब तक हिन्दू अपने उदात्त धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से दूषित रखेंगे तब तक वे कभी भी स्वतन्त्रता के पात्र नहीं होंगे और न उसे प्राप्त कर सकेंगे, और चूँकि मैं हिन्दू धर्म को प्राणों से अधिक प्यार करता हूँ इसलिए यह कलंक सहना मेरे लिए असम्भव हो गया है।" (वाङ्मय, 21/261)

गांधीजी एक बार को आर्य समाजियों की हिन्दुओं से अलग होने की बात समझ सकते हैं, सिखों की समस्या भी समझ सकते हैं, परन्तु जैनों और बौद्धों को तो वह हिन्दू धर्म से अलग मानने के लिए कतई तैयार नहीं थे। अपने बारे में वह कहते हैं, "मैं अनेकान्तवादी हूँ। जैन दर्शन से सबसे महत्त्वपूर्ण बात मैंने यही सीखी है। वेदान्त में वह गूढ़ रूप में है, जैन धर्म में स्पष्ट है।" (वाङ्मय, 23/19) गांधीजी कहते हैं, "कितने ही लोग मुझे द्वेषवश जैन समझते हैं और कितने ही प्रेमपूर्वक चाहते हैं कि मैं जैन हो जाऊँ और कई जैनियों के प्रति मेरा पक्षपात देखकर मुझसे खुश भी होते हैं। मैंने जैन ग्रन्थों से बहुत कुछ सीखा है। बहुत से जैन मित्रों का सहवास मेरे लिए लाभकारी सिद्ध हुआ है।" (वाङ्मय, 34/26) गांधीजी का मानना था कि जैन और बौद्ध धर्म अलग नहीं हैं सनातन से। उनका मानना था कि बुद्ध के उपदेशों का महत्त्वपूर्ण भाग हिन्दू धर्म में घुल-मिलकर आज उसका अंग बन गया है। गांधीजी का मानना था कि गौतम बुद्ध स्वयं एक हिन्दू थे—हिन्दू श्रेष्ठ थे। कुछ तत्त्व जो वेदों में दबे हुए थे और जिन पर छाले छा गये थे उन तत्त्वों को उन्होंने नवजीवन दिया।

गांधीजी का मत था कि इस विश्व का साम्राज्य नीति-नियमों के आधार पर चलता है; इस तत्त्व पर उन्होंने जोर दिया और उसकी नवघोषणा की; यह नियम ही ईश्वर है। ऐसा गांधीजी ने निसंकोच कहा था। गांधीजी के

अनुसार बुद्ध के जीवन का मुख्य तत्त्व यह है कि हममें जितना विकार है, दुर्गुण है, हीन है—उन सबका सर्वथा नाश ही निर्वाण है। इसी तरह, गांधीजी ने ब्रह्मसमाज को भी हिन्दू धर्म की शाखा बतलाया था। ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म में प्रवेश करके उसकी उदारता कायम रखी और शुद्ध धर्म भावना और एक ईश्वर की भक्ति के तत्त्व का उत्तम विकास किया। (वाङ्मय, 37/202) गांधीजी के विचार में सनातनी वही है जो हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में विश्वास करे। वे मूलभूत सिद्धान्त हैं–सत्य और अहिंसा। गांधीजी को हिन्दू धर्म से और भारत की पुण्य भूमि से अत्यन्त लगाव है। तभी तो वह भारत को कर्मभूमि, त्यागभूमि और धर्मभूमि कहते हैं।

गांधीजी भारत में अंग्रेजी शिक्षा इसलिए नहीं पसन्द करते थे क्योंकि इस शिक्षा ने हमारे शास्त्रों को ही धिक्कारा है, उन्हें बेमतलब करार दिया है। अंग्रेजी शिक्षा की एक और बुराई है कि हमें सिखाया जाता है कि अंग्रेजी सभ्यता का किस ढंग से अनुकरण करें, यही उद्देश्य रखकर हमें सारी आधुनिक शिक्षा दी जाती है। आधुनिक शिक्षा ने सबको कायर बना दिया है; हमारी बेबसी और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का कारण यही शिक्षा है। इसने गुलामी की मनोवृत्ति को बढ़ावा दिया है। गांधीजी का कहना था कि उनकी देशभक्ति उनकी धर्म भावना के अधीन है। अगर सारे लोग मुसलमान हो जायें तो भी वह अकेले ही हिन्दू बने रहेंगे और हिन्दुत्व के गौरव को बढ़ाते रहेंगे। गांधीजी के विचार में हिन्दू धर्म की खूबी उसकी सर्वसंग्राहकता में है। हिन्दू धर्म में हर धर्म का सार मिलेगा और जो चीज इस धर्म में नहीं है, वह असार या अनावश्यक है। तुलसीदास और गीता हमें यह सिखाते है कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म के ऊपर हमला हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना और जो पिंड के लिए ठीक है वह ब्रह्मांड के लिए भी ठीक है। वेद कागज पर लिखे अक्षरों का नाम नहीं है; वेद हमारे हृदय में हैं; यही हमें नियम का पालन करना और कृष्ण का नाम लेना सिखाते हैं। गांधीजी हिन्दू धर्म में पैदा हुए थे और उसी में पले-बढ़े। पूरे जीवन हिन्दू धर्म की साधना करते रहे और अन्त में उन्होंने इसीलिए अपने जीवन का होम कर दिया था।

हिन्दू धर्म में ऐसा क्या है कि इसके भक्त सदियों से इस पर न्योछावर होते आये हैं? वहाँ न तो इस्लाम की तरह कलमा है और न ही जैसे बाइबिल में 3.16 सेंट जॉन में ईसाई धर्म की केन्द्रीय मान्यता का उल्लेख हुआ है वैसा

कुछ है। गांधीजी का मानना था कि यदि सारे उपनिषद तथा हमारे अन्य सारे धर्मग्रन्थ अचानक नष्ट ही जाये और यदि ईशोपनिषद का केवल पहला मन्त्र हिन्दुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिन्दू धर्म सदा जीवित रहेगा। कोई साधारण व्यक्ति और क्या चाहेगा एक ही ईश्वर और जीवमात्र का एक ही सृष्टा और नियंता विश्व के कण-कण में व्याप्त है। गांधीजी का मानना था कि ईश्वर अपनी समस्त सृष्टि में व्याप्त है तो आपको यह भी मानना पड़ेगा कि आप किसी ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं कर सकते जो उसकी दी हुई नहीं है। हमें किसी की सम्पत्ति को लोभ की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। गांधीजी कहते थे कि जितना आपके विकास के लिए आवश्यक है उतना ही ग्रहण करना चाहिए। गांधीजी का मानना है कि त्याग स्वयं हमारे अस्तित्व के लिए और हमारी आत्मा के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। धर्मग्रन्थों की व्याख्या के अनुसार जो कुछ श्रुति के विरुद्ध है, वह सब सर्वथा त्याज्य है। (वाङ्मय, 64/295)

गांधीजी के मापदंड परिस्थिति के अनुसार नहीं बदलते थे। उनके सिद्धान्त दृढ़ थे। उन्हें अपने धर्मवलम्बियों की संख्या बढ़ाने में कोई रुचि नहीं था; उनका आग्रह धर्म के पालन पर था। उन्हें लगातार ऐसे गुरु की तलाश थी जो देहधारी होने पर भी अविकारी हो; विकारों में निर्लिप्त हो; स्त्री-पुरुष के भाव से मुक्त हो और अहिंसा का अवतार हो। ऐसे गुरु की प्राप्ति बिना योग्यता के नहीं हुआ करती; इसलिए गुरु को प्राप्त करने के लिए वह स्वयं पूर्ण बने बनने का प्रयत्न करते है। गांधीजी गुरु की खोज में इसलिए थे कि उनकी अल्पज्ञता उन्हें नम्र बनाये हुई थी। उनका मानना था कि गुरु की खोज प्रत्येक ईश्वर-भीरु व्यक्ति के लिए एक बुद्धिसंगत आवश्यकता है। मनोवांछित गुरु मिले या न मिले पर उसकी खोज अपने-आप में एक उपलब्धि है और वह सन्तोषकारक भी है। (वाङ्मय, 31/487)

गांधी इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अधीर थे; वे पुनर्जन्म नहीं चाहते थे; लेकिन उनका जन्म हो तो वह अछूतों के घर जन्म लेना चाहते थे ताकि वह स्वयं मुक्त होने और उनको इस दु:खजनक स्थिति से मुक्त करने का प्रयत्न कर सकने के उद्देश्य से उनके दुखों, कष्टों और उनके प्रति किये गये अपमानों में हिस्सेदार बन सकें। इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए वह अपने

देश की सेवा कर रहे थे। वह ईश्वरीय राज्य-मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। अपने इस ध्येय की सिद्धि के लिए उन्हें गुफा में जाकर बैठने की आवश्यकता नहीं थी। उनका कहना था कि गुफा तो वह स्वयं अपने साथ लिये फिरते हैं। देश और जन की सेवा करना ही उनके लिए मुक्ति का मार्ग था। अपने मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई लड़ी थी; इस सत्याग्रह से वे स्वराज पाना चाहते थे जो उनके लिए आत्मा के राज्य से अभिन्न था। गांधीजी के लिए सनातन धर्म वह धर्म था जो हमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी बल्कि प्रागैतिहासिक काल से ही विरासत में मिला है और जो वेदों और धर्मग्रन्थों पर आधारित है। इस धर्म का गांधीजी ने विचारपूर्वक ग्रहण किया, उसका कठोरता से पालन किया और अन्त में उसी में विलीन भी हो गये।

संक्रमण काल : भारतीय राष्ट्र में असुरक्षा की भावना का जन्म

मध्यकालीन भारत में विदेशी शासन की नींव 13वीं शताब्दी में पड़ी और फिर कई दशक के बाद महात्मा गांधी का जन्म हुआ। अगर स्वराज की दृष्टि से देखा जाये तो भारत जैसे देश के लिए यह काल संक्रमण का काल कहा जा सकता है। साधारणतः इसको भारतीय राजाओं की हार और तुर्क और अन्य मुस्लिम आक्रांताओं की विजय के रूप में देखा जाता रहा है। महात्मा गांधी की दृष्टि में यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी क्योंकि राजा और वंश अथवा शासन करने वाले बदलते रहे हैं। लेकिन इससे किसी सभ्यता या जाति की वीरता अथवा अस्तित्व का विनाश नहीं हो जाता है। महात्मा गांधीजी ने समाज की आन्तरिक शक्ति और आस्था पर बल दिया जो सदैव भारत में जीवन्त रहा है। इसी का प्रयोग करके महात्मा गांधीजी ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया था।

विदेशी लेखकों और इतिहासकारों ने अपने लेखन और विचारोपण से भारतीय संस्कृति और सभ्यता को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। इन्होंने भारत को पिछड़ा, सैन्य क्षमता में दुर्बल और संस्कृति में पिछड़ा घोषित करने का प्रयत्न किया जो कि एक बुद्धिजीवी अपराध है। ये सब इसलिए हो पाया क्योंकि जितने भी विदेशी विद्वान थे और उन्हें भारतीय संस्कृति के बारे में अल्प ज्ञान। भारत की सभ्यता और संस्कृति को पूरी तरह समझने का प्रयत्न नहीं किया। बल्कि अपने विचारों को तथ्य के रूप में थोपने का प्रयास किया।

आधुनिक इतिहास में औद्योगिक क्रान्ति ब्रिटेन में होती है और अनन्य आविष्कार भी होते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि भारत पिछड़ा रहा है। प्राचीन काल से ही भारत एक सभ्यता के रूप में अग्रणी रहा है

जिसमें अनेकों अन्वेषण और आविष्कार हुए हैं। उस समय शायद तथाकथित आधुनिक यूरोप कहीं नहीं था।

साहित्य समाज और संस्कृति का आईना होता है। हमारी संस्कृति कितनी सुदृढ़ थी इसका प्रमाण हमारे वेद और अनेकों ग्रन्थ देते हैं। इनके इतर वेदों पर लिखी गयी टीका-टिपण्णी और वेदांग इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष इत्यादि ये सब किस संस्कृति को प्राप्त थे? यास्क और पाणिनि जैसी विभूतियाँ शायद ही किसी समाज में जन्मी हों। जैमिनी, कणाद, गौतम और कपिलमुनि जैसे दार्शनिक शायद ही किसी अन्य समाज में जन्मे हों। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे कालजयी ग्रन्थ शायद ही कही और सम्भव थे। काशी, मथुरा और अयोध्या जैसे नगर अपने आरम्भिक काल में ही बसाना क्या किसी सभ्यता के लिए सम्भव था? अयोध्या धर्म राज्य का प्रतीक है; काशी आत्म ज्ञान का प्रतीक है; और मथुरा जिसे मधुरा से भी सम्बोधित किया जाता है वह भौतिक जीवन की सम्पन्नता का प्रतीक है। ऐसा कहीं और पाना दुर्लभ है।

अपने ज्ञान, सभ्यता और आत्मबल को आधार बनाकर भारत के लोगों ने नया कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने पूर्वी एशिया में कोरिया से लेकर वियतनाम तक और मध्य एशिया तक हिन्दू राज्य की स्थापना की। दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्दू मन्दिर और अफगानिस्तान में बौद्ध मन्दिर और विहार इस बात का प्रमाण देते हैं। अरबों के व्यापारिक बेड़े और इस्लाम के प्रसार से पहले भारत के व्यापारिक बेड़े हर महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह और स्थान पर उपस्थित थे जो भारत के महान विरासत और संस्कृति की गाथा सुनाते थे। इसी को सुनकर और भारत की अपार शक्ति को समझकर सिकंदर को मौर्य वंश से टक्कर लिये बिना उत्तर-पश्चिम सीमा से वापस जाना पड़ा। लेकिन सिकंदर खाली हाथ नहीं लौटा। वह भारत के शास्त्रों को अपने गुरु अरस्तु के लिए ले जाना नहीं भूला। शायद इसी में उसकी जीत थी।

भारतीय सभ्यता ने समाज के लिए उच्च आदर्श स्थापित किये हैं जिसमें व्यक्ति और राजा दोनों के लिए मानक स्थापित किये गये हैं। ह्वेन सांग और फाह्यान जैसे यात्रियों ने हमारे सम्राटों और राजाओं की महानता के बारे में वर्णित किया है। सम्राट हर्ष हर पाँच वर्ष पर प्रयाग जाते थे और एक मास तक चलने वाला यज्ञ करते थे और अपना सर्वस्व दान कर देते थे।

यह आचरण शायद ही किसी संस्कृति में मिले। हृदय के सबसे धनी तो हमारे किसान हैं जो सब कुछ देने के बाद पशु और पक्षियों के लिए भी कुछ न कुछ बचा के रखते थे।

भारत के लोगों का जीवन ईशावास्य उपनिषद के ईशावास्य मन्त्र पर आधारित था जिसमें यह कहा गया था कि यह सारा संसार ईश से व्याप्त है। इसलिए किसी को भी संसार के अन्य प्राणियों के भाग का लोभ नहीं करना चाहिए। महात्मा गांधीजी ने अपनी दक्षिण यात्रा पर यह बात कही थी कि अगर भारत के सभी शास्त्र नष्ट हो जायें और यह मन्त्र बचा रहे तब भी भारतीय अपनी सभ्यता का निर्माण कर लेंगे। प्रश्न यह उठाया जाता है कि अगर भारत की विरासत इतनी महान है तो दासता इतनी लम्बी क्यूँ थी और वे विदेशी शक्ति से आसानी से हार कैसे गये? यह अंग्रेजी में अंग्रेजों द्वारा पढ़ायी और बतायी गयी भारतगाथा का परिणाम है। यह जानबूझकर किया गया षड्यंत्र था जिसका उद्देश्य भारत के मनोबल को गिराकर अंग्रेजी शासन को लम्बे समय तक चलाना था। इसको और बढ़ावा देने का काम अंग्रेजी भाषा में शिक्षित भारतीय लोगों ने किया। अंग्रेजी भाषा में विदेशी शासकों और ज्ञान को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया, वहीं भारतीय ज्ञान परम्परा और शक्ति को कम आँका गया। अंग्रेजी शिक्षा से मुक्ति पाये बिना यह हीन दृष्टि समाप्त नहीं होगी। जापान, चीन और अन्य देशों की शिक्षा अंग्रेजी में नहीं है इसलिए उनकी व्याख्या हीन दृष्टि से नहीं की जा सकती है।

निस्सन्देह भारत पर लम्बे समय तक चलने वाला यह विदेशी आधिपत्य विपत्तिकाल के समान था। ऐसा नहीं है कि भारत के लोगों ने सहज ही आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। पूरे विश्व में आक्रमणकारी हमले हुए हैं जिससे संस्कृतियाँ नष्ट हुई हैं। हूणों ने रोमन सभ्यता को नष्ट के समीप ला दिया था। हूणों ने भारत पर भी हमला किया परन्तु पराजित होकर लौट गये। इतिहासकार आज तक इस तथ्य को खोज रहे हैं। लेकिन इस्लाम के साथ एक नया काल आरम्भ होता है। इस्लामी हमलावर केवल जीत और लूट से सन्तुष्ट नहीं थे। वे मूर्तिभंजन करते थे और इस्लाम ना मानने वालों को वे सहन नहीं करते थे। अन्य क्षेत्रों में उन्हें सभ्यता नष्ट करने में सफलता भले प्राप्त हो गयी हो लेकिन भारत में उन्हें यह इतनी आसानी से प्राप्त नहीं हुआ और उन्हें भारत की मिट्टी को अपनाना पड़ा। इस्लाम के उदय के साथ,

अरबों ने मिस्र से लेकर मध्य एशिया तक रौंद डाला था, वहीं भारत में उन्हें पैर टिकाने की जगह नहीं मिली थी।

मुस्लिम आक्रमणकारियों को सिन्ध से आगे बढ़ने में करीब 300 साल लग गये। भारत में लूट मचाने में पहली बार महमूद गजनवी सफल हुआ था। उसने सोमनाथ, नगरकोट, थानेश्वर, कालिंजर और मथुरा जैसे प्रसिद्ध मन्दिरों को लूटकर एक बड़ी सेना बना ली। 12वीं शताब्दी में मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज चौहान को हराने में सफल रहा। पहली बार पृथ्वीराज ने दया दिखाकर गोरी को छोड़ दिया था लेकिन वैसा गोरी ने नहीं किया। गोरी ने पृथ्वीराज पर दया नहीं दिखाई। हालाँकि गोरी को पंजाब के सामान्य खोखर जाटों ने मारा डाला था।

मुहम्मद गोरी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होने के कारण उसके गुलामों ने साम्राज्य को आपस में बाँट लिया था। दिल्ली कुतबुद्दीन ऐबक के हिस्से में आयी और बंगाल खिलजियों के हिस्से में। यहीं से भारत में विदेशी शासन की नींव पड़ी। मुस्लिम शासकों को दिल्ली में अधिक सफलता तब मिली जब खिलजी वंश ने शासन करना शुरू किया। कुछ समय बाद, अफगानों ने भी अपने लिए सेना में जगह बनाना शुरू कर दिया। मुस्लिम शासन इतना कमजोर था कि तैमूर 14वीं शताब्दी में आकर कत्लेआम करके चला जाता है और मुस्लिम शासक कुछ नहीं कर पाते हैं। तैमूर से प्रेरित होकर बाबर भी आता है और इब्राहिम लोदी को पानीपत के युद्ध में हराता है और वहाँ से शुरू होती है मुगल सल्तनत। बाबर अपने-आप को चंगेज खान और तैमूर दोनों का वंशज कहता था। बाबर अपनी तोपों की वजह से ही अधिकतर युद्ध जीत पाया था। उसके बाद उसके वंशजों ने शासन किया।

यह याद करने योग्य बात है कि उतरी चीन से निकली मंगोलों और तुर्कों की आँधी ने विश्व के अनेक क्षेत्रों को रौंद दिया। तुर्क कबीलों ने मध्य एशिया से निकलकर बैजंतिया (पूर्वी रोमन साम्राज्य) पर कब्जा किया और रोमन चर्च को पीछे धकेल दिया था। उनका उस्मानी साम्राज्य अरबों की शक्ति क्षीण करके खड़ा हुआ था और काफी शक्तिशाली भी था। अरब तुर्कों पर अंकुश नहीं लगा सके और उनका अन्त यूरोपीय शक्तियों के उदय से हो पाया। मंगोलों ने पूरी दुनिया में क्रूरता फैलाई; लेकिन भारत में स्थिति कुछ अच्छी थी क्योंकि मुस्लिम शासक उतनी क्रूरता नहीं कर पाये।

मुगल शासकों ने निर्दयता से किसानों से लगान बढ़ाकर वसूली की और अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार किया; शायद इसलिए उनकी सैन्य शक्ति से कोई छोटा राजा टक्कर नहीं ले पाया। मुगल काल में ही शिवाजी का उदय होता है जिन्होंने मराठा राज्य की नींव डाली और औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगलों से कहीं ज्यादा शक्तिशाली बनकर उभरे। औरंगजेब का सारा जीवन युद्ध में ही बीता और शायद यही कारन था मुगल शक्ति के बिघटन का। औरंगजेब के बाद दिल्ली की ये हालत थी कि भरतपुर के जाट भी उसे आसानी से लूट सकें। उस समय वीरता में सूरजमल आगे था और सिख भी अपनी विजय पताका फहरा रहे थे।

दक्षिण में मुस्लिमों के आक्रमण को रोकने के लिए श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य विद्यारण्य स्वामी के मार्गदर्शन में विजयनगर साम्राज्य का उदय हुआ था। अपने शक्ति और कौशल से विजयनगर के राजाओं ने दक्षिण को 300 साल तक सुरक्षित रखा था। उपलब्धि सिर्फ यह नहीं थी कि उन्होंने दक्षिण को सुरक्षित रखा बल्कि दक्षिण में एक धर्म राज्य की स्थपना की। यही भूमिका त्रावणकोर के राजा मार्तंड वर्मा ने भी निभाई; उन्होंने सारा राज्य तिरुवनन्तपुरम के अधिष्ठाता देवता पद्मनाभस्वामी को समर्पित कर दिया था। त्रावणकोर के राजाओं की वीरता के कारण टीपू सुल्तान कभी उन पर चढ़ाई करने का साहस नहीं जुटा पाया।

याद रखने योग्य बात यह है कि दासता के इस लम्बे समय में पूरा देश कभी विदेशी शासन में नहीं रहा है। कभी-कभी विदेशी शासन पूरे देश में हो जाता था लेकिन भारतीय समाज ने अपनी भीतरी शक्ति के बल पर नये-नये राजवंशों को जन्म दिया। लगातार चलने वाले युद्धों के कारण देश के लोगों को बोझ झेलना पड़ा। उनके साधन युद्ध की भेंट चढ़ते गये और लोगों में खिन्नता उत्पन्न होने लगी। बहरहाल 18वीं शताब्दी आते-आते विदेशी शक्तियाँ अपनी ऊर्जा खो बैठी थीं। यही समय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए अनुकूल साबित हुआ और भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी।

यूरोप और अरब संघर्ष से भारत से आयात की जाने वाली वस्तुओं और मशालों का यूरोप जाने का रास्ता बन्द हो गया। भारत से व्यापार शुरू करने की कोशिश में पुर्तगाल, डच, ब्रिटिश और फ्रांस की व्यापारिक कम्पनियाँ आगे आना शुरू कीं। 1600 ईस्वी में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत आयी

और अधिक मुनाफा करके अपनी फैक्टरियों की संख्या बढ़ाती गयी और उनकी रक्षा करने वाली फौज की भी संख्या बढ़ती गयी। और इस प्रकार उनकी रुचि राजनीतिक हस्तक्षेप में भी बढ़ती चली गयी। 1757 का प्लासी का युद्ध नियामक साबित हुआ और इस तरह वे अपनी पैठ बनाते गये और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर डाली। यूरोपीय शक्तियाँ एक नयी औद्योगिक सभ्यता का विकास कर रही थीं जो की भारत की सभ्यता के बिल्कुल इतर था।

भारत की तरह ही दक्षिण अफ्रीका भी रंग-भेद और नस्ल-भेद के पूर्वग्रह से पीड़ित था। इसी उद्देश्य से महात्मा गांधी दो बार लन्दन के दौरे पर गये और अन्ततः दक्षिण अफ्रीका भी पहुँचे; हालाँकि प्रथमत: वो दक्षिण अफ्रीका अपने एक सरकारी केस के लिए दादा अब्दुल्लाह के वकील के रूप में गये थे लेकिन वहाँ का रंग और नस्ल भेद देखकर उन्हें कई वर्षों तक वहाँ रहना पड़ा। इसी दौरान गांधीजी ने अपने 'सत्याग्रह' और 'असहयोग' जैसे अचूक अहिंसक अस्त्रों का प्रयोग किया। दक्षिण अफ्रीका में रह रहे भारतीयों को इस समस्या से मुक्ति दिलाने के सन्दर्भ में गांधीजी ने लन्दन में रह रहे भारतीयों से मुलाकात की जिनमें अंग्रेजों से हिंसा द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले लोग ज्यादा थे। उनके प्रमुख थे पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा जिन्होंने भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए इंडिया हाउस की स्थापना की थी। विजयदशमी की एक सभा में वीर सावरकर भी पहुँचे थे। इसके अलावा गांधीजी विपिनचन्द्र पाल से भी वहाँ मिले। इन लोगों के ऊपर ध्यान केन्द्रित करते हुए गांधीजी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में लिखते हैं—

> लन्दन में हरेक ज्ञात भारतीय अराजकतावादी के सम्पर्क में आया। मैं उनकी वीरता से तो प्रभावित हुआ, पर उनका जोश मुझे गलत दिशा में भटका हुआ दिखाई दिया। मैंने अनुभव किया कि भारत की समस्याओं का हल हिंसा से सम्भव नहीं है। और स्वराज के लिए भारतीय सभ्यता को एक अलग तरह का और ऊँचा अस्त्र चाहिए। दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह अभी शैशव अवस्था में ही है, मुश्किल से दो वर्ष पुराना, पर वह इतना विकसित हो गया है कि मैं उसके बारे में थोड़े आत्मविश्वास से लिख सका हूँ।

भारत के सन्दर्भ में गांधीजी के विचारों में जो हमें स्पष्टता देखने को मिलती है वह शायद ही किसी विचारक में देखने को मिले। अलग-अलग देशों में अलग-अलग विचारक और दार्शनिक हुए हैं। सबकी अपने समाज, देश और संस्कृति को लेकर अवधारणाएँ रही हैं परन्तु गांधीजी की भारत के लिए जो विचारधारा है वह दूरदर्शी और कालजयी है। अगर ऐसा नहीं होता तो भारत भी अन्य देशों की तरह एक सामान्य राष्ट्र अथवा समाज बनकर रह जाता। गांधीजी ने भारत की महान सभ्यता और संस्कृति से शक्ति या बल लेने की बात दोहराई जो हमें अपनी सभ्यता के प्रति अटूट प्रेम और आत्मविश्वास को दर्शाता है। गांधीजी के विचार एक अत्यन्त समृद्ध भारतीय चिन्तन शैली पर टिके हुए हैं। उन्होंने जीवन के मूलभूत प्रश्नों पर सोचकर एक ऐसा सारगर्भित साहित्य रचा जिसने एक साधारण किसान से लेकर महान पंडितों की जिज्ञासाओं को शान्त कर दिया। इस विचारमन्थन के साथ ही भारत ने एक ऐसी समृद्ध सभ्यता का स्मरण किया जिसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति करते हुए भी जीवन के नैतिक मूल्य नहीं छोड़े। गांधीजी इस बात को जानते थे कि कालक्रम के उतार-चढ़ाव में हर सभ्यता को सामंजस्य बनाना पड़ता है। इस सामंजस्य को नैतिक रूप में वही सभ्यता बना सकेगी जिसकी आधारशिला अहिंसा और नैतिकता पर बनी हो। भारतीय सभ्यता न केवल सनातन है बल्कि सनातन होते हुए भी आधुनिक है। भारतीय सभ्यता जीवन्त है जो समय अनुसार अपने-आप को नया रूप देने में पूर्णतः सक्षम है। इस बात को दोहराते हुए गांधीजी कहते हैं कि भारतीय सभ्यता को यूरोप की बैसाखी की आवश्यकता नहीं है।

यूरोप में शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद गांधीजी अपने-आप को यूरोप का शत्रु बताते हैं। उन दिनों इतनी स्पष्टता शायद ही किसी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को थी। वह भारतीयों को यूरोपीय सभ्यता से दूर रखना चाहते थे ताकि भारतीय लोग अपनी सभ्यता को और उसके गौरव ना भूल जायें। इस सबके बीच उनकी आँख अंग्रेजी शासन पर टिकी हुई थी। भारत में बने रहने के लिए अंग्रेजों ने जो उपलब्धियाँ गिनाईं गांधीजी ने उनको सिरे से नकार दिया और यह तर्क दिया कि भारत को अंग्रेजों से कुछ नहीं चाहिए। भारत की सभ्यता अपने-आप में समर्थ और समृद्ध है, उसे विदेशी सभ्यता का सहारा नहीं चाहिए। अंग्रेजी शासन यूरोपीय सभ्यता का प्रतीक और प्रतिनिधि है।

उससे मुँह मोड़ना ही एकमात्र रास्ता है। और इसमें सबसे कारगर साबित होंगे गांधीजी के 'असहयोग' और 'सत्याग्रह' जैसे अस्त्र।

महात्मा गांधी को विदेशी शासन के इतिहास ने कभी परेशान नहीं किया; उनकी रुचि हमेशा भारतीय सभ्यता और समाज में थी। भारत में राजा सदैव जनता का सेवक रहा है; समाज में सभी वर्गों की आय धर्मानुसार बाँटी जाती थी। राजा का भाग किसान की उपज का छठा था और अकाल के दिनों में दसवाँ तथा युद्ध के समय चौथा होता था। इसके विपरीत, विदेशी शासकों ने युद्ध के बहाने 60-70 प्रतिशत हड़पना शुरू कर दिया था। इससे खेती लाभदायक नहीं रही और इससे भी घातक था कि किसान अब खेत का मालिक नहीं रहा। विदेशी शासकों ने राजा को सेवक से स्वामी बना दिया और उसे अधिकार मिल गया कि वह लगान न देने पर किसान की जमीन छीन सकता है। मुस्लिम शासन में जजिया कर लगाया गया, दास बनाये गये और इस प्रकार इस्लाम ना मानने वालों के लिए जीवन दुष्कर होता गया।

यूरोप में स्थिति और भी बदतर थी। 14वीं शताब्दी में प्लेग फैला और यूरोप की आबादी आधी रह गयी थी। खेतिहर मजदूरों की कमी, भूस्वामियों की निरंकुशता और चर्च के नियंत्रण से आम लोगों का जीवन बदहाल हो गया था। मजदूरों की कमी ने नये आविष्कार और मशीनों को जन्म दिया। चर्च नये वैज्ञानिक दावों से खुश नहीं था और उसने वैज्ञानिक साहित्य पर पाबन्दी लगा दी। लेकिन ब्रिटेन प्रोटेस्टेंट था इसलिए वह इस पाबन्दी से मुक्त था। अमेरिका की खोज और भारत पर विजय ने ब्रिटेन को सम्पन्नता का अवसर प्रदान कर दिया। इस सम्पन्नता ने अनेक सामाजिक गतिविधियों को जन्म दिया जिसमें अनेक क्रान्तियाँ शामिल हैं। इसी बीच अनेक दार्शनिक और बुद्धिजीवी भी उभरकर सामने आते हैं जिनमें समाजवादी विचारक मुख्य हैं जिन्होंने अवसर और समानता पर बल दिया। इस वैचारिक संघर्ष ने फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और नागरिक अधिकार तथा गणराज्य का रास्ता खोल दिया। यह विचार धीरे-धीरे पूरे यूरोप और अमेरिका में फैल गये।

यूरोप के लोग जो काफी प्रतिभावान हुआ करते थे अब वह मन्द दिखाई देने लगे हैं। महात्मा गांधी यूरोपीय सभ्यता के इसी दशा से काफी चिन्तित थे। गांधी के अनुसार यह स्थिति मनुष्य को उसकी मनुष्यता से गिरा देगी

और वह घोर कलयुगी और शैतानी हो जायेगी। महात्मा गांधी का कहना था कि अगर हम यूरोप की नकल करेंगे तो हम बर्बादी की ओर अग्रसर होंगे, क्योंकि नकल करने वालों में बहुत सुधार की गुंजाइश नहीं होती है। गांधीजी का मानना था कि मनुष्य की जगह मशीन पर ध्यान केन्द्रित करने वाली सभ्यता हमें सही दिशा नहीं दिखा सकती। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह हर समय अपना धर्म, उचित और अनुचित का धर्म कायम रख सके। इस शक्ति को बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी मर्यादा बाँधनी पड़ती है। महात्मा गांधी का मानना था कि पूरी तरह से मशीन पर निर्भर हो जाना भी अपने बुद्धि-विवेक को निष्क्रिय कर देना है।

आधुनिक दृष्टिकोण में हम भले ही स्वतन्त्र दिख रहे हों लेकिन आज भी हम किसी-न-किसी संस्था के गुलाम हैं। उदाहरण के लिए, आज भी नैतिक और धार्मिक आचरण की व्यख्या करने का अधिकार चर्च को है। आम लोगों को पहले प्रभु वर्ग का दास बनाया गया फिर बाजार और भोग का दास बनाया जा रहा है। महात्मा गांधी इन्हीं दशाओं को देखकर भारत के लोगों को उससे दूर रखना चाहते थे। वे देख पा रहे थे कि विदेशी शासकों ने भारतीय राजा और प्रजा के सम्बन्ध को पलटकर रख दिया है और भारतीय समाज को अपनी सभ्यता से काट दिया है। भारत में देवता और धर्म को ही सम्प्रभु माना गया है लेकिन विदेशी शासकों ने इसे पलटकर रख दिया। भारत के लोग जो अपने तंत्र में सुखी थे, परतंत्र में धकेल दिये गये। गांधीजी इस बात से परेशान नहीं थे कि हमारे राजा हार चुके हैं। वह इस बात से परेशान थे कि बाहरी संस्कृति और सभ्यता हम पर थोपी जा रही है। दरअसल यूरोप को वे सभ्यता के रूप में मानने को भी तैयार नहीं थे।

'हिन्द स्वराज' में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर तर्क देते हुए गांधीजी कहते हैं कि मुल्सिम शासकों ने लोगों की हत्या की लेकिन उसके बाद वे मुक्त हो गये। लेकिन अंग्रेजों ने तो लोगों को जिन्दा ही मरण अवस्था में कर दिया। गांधीजी जिस अहिंसा की बात करते हैं वह वीरों की अहिंसा है। वीर होने का तात्पर्य है आप ताकतवर हैं लेकिन तब तक अपनी ताकत का प्रयोग नहीं करते हैं जब तक अति आवश्यक न हो जाये। इसी तर्क के आधार पर गांधीजी ने अंग्रेजी फौज का द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान समर्थन किया। गांधीजी शासकों के बदलने से कभी नहीं घबराये; उनकी चिन्ता यह थी कि

अंग्रेजों के चले जाने के बावजूद अगर उनकी बनाई व्यवस्था जारी रही तो ऐसी स्वतन्त्रता का क्या लाभ।

भारत के लोगों को वह स्वराज चाहिए जो उनकी प्राचीन समय से चलती आ रही नैतिकता और सौहार्द को समाजहित और लोकहित में बनाये रखने में मदद करे। गांधीजी के सपनों को विनोवा भावे ने साकार कर दिखा दिया। उन्होंने नंगे पैर यात्रा शुरू की और भूदान आन्दोलन को शुरू किया और लाखों एकड़ जमीन दान में प्राप्त की और गरीब और भूमिहीनों में बाँट दी। ऐसा विश्व में कहीं और नहीं देखा जा सकता। महात्मा गांधी चाहते थे कि लोग अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक फैसले लेने में सक्षम हों जिसके लिए उन्होंने संसद पंचायत का अनुमोदन किया था। लेकिन समय की गम्भीरता को समझते हुए उन्होंने संसद को स्वीकार किया था।

महात्मा गांधीजी ने लन्दन से लौटते वक्त 1909 में 13-22 नवम्बर के बीच एक पानी के जहाज से यात्रा के दौरान 'हिन्द स्वराज' को लिखा। उन्होंने इसे अंग्रेजी के बजाय गुजराती में लिखा ताकि उनके मन के भाव और संवेदना पूरी तरह से प्रकट हो सकें। 'हिन्द स्वराज' का मुख्य विषय केवल अहिंसा और सत्याग्रह नहीं है, वास्तव में वह भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता का उद्घोष है। गांधीजी 'हिन्द स्वराज' में लिखते हैं—

> मुझे ब्रिटिश साम्राज्य के टिके रहने की चिन्ता नहीं है, मुझे प्राचीन भारतीय सभ्यता के टिके रहने की चिन्ता है।

गांधीजी आगे कहते हैं—

> हम अपनी बर्बादी का कारण स्वयं है, क्योंकि हमने ही अपने-आप का आधुनिक सभ्यता के सामने समर्पण कर दिया।

जापान ने 19वीं शताब्दी में यूरोप से संघर्ष के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी प्रौद्योगिकी और विज्ञान में देवत्व दिखाई देता है, परन्तु उनकी सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि राक्षसी है। इसलिए जापान ने इस राक्षसी प्रवृत्ति से दूर रहने निर्णय लिया लेकिन प्रौद्योगिकी और विज्ञान को स्वीकार किया। गांधीजी का मानना था कि हर सभ्यता में उतार-चढ़ाव आता है लेकिन भारत की सभ्यता न केवल सनातन है बल्कि आधुनिक भी है।

अपनी सभ्यता में लौटने के लिए भारतीय लोगों को किसी प्राचीन काल में लौटने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि समृद्ध परम्परा और नैतिक आदर्श पर खड़ी हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था कभी भी आधुनिक रूप लेने में सक्षम है। इसलिए हमें किसी यूरोपीय बैसाखी की जरूरत नहीं है। गांधीजी इस बात पर भी जोर देते हैं कि हमें अपने घर की खिड़कियाँ खोलकर रखनी चाहिए ताकि हम स्वच्छ हवा ले सकें और दुनिया को देख सकें लेकिन अपने दरवाजे हमेशा बन्द रखने चाहिए ताकि हम दूसरी सभ्यता को अपने ऊपर आरोपित या हावी होने देने से बचें।

गांधीजी के लिए ब्रिटिश राज यूरोपीय सभ्यता का प्रतीक है और उसे विदा करने का सबसे सरल उपाय है उसके पतनकारी स्वरूप को पहचानकर उससे पीठ फेर लेना। उनकी इस लड़ाई के मूलमंत्र हैं 'असहयोग' और 'सत्याग्रह'। उनका मानना था कि यूरोपीय सभ्यता हिंसा पर टिकी है; अनीति पर आधारित है; मशीनों के माध्यम से मनुष्य को कौशलविहीन कर देना चाहती है; उसके व्यावसायिक और राजनीतिक जीवन का आधार नैतिक नहीं है। ब्रिटिश पार्लियामेंट के लिए वेश्या और बाँझ जैसे शब्द उन दिनों कोई सोच भी नहीं सकता था। लेकिन गांधीजी के अन्दर यूरोपीय सभ्यता के लिए इतना तिरस्कार भरा हुआ है कि ये शब्द उन्हें अनुचित नहीं लगते हैं।

यूरोपीय समाज को लोकतान्त्रिक समाज में बदलने के लिए समाज के भीतर के सारे सम्बन्धों, सारी परस्पर निर्भरता और स्थायीत्व को समाप्त कर दिया गया है। यहाँ तक कि परिवार की भूमिका नगण्य हो गयी है। पूरी व्यवस्था अधिकारों पर टिकी है। परस्पर निर्भरता समाप्त करने से एक-दूसरे के प्रति जो कर्तव्य की भावना रहती है, प्रतीति रहती है वह भी समाप्त हो गयी है। यूरोप के नागरिक के पास आज अधिकार तो हैं लेकिन समाज में वह आज जितना अकेला है उतना वह कभी नहीं रहा है। महात्मा गांधी यूरोप के इस खोखलेपन को जानते थे और वे राज्य की शक्ति के अनियंत्रित विस्तार के खतरे को भी पहचानते थे। गांधीजी कहते थे कि पश्चिम शरीर सुख को ही सभ्यता मान बैठा है। उनको इन वस्तुओं से आपत्ति नहीं थी लेकिन इनको ही सभ्यता का मानदंड मान लेना मूर्खता है। एक सच्ची सभ्यता क्या है? इसका उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं कि सच्ची सभ्यता वही है जो फली-फूली है। वे आगे कहते हैं "मैं मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने बनाई है,

उस तक दुनिया मैं कोई और नहीं पहुँच सकता। हमारे पूर्वजों ने जो बीज रोपा था उसकी बराबरी करने वाला कोई देखने में नहीं आता।" फिर वह सभ्यता की व्याख्या करते हुए कहते हैं, "सभ्यता वह व्यवहार है जिससे मनुष्य अपना-अपना कर्तव्य निभाये। कर्तव्य निभाने का अर्थ है नीति का पालन करना। नीति पालन का अर्थ है अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने-आप को पहचानते हैं। यही सु अर्थात अच्छी धारणा है, सभ्यता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है वह कुधारणा या असभ्यता है।"

धर्म ही हमारे कर्तव्यों की व्याख्या कर सकता है, इसलिए भारतीय सभ्यता धर्मशील हुई। भारतवर्ष ने जो जीवन की सभी दिशाओं में उन्नति प्राप्त की है उस तक यूरोपीय सभ्यता का पहुँचना असम्भव है। यूरोपीय समाज की उपलब्धि यह है कि उसने कुछ तकनीकी सुधार और आविष्कार द्वारा औद्योगिक वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर दिया है। लेकिन ये वस्तुएँ जीवन को रसपूर्ण और सम्पन्न कर देंगी ऐसा सोचना एक अन्धविश्वास में जीना है। भारत में प्रचुर मात्रा में जीवन जीने के साधन उपलब्ध रहे हैं। भारत का भोजन जितना विविध, रसपूर्ण और समृद्ध है, दुनिया में कहीं नहीं है। भारत में जो विविधता विभिन्न क्षेत्रों में है वह कहीं सम्भव नहीं है। हमने उपभोग की जाने वाली वस्तुओं को सीमित नहीं किया। उनकी गुणवत्ता का और मनुष्य की आवश्यकता को उचित रीति से पूरा करने की क्षमता का ध्यान रखा। हमने अमीरी की सीमा नहीं बाँधी, अमीरी में भी सुन्दरता और सादगी से रहने को आदर्श बनाया।

अपने-आप को विजयी और समृद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय अपने अन्दर से हीन भावना निकाल फेंकें और यूरोपीय सभ्यता का जो भ्रम पैदा हो गया है उसे निकाल फेंकें। अंग्रेजों की शक्ति को ललकारकर भारतीय लोगों को निडर कर दें। उन्हें अपनी सभ्यता के गौरव का अहसास कराकर उन्हें अजेय बनाएँ। गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' इसी उद्देश्य से लिखा था। वह ब्रिटिश शासन का हर पाया उखाड़ कर फेंक देना चाहते थे। 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी एक-एक करके उन सभी वर्गों पर प्रहार करते हैं जो अंग्रेजी राज्यों ने पैदा किये। वे वकील के पेशे को वेश्यातुल्य और डॉक्टर के पेशे को निकम्मा कहते हैं। अदालतों को वे गुलामी की निशानी बताते हैं। रेल, शिक्षा और यन्त्रों को वे अंग्रेजी राज को मजबूत करने का उपाय सिद्ध करते हैं।

इन सभी को वह छोड़ने का अनुरोध करते हैं जिससे अंग्रेज विवश होकर देश छोड़ देंगे। इसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह पर बल दिया। वह सत्याग्रह के माध्यम से ब्रिटिश राज के हर प्रकार के भय को समाप्त कर देना चाहते हैं।

निष्कर्ष

गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में कहा है, "भारत को अपनी सभ्यता में लौट जाना चाहिए तथा खोखली और अंधी यूरोपीय सभ्यता से दूर रहना चाहिए।" भारतीय सभ्यता की स्मृति धुँधली जरूर हुई है लेकिन मिटी नहीं है। सभ्यताओं की विधियाँ इतनी आसानी से मिटती नहीं हैं। भारत एक जीवन्त सभ्यता है और यहाँ इसका मिटना असम्भव है। समस्या उन अंग्रेजी में पढ़े लिखे लोगों से है जो विदेशी ढाँचे में भारत की सभ्यता को देखने का प्रयास करते हैं। जब तक यह भ्रम दूर नहीं होगा हमें सही रास्ता नहीं मिल सकता। यह समझना होगा की यूरोप की तकनीकी और विज्ञान ने कुछ ज्यादा लाभ नहीं पहुँचाया है। उसको हम आज नहीं तो कल अपनी सुविधा अनुसार आत्मसात कर ही लेते हैं। लेकिन यूरोप का ढाँचा और सामग्री हमारे लिए विनाशकारी है। उससे हमारा जितनी जल्दी मोहभंग हो उतना ही अच्छा होगा हम सबके लिए और समृद्ध भारतीय सभ्यता और समाज के लिए।

भारत में लोक और शास्त्र

भारतीय सभ्यता और परम्परा मुख्य रूप से वाचिक अर्थात वाक् केन्द्रित है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपी जाने वाली व्यवस्था और थाती को ही परम्परा कहते हैं, जिसमें माता-पिता अपनी सन्तान और गुरु अपने शिष्य को स्थानान्तरित करते हैं। इस परम्परा में सौंपनेवाले और प्राप्त करने वाले दोनों को योग्यता प्राप्त करना होता है; दोनों के लिए एक विशेष प्रकार की तपस्या सुनिश्चित है। देने वाले से अपेक्षा की जाती है कि वह उस भाव से दे कि उसमें वृद्धि होगी और अनेकों का कल्याण होगा। प्राप्त करने वाले से अपेक्षा की जाती है कि वह बहुत ही सरलता और सार्थकता से स्वीकार करे। इसलिए वाचिक परम्परा में केवल वाक्य नहीं सौपे जाते हैं, बल्कि वाक्यों को समझने और ग्रहण करने वाला ध्यान, योग और समर्पण भाव भी सौपा जाता है।

भारतीय परम्परा को वाचिक परम्परा कहने के पीछे दूसरा अर्थ भी है। भारत में संस्थाबद्धता को न्यूनतम महत्त्व मिला है, चाहे वह धर्म हो, राज्य हो या समाज हो। किसी भी धर्माचार्य, शासक अथवा समाज-नायक का बस इतना महत्त्व है कि वह परम्परा की स्मृति को सुरक्षित रखता है; वह उसका प्रसार करता है। लेकिन अन्तिम प्रमाण तो केवल वाक् ही है। वह वाणी किसी एक व्यक्ति अथवा पुरुष की नहीं है; वह वाणी उस द्रष्टा की है जो सर्वमय होकर सबको देखता है; वह सम्पूर्ण जीवन को देखता है। किसी अनुष्ठान को पवित्र मन्त्र की शुद्धता से प्राप्त होती है। मन्त्र का अर्थ है मनन का साधन और ध्यान का आलम्ब; मन्त्र सम्पूर्ण सत्ता (बाह्य और आन्तरिक) का एक बौद्धिक अमूर्तिकरण है। इसलिए इसे दृष्ट और साक्षात्कार भी कहा जाता है। निरन्तर वास्तविकता के साथ मनोयोग बनाये रखने के बाद ही उसे शब्द मिलते हैं।

जो लोग वेद की प्रामणिकता नहीं स्वीकार करते वे लोग भी किसी-न-किसी अगम शास्त्र से परिचालित होते हैं।

बौद्ध और जैन सभी आगमों से निर्देश लेते हैं। बौद्ध और जैन सम्प्रदाय संघ गण बनाकर भी एकान्ततः अनुशासित नहीं हुए; अनेक वैष्णव, शाक्त और शैव सम्प्रदाय भी आचार्यों के बिना अनुशासित नहीं हुए। इसके पीछे वही प्रवृत्ति काम करती रही है जो अमूर्त चिन्तन को वाणी प्रदान कर सके। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि भक्ति की सगुन और निर्गुण दोनों धाराओं का संयोजक सूत्र 'राम स्मरण' है। कबीर और तुलसी जैसे सन्तों के श्वास में 'राम' नाम ही बहता है। यह प्रक्रिया अमूर्त शक्ति के केन्द्रीकरण को बराबर रोकता रहा है और संस्थाओं के अनाचारों को रोकने की शक्ति देता रहा है। इसलिए इस परम्परा में एक लचीलापन है और जड़ता नहीं आती है। वेद, पुराण, आगम, अवदान, चरित मंगल पद आदि अभिव्यक्तियों के माध्यम से और सारे वाचिक परम्परा के समाकलन से गतिशीलता बनी रहती है। इसके साथ ही उस परम्परा के वाहक उसमें आत्मसात होते रहते हैं; उनका कोई निजी इतिहास नहीं बनता है।

पाणिनि का अर्थ है 'पाणिनीय भाषा अथवा चिन्तन परम्परा'; व्यास का अर्थ है 'लोक में उसके प्रसरण की लम्बी परम्परा'; शंकराचार्य का अर्थ है 'शंकराचार्य की श्रृंखला'; गुरु नानक का अर्थ है 'गुरु परम्परा'; तुलसी का अर्थ है 'रामकथा की अविरल धारा'; व्यक्ति के रूप में इनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ऐतिहासिकता के नये आग्रह ने इनको अलग देखने का प्रयास किया, लेकिन परम्परा की सक्रियता को समझने में इन खोजों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली है। कभी-कभी तो इन खोजों ने बुद्धि-विभ्रम की स्थिति भी पैदा की हैं।

भारतीय परम्परा केवल शब्द ही नहीं ढोती है; इसमें चेतना भी होती है; यह वेदों का भार वहन करने वाली होती है। यह वेदों का अर्थ ग्रहण करने वाली सजीव चेतना मात्र नहीं है; यह परम्परा के अर्थ ग्रहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है जो शब्दों को तैराती चलती है, जैसे नदी में दीप तैरते हैं। यह विशिष्ट प्रक्रिया ही शास्त्रविधि है। शास्त्रविधि का अर्थ है शास्त्र से अनुशासन ग्रहण करने की विधि; श्रुतियों और विविध मुनिमतों के बीच अन्तर्विरोधों का समाधान ढूँढ़ने की विधि। इस विधि का उपदेश देते हुए मनु ने 'मनुस्मृति' में

कहा कि 'ज्ञानचक्षु से इन सभी वाक्यों को इनके अर्थों को परखना चाहिए; इन्हें अपने देश काल के साथ जोड़कर देखना चाहिए; अपने समय के सज्जन व्यक्तियों में ये कितने प्रतिबिम्बित हैं, इसको ध्यान में रखते हुए देखना चाहिए कि ये अन्तिम कसौटी पर कितने अनुकूल हैं; यह कितना आत्मनः प्रियम (अपने को प्रिय) है; यह बड़ी कठिन कसौटी हैं।' लेकिन जब निषेधमुख से इसे समझने का प्रयत्न करते हैं तो लगता है यह कसौटी कितनी बड़ी है। निषेधमुख कसौटी वह कसौटी है जो बताती है कि हमें जो अच्छा न लगे और प्रिय न लगे वह दूसरों के लिए भी अनूचित है। जब तक हम इस विधि से शास्त्र को ग्रहण नहीं करेंगे तब तक शास्त्र पंगु रहते हैं। शास्त्र और विधि अविभाज्य हैं, जब इनका विभाजन होगा तब यह अर्थहीन हो जायेंगे; ऐसा अनेकों बार होता रहा है। लेकिन शास्त्र को जीने वाले व्यक्तियों से यह पुनः जीवित हो उठता है।

पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज एक कट्टर सनातनी थे। उनके जीवन काल के अन्तिम दिनों में पूछा गया कि बहुत तेजी से बदलाव हो रहा है; आचार पद्धति बदल रही है। क्या सनातन धर्म टिका रहेगा? वे बोले, "जिसे जाना है वह काल-प्रवाह में चला जायेगा, पर जो जीवन को चलाता है वह कैसे जायेगा! चलाता है और स्वयं संचरणशील है, वही मात्र सनातन धर्म है।" उन्होंने यह भी कहा कि शास्त्र कभी नष्ट नहीं होंगे, वे पुनर्व्याख्यात होंगे। लोक की उपेक्षा करने वाली विधि शास्त्र का निषेध है। यह विधि इतनी समावेशक है कि इसकी सटीक परिभाषा देना सम्भव नहीं है; यह परम्परा भी वाक् परम्परा की ही देन है; इसलिए इसका आदि स्रोत ढूँढ़ना बहुत ही कठिन है। बहुत से अनुष्ठान, लोकाचार और लोकगीत में वैदिक मन्त्रों की गूँज जान पड़ती है; कहीं-कहीं तांत्रिक अनुष्ठानों की गूँज भी जान पड़ती है। किसका क्या क्रम है, तय करना मुश्किल है। लेकिन परम्परा तो संश्लिष्ट है इस निर्णय की अपेक्षा नहीं रखती है; परम्परा जिस बिन्दु पर है उसी पर सम्पूर्ण है। इसमें कितना कौन-सा तत्त्व है, इसका विश्लेषण करना निरर्थक है। क्योंकि परम्परा तिथि, प्राचीनता और इतिहास से प्रमाणित नहीं होती, वह वर्तमानता और सफलता से प्रमाणित होती है।

एकता सिर्फ वैदिक सन्दर्भ में लागू नहीं होता है, यह बौद्ध परम्परा में भी देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, स्थविरवाद, महायान और वज्रयान

में शाखा भेद होते हुए भी जब इसका सातत्त्व भोट (तिब्बती) परम्परा तक प्रसृत होता है तो चर्चा और क्रिया के स्तर पर एकता दिखाई देती है। भोट भाषा में अनुवाद के बाद भी मन्त्र संस्कृत में ही उच्चारण किये जाते हैं और पूजा का क्रम हिन्दू पूजा के सामान है। वेद-वाक्य का प्रमाण न स्वीकार करते हुए भी बौद्ध परम्परा उसके अध्ययन क्रम को जारी रखती है और उसको वैचारिक स्तर पर स्वीकृति देती है। प्रारम्भ जैसे भी हुआ हो, इन सभी परम्पराओं में तर्क, विचार और कर्मकांड की एक ही भाषा रह जाती है और वह है संस्कृत। यहाँ तक कि पालि और प्राकृत भी संस्कृत की प्रत्यक्षर क्षाया बन जाती है। परम्परा की एकसूत्रता बनाये रखने का भाव सहज रूप में भारत में पाया जाता है। परम्परा की एकसूत्रता का अर्थ प्राचीन से निजात पाना नहीं है, क्योंकि परम्परा में स्वीकार्यता और तिरस्कार दोनों चलते रहते हैं; कुछ चीजें छूटती हैं और कुछ जुड़ती हैं, परन्तु एकदम से इसका लोप नहीं होता है। परम्परा में विरोध भी कुछ दूर चलकर विकल्प बन जाते हैं।

पश्चिम के विपरीत, भारतीय परम्परा बाह्य प्रकृति को अन्तः प्रकृति का प्रक्षेप मानती है। इसलिए उस पर विजय प्राप्त करने का विचार नहीं करती है। भारतीय परम्परा आत्मचिन्तन को आत्म होकर सोचने का प्रयत्न करती है, देह या इन्द्रिय होकर नहीं; जगत में व्याप्त ऊर्जा के प्रवाह के एक अवस्था के रूप में सोचने का प्रयत्न करती है, जिससे मनुष्य के भीतर साहस उत्पन्न हो सके। आवश्यकता पड़ने पर वह सभी प्रतिबद्धताओं का अतिक्रमण कर सके; नागार्जुन की तरह तथागत और शंकर की तरह सोपाधि ईश्वर का अतिक्रमण कर सके। भारतीय परम्परा में समर्पण और अतिक्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही है। पहली प्रक्रिया को हम कर्म मार्ग अथवा स्वधर्म पालन कह सकते हैं। जो प्राप्त है उसको ग्रहण करें और अपने-आप को उसके योग्य बनायें, इसी को वैदिक भाषा में 'ऋतु' कहा गया है। इसी को अशोक ने अपने अभिलेखों में 'पोराण पकिती' (पुराण प्रकृति) कहा है। इसी को साधारण और निरक्षर व्यक्ति 'पुरखों की रीति' कहता है। भारतीय परम्परा में एक प्रक्रिया दी हुई पद्धति को उत्तम रूप से प्रस्तुत करती है तो दूसरी नयी पद्धति का आविष्कार करती है। नये कला सम्प्रदाय, नये धर्म सम्प्रदाय और नये अभिव्यक्ति-विधान इसी प्रकार उद्‌भुत होते हैं; वे विधि के

द्वार से होकर निषेध और अतिक्रमण बनते हैं। भारतीय परम्परा और भारतीय वाक् का यह समीकरण यदि समझ में आ जाये तो इस परम्परा के भीतरी अर्थ अपने-आप खुलते जाते हैं।

भारतीय परम्परा में किसी जय-यात्रा का अर्थ किसी को हराना नहीं है; किसी को अपने-अपने में मिलाना नहीं है; विजय के लिए निकलना नहीं है; इसका अर्थ अपराजय भाव है; अछुण्ण भाव है और एक गतिशीलता है। जातियों, संस्कृतियों और परम्पराओं का संघर्ष जो भारतवर्ष के सन्दर्भ में कहा गया है, उसे संघर्ष मानना भ्रम है। भारतीय सभ्यता में विजेता और विजित कभी दो नहीं रहे हैं। इन्द्र ही वृत्त है, वृत्त ही इन्द्र है; इन्द्र वृत्त के भीतर कैद है और वृत्त इन्द्र के भीतर; दोनों एक-दूसरे से मुक्त होना चाहते हैं; दोनों भेद की स्थिति से मुक्ति चाहते हैं। राजसूय यज्ञ का अर्थ है जीतकर हार जाना, भरपूर होकर बाँट जाना और सम्पन्न होकर अकिंचन हो जाना। आज साक्ष्य से प्रमाणित हो गया है कि आर्य, द्रविण, कोल, किरात इत्यादि नस्लें कभी प्रागैतिहासिक काल में भले ही अलग रही हों लेकिन ऐतिहासिक काल में ये सब मिश्रित हो चूकि थीं (जबसे मनुष्य के अवशेष प्राप्त हुए)। वैदिक साहित्य में गोरे-काले ऋषियों को समान प्रतिष्ठा के साक्ष्य मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में आर्य सत्य का अर्थ 'आर्य जाति' का सत्य नहीं बल्कि 'वरेण्य सत्य' है जिस पर सभी लोग चलते हैं। यह किसी जाति के लिए नहीं है। महाभारत में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि श्रेष्ठता का निर्णय जाति और रक्त के आधार पर नहीं करना चाहिए, क्योंकि कोई भी जाती शुद्ध है ही नहीं। श्रेष्ठता का सही निर्णायक केवल शील हो सकता है।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' का अर्थ सारे संसार को हिन्दू अथवा एक-सा बनाना नहीं है; इसका अर्थ सबको पूर्णतर बनाना अथवा पूर्णतर होने की आकांक्षा उत्पन्न करना है। अकेले कोई पूरा नहीं होता है; समष्टि भाव से भरकर ही पूरा हुआ जा सकता है। भारत में 'हिन्दू' नाम का कोई आचार-व्यवहार नहीं रहा है; प्रदेशीय आचारों को मान्यता मिलती रही है; भारतीय परम्परा एकरूपता के लिए नहीं बल्कि सर्वसहमति के लिए चिन्तित रही है। भारतीय सभ्यता में 'जय' का अर्थ अपनी हीनता से मुक्ति पाना है। इस परम्परा में सर्वस्वीकृति का वातावरण बनाने का प्रयत्न रहा है। इसलिए अनेक प्रकार के विचारों का प्रस्फुटन, आदान-प्रदान, संवाद और कभी-कभी

विवाद भी होता रहता है। ध्यान से देखा जाये तो वैचारिक स्तर पर भी गूँज-अनुगूँज मिलकर अलग सारणी बनती रही है।

हम वह ले रहे हैं जो हमारे सहभागी का अनुभव है भारतीय और चीनी सभ्यता की जो छाप अलग-अलग वियतनाम या अन्यत्र पड़ी और भारत ने वर्ण्य विषय और भीतरी अन्विति दी, पर शैली नहीं दी। इस प्रकार अलग-अलग बल के साथ वही रामकथा, वही गोचर और वही अभयंतर की एकता इन देशों की कलाओं में प्रस्फुटित हुई। जबकि चीन का जहाँ गहरा प्रभाव पड़ा वहाँ देशी शैली नष्ट हो गयी; यद्धपि वर्ण्य विषय प्रभावित देशों के ही बने रहे; बालि और जावा की रामलीला हमारी रामलीला से विशिष्ट है और वह देशी प्रतिभा के प्रभाव से ही है। भारतीय परम्परा आक्रामक नहीं रही है; यह उसकी दुर्बलता नहीं, शक्ति है।

आज हम स्वाधीन होकर भी अनेक में एक की बात करते हुए भी अनेकवादी हो गये हैं; खंडित होकर परस्पर आक्रामक हो गये हैं, और परस्पर संशयालु भी हो गये हैं। देशवासी छोटे-छोटे सुरक्षा के घरौंदो में भयवश छिपने लगे हैं। विडम्बना यह है कि संविधान के अनुसार चलने वाली शासन व्यवस्था के इतर किसी ने भी किसी और सुरक्षा का अवसर पैदा नहीं किया। इसके विपरीत यह मान बैठे हैं कि इसी के बल पर स्थिरता और सन्तुलन बनाया जा सकता है। घरौंदे के बाहर एक निडर स्थिति है, यह हमारी चेतना का अंग नहीं रहा क्योंकि घरौंदे के चौखट पर रहकर अपने को पहचानने के अभ्यासी हो गये हैं। इस नये कैदखाने को जिसे हम अपना घर मान बैठे हैं और जिससे मुक्ति पाने के लिए परम्परा का विवर्तन व्यापार समझना आज और आवश्यक हो गया है। हमारे शास्त्रकार लोक की और गोचर संसार की कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे; उनके उदाहरण खुले हुए जीवन से आते थे। दूसरी ओर, लोक भी शास्त्र का पूरक बनने के लिए शास्त्र द्वारा विस्मृत जीवन पद्धति को, शास्त्र द्वारा सरल मानकर छोड़ी हुई पद्धति को पुनः उम्मीलित करता रहा है। शास्त्र के ठहराव को कभी झकझोरता, तोड़ता और कभी अपने कन्धे पर ढोता रहता है। इसी कारण विच्छित्र शास्त्रीय परम्परा को सफल होने का अवसर प्राप्त होता रहता है।

भारतीय सन्दर्भ में संस्कृतिकरण की चर्चा समाजशास्त्र में बहुत हुई है। लेकिन प्रकृतिकरण और प्रसारण की भी चर्चा होनी चाहिए, जिसके कारण

हम पाते हैं कि अपने को अद्वितीय ब्राह्मण कहने वाले सातवाहन अपने अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखवाते थे। उन्हें कन्या देने वाले शक क्षत्रप अपने अभिलेख संस्कृत में लिखवाते थे। उसी जमाने में कवि कालिदास ने वाङ्मय के द्विधा प्रयोग में शिव-पार्वती के मिलन का पर्याय पाया था। आज भी यदि सबसे अधिक परम्परानिष्ठ वर्ग का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि उस वर्ग की स्त्रियों ने आदिम से आदिम आचारों-अभिप्रायों को किसी-न-किसी व्रत में सँजोकर रखा है। घरों में वेदशास्त्र की बड़ी महिमा है; वही लोकाचार का भी आग्रह है।

लोक प्रचलित व्यवहार शास्त्र की रक्षा भी करते हैं और शास्त्र का नियमन भी करते हैं। शास्त्रविहित हो तो भी और लोक-विरुद्ध हो तो करणीय नहीं हैं। यह दृष्टि ही भारतीय परम्परा को पोथीवादी नहीं बनाती है। इस परम्परा में पोथी का महत्त्व तो है लेकिन लोक-जीवन से जुड़कर। जहाँ प्रयक्ष प्रमाण से निर्णय उचित है वहाँ शास्त्र को जबरदस्ती नहीं लाया जाता है। लेकिन जहाँ प्रत्यक्ष या अनुमान बाधित है वहाँ शास्त्रीय दृष्टि ही प्रमाण मानी जाती है। अगर शास्त्र निगूढ़ हो जाते हैं तो उन्हें लोक-प्रसृत व्यवहारों द्वारा आकलित करना पड़ता है। व्याकरणशास्त्र, नाट्यशास्त्र, योगशास्त्र और कलाशास्त्र की बहुत-सी गुत्थियाँ प्रयोग की पारम्परिक, लौकिक पद्धतियों के अध्ययन से ही सुलझाई जाती हैं।

जिस धर्म को लोक प्रसिद्धि प्राप्त है वह बिना किसी अवरोध के निरन्तर जारी है, जिसे किसी तर्क के औचित्य के आधार पर बाधित नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धान्त भाषा, अनुष्ठान, वाद्य, संगीत, कला, आचार, विधि सब पर समान रूप से लागू होते हैं। कभी-कभी राह मुड़ जाती है और पुरानी राह छूट जाती है। बहुत कम ही लोग पुरानी राह पर चलते हैं, पर वह राय मान्य नहीं रह जाती है। धर्म से हमारा जीवन-क्रम अनुशासित होता है; 'धर्म' शब्द ने आज के 'व्यवहार' शब्द को भी अपने में समाहित कर लिया है। इसका अर्थ यही हुआ कि लोक और शास्त्र दोनों ही इसे निरूपित करते हैं। लोक-शास्त्र का विरोधी नहीं है; उसकी मूल भावना का स्मरण दिलाने वाला है। शास्त्र भी लोक के प्रचलन को मान्यता देता आया है। भारतीय परम्परा में बहुत-सी तर्कातीत बातों को स्वीकृति देने से पहले उनकी तार्किक परीक्षा होती है और जब तर्क थक जाते हैं तो यह मान लिया जाता है कि कुछ न

कुछ बच जाता है, वह पूर्वानुमेय नहीं है। यह एक ओर सर्जन को बल देता है तो दूसरी ओर सत्यान्वेषण को। यही परम्परा के अन्दर जड़ता नहीं आने देता है और उसे प्रयोगशील और उदार बनाये रखता है। यज्ञ की वेदी का नक्शा इसी से विकसित होकर मन्दिर का विन्यास बन जाता है।

यूनानियों से हमने राशियों के नाम लिए। लेकिन क्रान्तिवृत्तों के बारह विभाजन पहले से थे और इन राशियों को सत्ताईस नक्षत्रों के चक्र में ही विन्यास किया। जब भी हमने कहीं से कोई चीज ली और हमारी विश्व दृष्टि में उसका सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया तो हमने उसे कुछ ही समय बाद तिरस्कृत कर दिया। उदाहरण के लिए, अखमनी साम्राज्य से प्रभावित होकर अशोक ने बड़े-बड़े स्तम्भ बनवाये; पहली बार किसी राजा ने अपने-आप को देवाना प्रिय (देवताओं को प्रिय) घोषित किया; इन स्तम्भों का निर्माण आगे नहीं चल पाया और इनकी कला की भव्यता को लोक में प्रतिष्ठा नहीं मिली। अशोक के बाद देशी कला परम्परा उत्तर से दक्षिण तक पनपी जो कुछ कम भव्य थी लेकिन ज्यादा जीवन्त थी। साँची, भरहुत, अमरावती, बारबरा आदि कलाकृतियाँ पारम्परिक जनपदीय कलाकारों की प्रतिभा की देन हैं और इन्हीं क्षेत्रीय परम्पराओं ने एक बड़ी देशव्यापी कला-दृष्टि का निर्माण किया है। अजंता और एलोरा आख्यानों के अंकन के माध्यम से जीवन की शिखरता नहीं बल्कि जीवन की प्रभावशीलता को निरूपित करते हैं। ग्रहणशीलता के बारे में अमीर खुसरो ने हिन्दी या हिन्दवी का महत्त्व बताते हुए कहा 'कोई भी भाषा तभी समृद्ध हो सकती है जब वह लचीली हो, दूसरे प्रभावों के साथ अपने को सामंजस्य रख सकती हो। फारसी ने अरबी से इस प्रकार उधार लिया है कि उसने अपना वास्तविक स्वरूप खो दिया है। उसकी स्वाभाविक मिठास खो गयी है, लेकिन हिन्दी ने अरबी की तरह दूसरी भाषाओं से लिया तो है लेकिन अपने स्वरूप में उन्हें ढाल कर लिया है, अपने स्वरूप को विकृत नहीं होने दिया है। इस प्रकार देखा जाये तो हिन्दी अरबी से भी ज्यादा लचीली है।

अमीर खुसरो की यह टिप्पणी सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक परम्परा पर लागू होती है। जो लोग भारतीय परम्परा को समन्वयवादी परम्परा कहकर यह मान लेते हैं कि इस परम्परा का अपना कुछ नहीं है, सब कुछ उधार लिया गया है, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि जिस नदी में संवहन क्षमता होता है

या वेग होता है, वही सहायक नदियों के जल को आत्मसात कर सकती है, उसकी सुचिता भी दूर कर सकती है; वह क्षमता और वेग उसके अपने होते हैं; वह अगर अनुपात से अधिक दूसरों के दान से बोझिल हो जाये तो नदी मरने लगती है। गंगा का यही हाल हो रहा है और हमारे आधुनिक संस्कृति का भी यही हाल है। जब जनपद या लोक व्यवहार मूल स्वरूप के पहचान का स्मरण करता है तो कबीर, सूर और तुलसी जन्म लेते हैं; हरिदास, बैजू और तानसेन जन्म लेते हैं। आज हम इस समृद्ध स्रोत को अपने से अलग मानने के प्रयास में लगे हैं। मधुबनी के चित्रकला के अनुरूप घर बनाने के इतर हम उसका एक नमूना टुकड़ा शीशे में मढ़कर अपने कक्ष में गर्व के साथ दीवार पर टाँग देते हैं, देखिए यह हमारी लोक कला है। किसी कला को संस्थापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जाये, इससे विरोध नहीं है पर वह जीवन का अंग बनकर वैभव का प्रदर्शन हो जाये, उससे अधिक उसकी अवमानना और क्या होगी?

मिट्टी में चैतन्य का आवाहन ही तो सोहाग है और यही सौन्दर्य की सिद्धि है। हमें यह देखना चाहिए कि क्या हमारे अन्दर चैतन्य के आवाहन की यह उत्कंठा है; पृथ्वी के साथ हमारा वह तादात्म्य है और तब बात करें लोक-साहित्य के समृद्धि के बारे में। अगर हम इस मन्त्र को यज्ञविज्ञान के उस मन्त्र से जोड़ें जो यज्ञस्थल की जुताई के लिए उच्चरित होता है तो हम वाक् की ऊर्जा की निरन्तर तलाश का सूत्र पहचान सकते हैं। हमारी संस्कृति में बारहमासा गया जाता है, जिसमें राम के जन्म से लेकर वनवास और फिर घर वापसी तक का वर्णन होता है। वैदिक अनुष्ठान की फलश्रुति भी ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी प्रकार की होती है, जो भी इस प्रकार से अनुष्ठान करता है और इस अनुष्ठान के क्रम की भीतरी भावना को समझ लेता है, उसे अनुष्ठान का सम्पूर्ण फल मिलता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष नहीं होता है; एक विशाल मन का प्रत्यक्ष और अपनी संस्कृति की यात्रा से हुए मन का प्रत्यक्ष कहीं अधिक तीव्र होता है। वैदिक अनुष्ठान से लेकर लौकिक अनुष्ठान तक में इसी प्रत्यक्ष अनुभव से चित्त के संस्कार सबल होते हैं।

निगम और आगम दो प्रकार के शास्त्र हम मानते हैं; निगम प्रथम सिद्धान्त है जो सृष्टि का प्रतिरूप है; जिसके अनुसार एक ओर जीवन की सम्पूर्णता, निरन्तरता और अन्योन्य सापेक्षता स्थापित होते हैं, दूसरी ओर तप

से ऋतु और सत्य का प्रवर्तन होता है। इन दोनों के योग से अनन्त देश रूप महासागर, अनन्त देश से अनन्त वर्षचक्र और तीनों लोक सँवारे जाते हैं। इस सृष्टि-साँचे को ही जीवन के नवीकरण का साँचा बनाया जाता है; तप इसमें शिखर पर होता है। भारतीय परम्परा में तपोवन ही वैचारिक ऊर्जा का पवित्र स्थान है। तप का तात्पर्य हमारे कवियों और कलाकारों ने सबसे उचित ढंग से समझने का प्रयास किया है। एक विश्वव्यापी प्रेम और करुणा के रस की उद्भावना के लिए प्रज्ञा की एक आग धधकाये रखना और स्वाधीनता जगाये रखना जिसे कोई राज सत्ता छू न सके, यही सही अर्थों में तप है; इस तप से तपोवन लोक-संश्रय बनता है।

वेद और वेद-विरोधी में दो स्थितियाँ काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं हैं; यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति के आधार पर दो काल्पनिक धाराएँ रच दी जायें तो भी वह उचित नहीं होगा, क्योंकि एकान्ततः दोनों स्थितियाँ सम्भव नहीं हैं। ब्राह्मण-श्रमण परम्परा को एक-दूसरे का परस्पर विरोधी देखना एक भ्रम मात्र है; इसमें परस्पर पूरक रूप में ही दो दिखने वाली धाराओं की संगति महत्त्व रखती है। प्रथम सिद्धान्त को ही पुरुष सूक्त में अन्तिम मन्त्र प्रथम धर्म कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि जिस विराट पुरुष को खंडशः समझा, उसी के खंडों की आहुति से उसके सकल रूप को पुनः प्राप्त किया; इस अद्वितीय यज्ञ पद्धति से देवताओं ने यज्ञ किया; यही प्रथम धर्म है। इसी का महत्त्व उस ऊँचे लोक तक पहुँचा जहाँ पूर्ववर्ती देवता रहते हैं। यह जिन धर्मों का संकेत करता है सृष्टि से अलग-अलग पहचानते हुए भी उसे एकीकृत रूप में देखना ही तो जीवन-यज्ञ की पूर्णता है। यह प्रथम धर्म सबको स्वीकृत है–ब्राह्मण, श्रमण, बौद्ध, पारसी, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई। सूफी सन्तों और ईसाई सन्तों की अनुभव भाषा में इसकी गूँज हमें देखने को मिलती है। जीवन एक आभूषण है, यह भाव जितना साधकों की अनुभव भाषा में व्याप्त है उतना ही जनजीवन के सामान्य अनुष्ठानो में भी व्याप्त है।

निगम की पुष्टि आगम से होती है, सिद्धान्त की प्रतिपूर्ति प्रयोग से होती है। आगम अनेक है, क्योंकि प्रयोग की सम्भावना अनन्त है—बौद्ध आगम, जैन आगम, शैव आगम, वैष्णव आगम, शाक्त आगम इत्यादि। इनके भी अलग-अलग सम्प्रदाय और ग्रन्थ हैं। आगम, निगम और लोकाचार के बीच एक प्रकार से सेतु का काम करते हैं। यह लोकाचार के शास्त्र के रूप में

प्रतिष्ठापन में भी होते हैं और निगम के लोकाचार के संक्रमण के रूप में भी पाये जाते हैं। लेकिन कोई भी आगम देश काल की उपेक्षा नहीं करता है; वह परिवेश की उपेक्षा नहीं करता है और वह एक रचनात्मक भाषा के उपयोग के द्वारा सत्य को तरल रूप में ग्रहण करता चला जाता है। आज की प्रचलित शब्दावली में, मिथक रचना ही यह भाषा है। हमारी परम्परा में जब तक इस रचना के लिए सामर्थ्य रहा है तब तक उसमें खुलापन और उन्नति होती रही है। जबसे यह सामर्थ्य हमने खोना शुरू किया है तब से परम्परा खंडित और बँधती गयी है।

निगम और आगम दोनों परस्पर पूरक हैं; निगम के ज्ञान की पूर्ति आगम की क्रिया में; निगम के विधि-पक्ष की पूर्ति आगम के आत्मनिषेध में; निगम के यज्ञ की पूर्ति आगम की उपासना में; निगम के प्रभु भाव की पूर्ति आगम के सख्य भाव में होती रहती है। किसी एक का पलड़ा जब भारी पड़ता है तो लोकाचार इस स्थिति को सँभाल लेता है और नये आयाम का कार्य करने पर तत्पर हो जाता है। बहुत सारे आयाम इसी प्रकार सामंजस्य की प्रक्रिया में बने हैं; 'रामायण' और 'महाभारत' की रचना भी आगम के रूप में हुई है। शास्त्र और लोक एक-दूसरे में विनिमय होते रहे हैं और परम्परा इसकी क्रियाशीलता को ग्रहण करके स्वयं संवादिनी होती रही है।

शास्त्र शिव है, लोक पार्वती

जब लोक और शास्त्र के अन्वय और समन्वय की बात आती है तो शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति सामने आती है। शास्त्र शिव है तो लोक पार्वती और बिना लोक के शास्त्र निष्प्राण है। लोक के बिना शास्त्र गूँगा है; लोक-जीवन का महाकाव्य है। शास्त्र निर्गुण निराकार ब्रह्म है; लोक-शास्त्र का साकार रूप सगुन ब्रह्म है। अभिव्यक्ति के स्तर पर देखा जाये तो शास्त्र विवाद है और लोक संवाद है; शास्त्र उपदेशक है और लोक श्रोता है। लेकिन लोक का अस्तित्व शास्त्र पर टिका है; बिना शास्त्र के शक्ति सम्भव नहीं है। शास्त्र लोक को अनुशासित करता है। लोक और शास्त्र का समन्वय अर्धनारीश्वर मूर्ति में शिव और पार्वती का सम्मिलित है; लोक में शास्त्र और शास्त्र में लोक का अलग अस्तित्व रहता है। हमारे समूचे भारतीय वाङ्मय की यही स्थिति है। शास्त्र और लोक-जीवन प्रवाह के दो समानान्तर धाराएँ हैं।

शास्त्र और लोक में कौन बड़ा और कौन छोटा है? यह कहना अपराध होगा। साधु विद्वान दोनों के गुण-दोष, छोटाई-बड़ाई समझ लेंगे। लेकिन लोक-जीवन एक प्रवाह की तरह है अर्थात वह शास्त्र से ऊपर हो जाता है।

लोकवार्ता और लोक-साहित्य

'फोक लोर' का अध्ययन पश्चिम में 18वीं-19वीं शताब्दी में विभिन्न उद्देश्यों से शुरू हुआ और धीरे-धीरे एक स्वायत्त लोकवार्ता शास्त्र के रूप में स्थापित हो गया। अब वस्तु परख विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए लोक विज्ञान की भी नींव पड़ चुकी है। उन उद्देश्यों में कुछ प्रमुख उद्देश्य थे। जो लोग सभ्यता के स्वीकृत मानदण्डों को पूरा नहीं करते और जो लोग पुनर्जागरण की बौद्धिकता के पैमाने पर खरे नहीं उतरते थे और उनके बीच वाचिक रूप से प्रचलित गीतों, गाथाओं और कहानियों का संकलन करना और उनमें निहित जीवन-व्यवहार-वर्णनों के आधार पर उन जातियों के मानसिकता का विश्लेषण करना एक प्रमुख उद्देश्य है। पश्चिम की दृष्टि ने जिन जातियों के पास लिखित परम्परा नहीं थी उनकी वाचिक परम्परा को 'फोक' के अन्तर्गत मान लिया और उनको और उनको प्रबुद्ध संस्कृति के दायरे से अलग कर दिया; अलग करके ही उन्हें सुशिक्षित बनाने की चिन्ता मानव-कल्याण के न्यासधारियों को सताने लगी, लेकिन जब लिखित साक्ष्यों के आधार पर भाषा का इतिहास पूरी तरह से समझ में नहीं आया तो मौखिक परम्परा के साक्ष्य के अवलम्ब की आवश्यकता 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में की जाने लगी। अमेरिका में सापीर, क्रोएबर और मालिनोस्की ने इस दिशा में पहल किया। इनके बाद वाचिक परम्परा कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगी और मानवीय संवेदना के प्रति सर्जनात्मक झुकाव होने लगा।

यह सुझाव हमें कला और साहित्य में देखने को मिला और एक आन्दोलन सा चला कि हम अशिक्षित लोगों के पास सहज रूप में जो जीवन अनुभव की अभिव्यक्ति है उससे कुछ प्राप्त करें। इसका प्रभाव दूसरे क्षेत्र के विचारकों पर पड़ना अनिवार्य था। इस प्रकार एक सामान्य जीवन के प्रति उत्सुकता बढ़ी और आदर-भाव भी बढ़ा।

'फोक लोर' के अध्ययन में एक और उद्देश्य जुड़ा जो संरचना के अध्ययन की विशेषता से सम्बन्धित था। परिणामस्वरूप, लोक-कथाओं

के अभिप्रायों का संकलन और कोटियों में विश्लेषण होने लगा। साथ ही लोक वार्ता में निहित पुराण तत्त्व की संगति को सार्वभौमिक स्तर पर पाने की कोशिश की जाने लगी। इसी प्रवृत्ति के समानान्तर ही एक-दूसरी प्रवृत्ति विकसित हुई जिससे वाचिक परम्परा के संकलन से प्राप्त साहित्य के प्रति एक रूमानी भावना पनपने लगी और उसे एक चमत्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा। भारतवर्ष में इस दृष्टि की प्रधनता थी और गावों में रहने वाले सामान्य जनों के प्रति एक विशेष लगाव उत्पन्न हुआ। इसी कारण लोक-साहित्य के लिए एक अतिरिक्त आकर्षण बढ़ा। इसी समय 'गाँव की ओर चलो' मनोभाव का भी जागरण हुआ। एक समानांतर प्रवृत्ति भी विकसित हुई जिससे आदिवासी संस्कृतियों के मूल रूप की सुरक्षा के लिए आग्रह किया जाने लगा। इसमें नेतृत्वकर्ता वेरियर एल्विन का बड़ा हाथ था।

लोक-संस्कृति के नाम पर अपमिश्रित लोक-संस्कृति अधिक प्रबल हो गयी। इसी कारण लोकवार्ता का अध्ययन अब जटिल होता जा रहा है। लोकवार्ता वस्तुतः भारत के सन्दर्भ में न तो अतीत का अवशेष है न अशिक्षित जन का व्यवहार। वह एक समृद्ध संस्कृति की निरन्तरता है और उसके साथ ही अपने वर्तमान को अधिक जीवन योग्य बनाने की प्रक्रिया भी है। बहुत-सी बातें जो लिखित साहित्य में छूट गयी हैं या उस सम्बन्ध में लिखित साहित्य ही लुप्त हो गया है, उसे वाचिक परम्परा में पाया जाता है। इस प्रकार साहित्य और संस्कृति की सभ्यता का आकलन बिना वाचिक परम्परा के सभ्यता के सम्भव नहीं है। भारत में लोक और शास्त्र के बीच अन्तर-अवलम्बन का इतिहास बहुत पुराना है। लोकगीत का जुड़ाव जगजननी से है; वैदिक साहित्य में भी लोक का महत्त्व अलग-अलग स्थान पर दिग्दर्शित है। लोक संग्रह की चिन्ता गीता में अभिव्याप्त है। धर्मशास्त्रों में शस्त्राचार और लोकाचार में विवाद हो तो कई स्थलों पर लोकाचार को ही प्रमाण माना गया है। हमारे शास्त्र और दर्शन में भी लोक-जीवन से ही उदाहरण लिए जाते है। जुलाहे का करघा और कुम्हार की चाक के बिना तर्कशास्त्र चलता ही नहीं, क्योंकि यही तो बनावट और बुनावट की मूर्त पहचान कराने वाले उचित साधन हैं।

'फोक लोर' का विस्तृत सन्दर्भ में पुराने समाज की वाचिक परम्पराओं, कलाओं और प्रचलित विश्वासों का निकाय है। इसके अन्तर्गत नृत्य,

गीत, जादू, टोना, कथा, पहेली, लोकोक्ति आदि आते हैं। इसके अन्तर्गत अर्ध-ऐतिहासिक और काल्पनिक वीरों की गाथाएँ भी आती हैं। मैक्स मूलर ने ऐसी गाथाओं को भाषागत के अपभ्रंश के रूप में प्रस्तुत किया; ग्रीम ने उन्हें सृष्टि के अपभ्रंश विधान के रूप में प्रस्तुत किया; एडवर्ड टेलर ने उन्हें एक अन्य समाज का अवशेष माना है। फ्रायड के अनुवर्तियों ने उन्हें यौन प्रतीकवाद का एक रूप-जाल माना है, लेकिन आज के नृतत्त्व शास्त्री इन्हें किसी समुदाय की आकांक्षाओं, मनोवृत्तियों और संस्कृतियों की अलंकारिक अभिव्यक्ति मानने लगे हैं। जहाँ तक की लोकगीतों के रचनाकार का प्रश्न था, पहले यह माना जाता था कि इसकी रचना समूह द्वारा होती थी पर अब लोग यह मानने लगे हैं कि रचना तो व्यक्ति के द्वारा हुई होगी पर इसमें निरन्तर परिष्कार समुदाय द्वारा हुआ, क्योंकि यह सामुदायिक पहचान कराने वाला बनता रहा है। इसलिए इसमें जातीय और विजातीय प्रभाव का घुलन रहा है। प्रत्येक दशा में उपर्युक्त सभी पाश्चात्य विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है की 'फोक' में व्यापक सामुदायिक स्वीकृति निहित नहीं है, न ही वर्तमानता ही परिलक्षित है। वह एक तरह से पुरानेपन और पिछड़ेपन का बोधक है अथवा असंस्कार का बोधक है।

इसके विपरीत, लोग शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं तो यह मिलता है कि यह शब्द 'लोक' धातु से निकला है। देखने के अर्थ में प्रयुक्त है अथवा देखा हुआ भी है। लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली और दृश्य जगत, और उसके बाद उसका अर्थ मुक्त विचरण भी है। इसी कारण इसका विकसित अर्थ है विश्व जो तीन, सात या चौदह लोकों में विभक्त है। उत्तर वैदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ है 'पृथ्वी लोक' और उनके निवासी या फिर इसका अर्थ सामान्य जीवन या सामान्य भाषा सटीक हुआ। लौकिक का अर्थ इंद्रियगोचर जीवन में सम्बन्ध हुआ; लोक के योग से अर्थ निष्पन होते हैं जिसमें लोकगीत, लोकगाथा, लोकचरित्र, लोकतंत्र, लोकधर्म, लोकप्रसिद्धि, लोकपत्रिका, लोकमार्ग, लोकयात्रा, लोकरंजन, लोकबिन्दु, लोकविरुद्ध, लोकवृत्त, लोकसंग्रह, लोकशक्ति, लोकहित इत्यादि जैसे शब्द हैं। सभी शब्दों में 'लोक' का अर्थ व्यापक मानव व्यवहार है अथवा मूल्यबोध से प्रेरित स्वीकृत व्यवहार है या चेतना है। लोक और शास्त्र में निरन्तरता और परिवर्तन दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं। इस अवधारणा को हम अगर

आत्मसात कर लें तो लोकवार्ता या लोकतंत्र के अध्ययन की हमारी दृष्टि पश्चिम से कुछ भिन्न अवश्य दिखेगी।

लोक में केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि मनुष्य का समस्त आत्मीय परिवेश सम्मिलित है; कोई भी लोक-व्यवहार प्रकृति के उपादानों के बिना या केवल प्रकृति के उपादानों से सम्भव नहीं हैं; प्रकृति के साथ सहज सम्बन्ध ही मनुष्य को पूर्णतर बनाता है; यही हमारी विश्व-दृष्टि का मुख्य मुद्दा है।

लोकवार्ता के अन्तर्गत शब्द-अर्थ का लेन-देन केवल लोकगीत, लोककथा और लोकोक्ति में होता है और शब्दार्थ के साहित्य की समाजधर्मिता के आधार पर इन सब को लोक-साहित्य कहना संगत है। पर यह साहित्य के बाहर नहीं है और न उसकी परिधि में है, यह साहित्य में अन्तर्निहित है।

तुलसीदास जैसे कवि ने लोक प्रचलित धुनों का आसरा लिया है; लोक-भूमि पर 'पुष्प वाटिका' प्रसंग की रचना की है; इसी कारन तुलसीदास के नाम से हजारों मंगल गीत लोक में प्रसिद्ध हैं। यही स्थिति मिथिला में विद्यापति से साथ हुई है; विद्यापत गीति-विशेष का नाम ही पड़ गया है। इस लेन-देन की आवश्यकता का अनुभव करना ही हमारी सर्जनशीलता का प्रमाण रहा है। लोक-साहित्य हमें क्यों मोह लेते हैं? इसका रहस्य इसके चित्त, आकर्षण और सहज शोभा में है। लोकगीत भी इस दृष्टि से विशेष हैं। लोकगीतों की कई विधाएँ हैं क्योंकि उनके कई प्रयोजन हैं; लोकगीत लोक-जीवन का अभिन्न अंग है; उनका प्रयोजन जीवन के दिनचर्या और लेन-देन से जुड़ा है। लोकगीतों की बनावट की कुछ सामान्य विशेषताएँ जरूर देखी जा सकती हैं; इनका मन्त्रों की तरह पुनरुक्ति होती है; एक पंक्ति में जो क्रियापदों का क्रम रहेगा वही क्रम संज्ञा बदलकर दूसरी पंक्ति में भी रहेगा; इन पुनरुक्ति से एक ओर कई समानांतर व्यापार एक साथ देखे जा सकते हैं; दूसरी ओर बार-बार वह व्यापार दुहराकर एक बिम्ब बन जाता है।

विगत दशकों के भीतर हिन्दी कथा-साहित्य में लोककथा से प्रेरणा लेकर अनेक सफल प्रयत्न हुए हैं; लोककथा की उच्च श्रृंखलता देखने को मिली है, परन्तु इनमें सादगी नहीं आ पायी है; इस कारण है कि जिस बात में कथा सुनने वाले को कोई रस नहीं मिलता उसको भी अपने व्यक्तिगत रस के कारण विशद रूप देने का लोभ आधुनिक कथाकार छुपा नहीं पाते हैं। लोक-साहित्य में जो उत्कृष्ता अपने निखरे हुए रूप में मिलता है उसका

कारण है कि लोक-साहित्य की रचना व्यक्ति के पूर्वराग या पूर्वद्वेष द्वारा नहीं होता है। इसलिए वह समस्त लोक की प्रत्याशाओं का उचित आकलन करने में वह समर्थ होता है। लोक-साहित्य के बुनावट के सन्दर्भ में बिम्ब-विधान जो कि लोक-कल्पना के परिधि में आता है वह एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। व्यक्ति-साहित्य के बिम्ब शुद्ध रूप में लौकिक नहीं हो पाते हैं, उनमें व्यक्ति का लक्षण आ ही जाता है। इसलिए उनके बिम्बों को समझने के लिए उनके अनुभव के उस क्षण को भी समझना आवश्यक हो जाता है। बिम्ब-विधान की अपनी उत्कृष्ठता इस अर्थ में नहीं है कि वह साहित्य के बिम्बों के बीच ज्यादा समर्थ हैं, बल्कि इस अर्थ में है कि वह अधिक लौकिक और संक्षिप्त है।

लोकगाथा और लोकगीत में लय पर मेल एक सामान्य विशेषता है; लेकिन लोकगीत में वहाँ कथा या कोई पात्र बना रहता है; लोकगाथा व्यक्ति के जीवन के एक मार्मिक अंश की भावस्पर्शिनी कहानी है; इस कहानी का मुख्य प्रयोजन है लोगों में उत्साह, प्रेम या सेवा का पवित्र आदर्श जगाना। प्राय: उन पात्रों को लेकर भी उनके जीवन के शिव-अंश को सामने रखते हुए कहानी गाथा में ऐसे प्रस्तुत की जाती है कि वे पात्र भी उस अंश में शिव बन जाते हैं। अत: लोकगाथा की परम्परा पुरुष पूजा की ही एक देन है।

भारतीय संस्कृति में खलनायक की अवधारणा

भारतीय संस्कृति एवं सिनेमा में रावण बुराई और बुरी शक्तियों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। वह 'खलनायक' का सबसे लोकप्रिय मॉडल है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में रावण बुराई और बुरी शक्तियों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। बुराई और बुरी शक्तियों का प्रतीक होने के बावजूद वह पश्चिमी सभ्यता के अर्थों में शैतान या शैतानी शक्ति नहीं है। पश्चिमी सभ्यता में शैतान न सिर्फ परमेश्वर का विरोधी है बल्कि वह अपने-आप में परम स्वायत्त है। पश्चिम में शैतान की अवधारणा के विपरीत भारतीय संस्कृति में रावण न सिर्फ ईश्वर की रचना है बल्कि वह भगवान शिव का महान भक्त और शैवागम का परम विद्वान भी है। रामायण की शब्दावली में उसे राक्षस कहा गया है। भारत की लोक संस्कृति में रावण सनातनी खलनायक माना जाता है। रावण आज एक व्यक्ति न रहकर प्रतीक बन गया है। भारतीय संस्कृति में वह छल, कपट और दुष्टता का प्रतीक पुरुष माना जाता है। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति रावण को पश्चिमी अर्थों में शैतान या ईश्वर विरोधी स्वायत्त शक्ति नहीं मानती। वह रावण को ईश्वरीय योजना का महत्त्वपूर्ण अंग मानती है। भारतीय संस्कृति मानती है कि जहाँ भी जीवन है। वह अमृत के कारण है, चाहे वह दशरथ पुत्र राम का जीवन हो या दशानन रावण का जीवन। यदि संसार सनातन दृष्टि से एक 'लीला' है तो रावण की भूमिका भी किसी महत्त्व उद्देश्य से ही लिखी गयी होगी।

सामी दृष्टि में एक साथ दो साम्राज्य स्वीकार किये गये हैं—(1) ईश्वर का साम्राज्य तथा (2) शैतान का साम्राज्य। सनातनी परम्परा में एक ही साम्राज्य है, धर्म का साम्राज्य। धर्म वह है जो धारण करता है, जीवन का आधार है, जो अस्तित्व और अमृत का आधार है। भारतीय संस्कृति मानती

है कि रावण की नाभि में भी अमृत है। फलस्वरूप जब तक नाभि में तीर नहीं मारा जायेगा, तब तक रावण नहीं मरेगा। नाभि में तीर लगते ही रावण के अन्दर कैद अमृत सारे संसार में फैल जायेगा। तब रावण अपने-आप मर जायेगा। यह एक मिथक है। भारतीय संस्कृति का यह सनातन मिथक आज भी प्रासंगिक है।

हमें भी समझना होगा कि 21वीं सदी का रावण कौन है। वह रावण अमेरिका नहीं है, न विश्व मुद्रा कोष या विश्व बैंक ही है। यदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को हम रावण समझते हैं, तो यह भी हमारा भोलापन है। गांधी रावण के असली स्वरूप को समझते थे। रामकृष्ण परमहंस, श्रीअरबिन्दो इत्यादि भी रावणत्व को समझते थे। बुद्ध भी इस सनातनी रावण को समझते थे, परन्तु हजार बरस की गुलामी ने हमें मानसिक रूप से वहाँ ले जाकर छोड़ा है जहाँ हम अपने पुरखों की पूजा तो करते हैं पर उनसे प्रेरणा नहीं ले सकते। हम उनसे अपनापन तो समझते हैं पर उनके प्रयोगों का महत्त्व नहीं समझते।

भगवान बुद्ध, आचार्य नागार्जुन, गुरु गोरखनाथ, आचार्य रामानुज, महात्मा कबीर, गुरुनानक, सन्त रैदास, मीराबाई, समर्थ रामदास, रामकृष्ण परमहंस एवं महात्मा गांधी जैसे महापुरुष कलियुगी सनातनता के प्रेरणा पुंज हैं। इनके आलोक में हमें नहीं लगता कि पश्चिम से हमें ज्ञान, विज्ञान या आधुनिकता सीखने की जरूरत है। सनातन परम्परा पुरानी कब पड़ती है? सनातन परम्परा को पुनर्नवा यों ही नहीं कहा गया है। इसमें सतत अंकुरन होता रहता है। हमेशा पुनर्रचना होती रहती है। यह पुनर्रचना समाज में, प्रतीकों में, शास्त्रों में और कलाओं में भी होती है। रावण की अवधारणा तो नहीं बदलती लेकिन रावण का स्वरूप एवं आवरण बदलता रहता है। रावण को समझने के लिए मिथकों की परम्परा को समझना आवश्यक है। यह याद रखना आवश्यक है कि 'रामायण' और 'महाभारत' प्रतीक शास्त्र है, यह ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है। सनातन परम्परा में ही कालजयी शास्त्रों की रचना होती है। शास्त्रों की भाषा प्रतीकों की कूट भाषा होती है। इसको पढ़ने की कला और तकनीक गुरु-शिष्य परम्परा को संस्थानिक आधार देता है। इसी परम्परा और इसी आधार के सन्दर्भ में रावण को समझा जा सकता है। पश्चिमी शैतान की अवधारणा से तुलना करके नहीं समझा जा सकता।

हम रावण से क्यों हारते हैं? रावण कौन है? वह कैसे मरेगा? यह सनातन प्रश्न है। प्रश्न हमें याद है परन्तु इसके सनातन उत्तर हम भूल चुके हैं। इसका ऐतिहासिक उत्तर भी हम नहीं देते। हम मानते हैं कि रावण अब भी शुक्रनीति पढ़ता है जबकि बृहस्पति राजधर्मसूत्र हमारे लिए पुरातात्त्विक महत्त्व की चीज है। हम मानते हैं कि चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' से हमारा काम चल जायेगा, पर हम यह जानने की कोशिश नहीं करते कि रावण आजकल कौन-सा शास्त्र पढ़ता है और क्या सचमुच बृहस्पति के 'राजधर्मसूत्र' की तुलना में चाणक्य का 'अर्थशास्त्र' हमारे युग के ज्यादा अनुकूल है? एक तरफ हम मानते हैं कि राम ने विभीषण, हनुमान, सुग्रीव आदि के बल पर उनकी सहायता से रावण को हराया था, दूसरी तरफ हम स्वदेशी की बात करते हैं। क्या विभीषण स्वदेशी था? स्वदेशी में 'स्व' प्रमुख है या 'देश'? राष्ट्र का अर्थ क्या सचमुच 'नेशन' होता है या 'सिविलाइजेशन' होता है? इन मूल प्रश्नों का उत्तर कैसे दिया जाता है हमारे यहाँ और कैसे दिया जाता है रावण के यहाँ? इसको सभ्यताओं के समाजशास्त्र के तहत ही समझा जा सकता है। दुर्भाग्यवश महात्मा गांधी के बाद से इस देश में सभ्यता समीक्षा की परम्परा मृतप्राय है।

कभी हमारे यहाँ गुरुकुल होता था और रावण के यहाँ केवल गुरु थे, शुक्राचार्य। आज रावण के यहाँ गुरुकुल है और हमारे यहाँ गुरु तो होते हैं, लेकिन उनका वंश नहीं चलता। हमारे यहाँ केवल गृहस्थों के वंश चलते हैं, जैविक वंश चलते हैं, जबकि रावण के यहाँ गुरुकुलों में बौद्धिक और आध्यात्मिक वंश चलता है। एक युग के केन्द्र में सामान्यत: एक ही गुरु या एक ही राष्ट्र-राज्य या एक ही गुरुकुल होता है। जब तक भारत में नालंदा बौद्ध गुरुकुल नहीं हुआ था वह सनातन परम्परा का संयुक्त केन्द्र था। फिर नालंदा बौद्ध गुरुकुल हो गया। दुर्भाग्य से भारत के तत्कालीन हिन्दू मानस ने बौद्ध आविष्कारों और बौद्ध पद्धति के साथ अपने को उस तरह नहीं जोड़ा जिस तरह वे तक्षशिला के गुरुकुल के साथ जुड़ा महसूस करते थे। श्री गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि ईसाई द्वितीय शतक से लेकर द्वादश शतक तक भारत बौद्धमत का प्रमुख स्थान रहा है। इसके बावजूद बौद्ध दर्शन एवं धर्म का परिचय प्राय: लोगों को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सब लोगों को नहीं था। साधारण जनता की बात तो दूर रही,

बड़े-बड़े पंडित भी इससे वंचित थे। इसका प्रधान कारण हिन्दू समाज में बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों के पठन-पाठन का अभाव था। ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत कुसंस्कारों तथा दूसरे मत या सम्प्रदाय के प्रति उपेक्षा भाव के कारण सहृदय आलोचना का अभाव था। बौद्ध धर्म में जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही दो मत रहे हैं—प्रथम, मलिन वासना के क्षय का सिद्धान्त है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निवारण है। दूसरा, वासना का शोधन है। इससे शुद्ध-वासना का आविर्भाव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्व कल्याण या लोक कल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। अन्त में शुद्ध वासना भी नहीं रहती और पूर्णत्व या बुद्धत्व प्राप्त होता है। पहली दृष्टि स्थविरवादियों एवं दूसरी दृष्टि महायानियों की है। स्थविरवादी परम्परा जैन परम्परा एवं निर्गुण भक्ति साधना की परम्परा के ज्यादा नजदीक है जबकि महायानी परम्परा वृहतर हिन्दू समाज की मुख्यधारा की सहधर्मी रही है। फलस्वरूप यह आश्चर्यजनक बात लगती है कि तत्कालीन हिन्दू समाज के प्रभु वर्ग ने नालंदा गुरुकुल को तक्षशिला के नष्ट होने पर भी अपनी आस्था और प्रेरणा का स्त्रोत नहीं बनाया।

मौर्य साम्राज्य से लेकर शुंग वंश के शासन काल तक भारतीय संस्कृति में बौद्ध जैन एवं हिन्दू सम्प्रदायों के बीच राज्य संस्था को एवं समाज व्यवस्था को चलाने की दृष्टि से काफी प्रतियोगिता रही है। मौर्य साम्राज्य के निर्माण से पहले तक इनके अनुयायियों में वर्गगत, समूहगत या समुदायगत विभाजन रूढ़ नहीं हुआ था। मुनि, भिक्षु, ऋषि या संन्यासी तो सम्प्रदायों में विभक्त थे किन्तु आम जन गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए स्थानीय मुनि, भिक्षु, या संन्यासी, ऋषि के पास अपनी इच्छा, पसन्द या आवश्कतानुसार आया-जाया करते थे। सम्प्रदायों के बीच स्थानीय समुदाय या स्थानीय व्यवस्था को प्रभावित करने की दृष्टि से प्रतियोगिता अवश्य थी। इनमें सैद्धान्तिक एकता तो आज तक बनी हुई है लेकिन व्यावहारिक रूप से इनके अनुयायियों के बीच भी साम्प्रदायिक विभाजन का आरम्भ चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही प्रारम्भ हुआ।

आचार्य चाणक्य की इच्छा के विरुद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त खुद जैन मुनि हो गये। वाचिक परम्परा के अनुसार सम्राट बिन्दुसार हिन्दू परम्परा

के रक्षक बने रहे लेकिन आचार्य चाणक्य का उन्होंने तिरस्कार किया। सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध के पश्चात बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर मोग्लिपुत्त तिस्स के मार्गदर्शन में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। सम्राट अशोक के उत्तराधिकारी बौद्ध बने रहे। अन्तिम मौर्य सम्राट बृदरथ की हत्या उनके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने की। शुंग वंश के शासन काल में हिन्दू शास्त्रों के नये संस्करण बने और बौद्धमत की साम्प्रदायिक उपेक्षा शुरू हुई। पुष्यमित्र शुंग के प्रेरणा स्रोत महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। आचार्य नागार्जुन से आचार्य शंकर तक का काल परस्पर सम्मान से लेकर परस्पर उपेक्षा के मध्य साम्प्रदायिक संगठन एवं सैद्धान्तिक एकता तथा सामाजिक समरसता का काल रहा है। आचार्य वाचस्पति मिश्र के काल से भगवान बुद्ध के प्रति व्यक्तिगत सम्मान तो बना रहा लेकिन उनके मत, उनकी पद्धति, उनके तकनीक तथा उनके नाम पर चलने वाले सम्प्रदायों के बारे में नासमझी और कुप्रचार बलवती होता गया। अंग्रेजी राज में इस नासमझी एवं कुप्रचार को अकादमिक सम्पोषण एवं सैद्धान्तिक आधार दिया गया। 1958 में बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा अपने अनुयायियों सहित बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के बाद से निहित स्वार्थी समूहों ने दोनों सम्प्रदायों के बीच की खाई और चौड़ी करने की कोशिश शुरू की। आनन्द कुमारस्वामी, जे. कृष्णमूर्ति, ओशो रजनीश, दलाई लामा, भरत सिंह उपाध्याय एवं सत्यनारायण गोयंका जैसे व्यक्तियों के प्रभाव में बौद्ध परम्परा एवं हिन्दू परम्परा के बीच की एकता अब पुनः मजबूत हुई है। भारतीय संस्कृति में नालदा और तक्षशिला को समान आदर से याद किया जाता है, परन्तु वाचिक परम्परा में अब भी यह तथ्य रेखांकित किया जाता है कि सिकंदर के भारत पर आक्रमण से पूर्व एवं मौर्य साम्राज्य स्थापित होने से पहले आचार्य चाणक्य तक्षशिला गुरुकुल को मगध में स्थानान्तरित या पुनरुज्जीवित करना चाहते थे, नालंदा गुरुकुल को मजबूत करना या अपनाना उनका उद्‌देश्य नहीं था। चाणक्य ने नन्द साम्राज्य के बदले मौर्य साम्राज्य की नींव डाली। पर गुरुकुल स्थानान्तरित नहीं हुआ। साम्राज्य बनाना आसान होता है। गुरुकुल बनाना मुश्किल काम है। इतिहास लिखना आसान होता है, पुराण लिखना मुश्किल काम है। तक्षशिला गुरुकुल तो नष्ट हो गया पर वहाँ की किताबें कहाँ गयीं? इस प्रश्न का उत्तर खोजना काफी दिलचस्प हो सकता है।

एक मान्यता यह है कि अपने विश्व विजय के दौरान अपने बचपन के गुरु अरस्तू की प्रेरणा से प्रेरित सिकंदर पर्शिया (फारस) एवं उत्तर-पश्चिमी भारत के अपने सैनिक एवं राजनीतिक अभियान के दौरान अन्य चीजों के अलावा किताबों के संग्रह के प्रति भी काफी सचेत था। कुछ पुस्तकें तो सिकंदर के अभियान के तहत यूनान पहुँच गयीं। जो बचा ली गयीं उन पुस्तकों को तक्षशिला के पंडितों ने भारत के अन्य प्रदेशों में सुरक्षित रूप से संरक्षित कर लिया परन्तु संस्थागत सहयोग न मिलने के कारण उनका अपेक्षित उपयोग नहीं हो पाया। दूसरी ओर नालंदा का गुरुकुल अपने बौद्ध स्वरूप में मुस्लिम आक्रमण शुरू होने से पहले तक न सिर्फ अस्तित्व में रहा बल्कि अपनी सीमा के अन्दर काफी सक्रिय भी रहा। मुस्लिम आक्रमण के बाद नालंदा का बौद्ध विहार एवं गुरुकुल तो नष्ट कर दिया गया परन्तु इस परम्परा के सौभाग्य से नालंदा विश्वविद्यालय की ज्यादातर पुस्तकें सही समय पर तिब्बत में स्थानान्तरित कर दी गयीं और संस्थागत सहयोग मिलने के कारण अपने तिब्बती स्वरूप एवं संस्करण में आज भी जीवन्त बनी हुई हैं। (डी.डी. कोसंबी एवं इंगलस—हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज)।

इतिहास चक्र की विडम्बना देखिए कि एथेंस में किताबें तो पहुँची पर विश्व विजय का स्वप्न देखने वाला सिकंदर वापस नहीं पहुँचा। रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गयी। राजा मर गया, पर सेनापति (सेल्यूकस) जिन्दा रहा। सेनापति बदलते रहे। सेनाएँ बदलती रहीं। साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहे। अरस्तू के बाद रावण के यहाँ गुरु का महत्त्व गौण हो गया और गुरुकुल चलता रहा। गुरुकुल रूपी संस्था का महत्त्व बढ़ गया। संस्थाएँ सनातनता का बोध कराने लगी, गुरु क्षणभंगुर चमत्कार के वाचक हो गये और रावण जीतता रहा। हम सभी सनातन परम्परा के भग्नावशेष हारते रहे। एथेंस के बाद रोम, फ्लोरेंस, कैंब्रिज/ऑक्सफोर्ड—अब हार्वर्ड बिजनेस स्कूल रावण की आत्मा—अमृत-कलश—गुरुकुल-शब्द ब्रह्म का रूपान्तरण एवं स्थानान्तरण होता रहा—पुनर्नवता बनी रही और वे उसी सनातन धर्म से जीतते रहे, जिससे कभी हम जीतते थे। यह मत भूलिए कि वे हमारे सौतेले भाई हैं। खून का रिश्ता है हमारे बीच। एक ही पिता (कश्यप) की सन्तानें हैं हम सब। केवल माताएँ (दिति, दनु, अदिति) अलग हैं। विरासत में साझा अधिकार था हमारा। हमने दावा छोड़ दिया, उन्होंने नहीं छोड़ा। हमने निहत्थे, युद्ध न करने के

शपथ से बँधे कृष्ण को पूजा की वस्तु बना लिया और दुर्योधन से प्रेरणा लेकर यादवी सेना (संगठन) बनाने की जुगत करते रहे। आन्दोलन पर आन्दोलन करते रहे। अब कृष्ण भी क्या करें? जो लोग व्याकरण भूलकर शब्दों और वाक्यों को मारने के लिए सेना और संगठन बनाते चलते है, उनके द्वारा पूजे जाने पर कृष्ण की क्या हालत होती होगी?

ऐसा नहीं था कि तक्षशिला के ध्वंस के बाद हमारे यहाँ गुरुकुल नहीं था। पर हमने नालंदा को बौद्ध संस्था मानकर उसे असनातन मान लिया। बुद्ध को वैष्णवों ने नौवाँ (नवम) अवतार मानकर पूजना शुरू कर दिया, पर बौद्ध संस्थाएँ सामाजिक प्रेरणा के बदले सामाजिक उपहास की चीज बनी रहीं। धीरे-धीरे समाज दो भागों में बँट गया। समाज के जिस हिस्से को बौद्ध संस्थाओं से प्रेरणा मिलती रही वे इस्लाम के आक्रमण तक उर्ध्ववान बनी रहीं। पर इस्लाम के आने के बाद बौद्ध संस्थाएँ दोहरे दबाव में दम तोड़ने लगीं।

मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन ने सनातन धर्म एवं संस्कृति को पुनर्जीवन दिया। वैदिक एवं श्रमण, हिन्दू एवं बौद्ध परम्पराओं का द्वंद्व समाप्त किया गया। कुछ सन्त तो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी प्रयासरत हुए लेकिन सनातन भारतीय सभ्यता को संरक्षित-संवर्धित करने के लिए सम्प्रदाय निरपेक्ष गुरुकुल चाहिए था। भक्त सन्त भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में तो सफल रहे परन्तु उनकी साम्प्रदायिक उपासना पद्धति सभ्यतामूलक विमर्श चलाने में सक्षम नहीं रह पायी। सभ्यता की रक्षा केवल व्यक्तिगत प्रतिबद्धता एवं साम्प्रदायिक उपासना के बल पर नहीं की जा सकती। इसके लिए केवल लोक संस्कृति को बचाना काफी नहीं है। सभ्यता के संरक्षण-संवर्धन के लिए शास्त्र चाहिए, गुरुकुल चाहिए और प्रशिक्षित विशेषज्ञ चाहिए। सभ्यता के संरक्षण-संवर्धन के लिए सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों का सन्तुलन चाहिए, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग तीनों का सन्तुलन चाहिए और एक 'व्यवस्था' चाहिए। 'व्यवस्था' और 'गुरुकुल' के अभाव में सभ्यताएँ कमजोर होकर मरने लगती हैं। सन्तुलन के अभाव में व्यक्ति 'रावण' बन जाता है। रावण असन्तुलित व्यक्ति है। उसके अलग-अलग गुण सराहनीय हैं, लेकिन उसके पूरे व्यक्तित्व में असन्तुलन है। रावण की दुष्टता का आधार उसका स्वभाव नहीं अधूरापन और असन्तुलन है। जैसा कि महात्मा गांधीजी

ने अपनी महान कृति 'हिन्द स्वराज' में कहा है कि आधुनिक सभ्यता एक शैतानी सभ्यता है। आधुनिकता एक रोग है, एक कमजोरी है। इस आधुनिकता ने पारम्परिक रावण को समझने की शक्ति हमसे छीन ली है। हम रावण को अपने अन्दर नहीं देखकर अपने विरोधियों में ढूँढ़ने लगे हैं। यह असनातनी दृष्टि है। सनातनी दृष्टि में रावण हमारे समाज के अन्दर है। वह हमारा सगा है। वह हमारी मध्यवर्गीय चेतना के अन्दर है। हमें रावण ने जीता नहीं है, हमने उसे अतिथि का सम्मान दिया है। उसकी लंका की चमक-दमक ने हमें लालची बनाया है। हम भी अपने समाज को लंका बनाना चाहते है। हम भी लंकेश बनना चाहते हैं। यह चाहत स्वाभाविक नहीं है। यह हार्वर्ड बिजनेस स्कूल द्वारा फैलाया गया भ्रमजाल है। यही रावण की शक्ति का आधार है। यही उसकी नाभि का अमृत है। जब तक यह चाहत हममें कायम है तब तक रावण नहीं मरेगा। एनरॉन को मार लो या केंटुकी चिकेन को, कोकाकोला को मार लो, पेप्सी या मैकडोनाल्ड को मार लो। रावण तब तक जिन्दा रहेगा जब तक हार्वर्ड बिजनेस स्कूल जिन्दा। उसका भ्रमजाल जिन्दा है और इस भ्रमजाल के शिकार लोग जिन्दा हैं। उसको मारना सम्भव है। उसके लिए संकल्प लेना होगा। प्रायश्चित करना होगा, अपनी खोयी विरासत को पाने के लिए नयी स्मृति, नया व्याकरण और नया गुरुकुल चलाना होगा।

समकालीन भारतीय सन्दर्भ में खोयी विरासत पाने के लिए, नयी स्मृति या नया व्याकरण लिखने के लिए हमारा सम्बल क्या हो सकता है? हमारे प्रेरणास्रोत कौन हो सकते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देना आसान नहीं है। लेकिन स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी की ओर स्वाभाविक रूप से ध्यान जाता है। इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता' के अन्तर्गत मैंने विस्तार से विवेचन किया है। यहाँ संक्षेप में इस पर चर्चा की जा सकती है।

विवेकानन्द का मूल उद्देश्य पश्चिमी ज्ञान, विज्ञान एवं भौतिक संस्कृति को स्वदेशानुकूल करना था ताकि इस देश के प्रभुवर्ग और पश्चिम के प्रभुवर्ग में एक पुल बन सके। इस प्रक्रिया में उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान एवं भारतीय वेदान्त के बीच समन्वय की बात की। यह समन्वय प्रभुवर्ग-मध्यवर्ग तकनीक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र के विशेषज्ञों एवं पेशेवरों के बीच होना था। बाद में श्रीअरबिन्दो, महेश योगी, दीपक चोपड़ा और श्री श्री रविशंकर आदि ने भी इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

विवेकानन्द का जोर हिन्दू समाज की पारम्परिक संस्थाओं के संरक्षण, पोषण एवं संवर्धन की जगह नयी संस्थाओं के निर्माण और नये मूल्यों के विकास पर था। वे पारम्परिक हिन्दू मूल्यों और पारम्परिक हिन्दू संस्थाओं को समकालीन समय के अनुकूल नहीं मानते थे। उनकी चिन्ता हिन्दू जाति के भविष्य के प्रति थी। हिन्दू संस्थाओं, संस्कृति एवं मूल्यों का वे युगानुकूलन करना चाहते थे। उनको लगता था कि अगर हिन्दू जाति पश्चिमी तकनीक विज्ञान एवं प्रबन्धन को अपना ले और अद्वैत-वेदान्त के साथ इनका समन्वय कर ले तो हिन्दू जाति आधुनिक युग की मुख्य धारा को प्रभावित कर सकती है। हम विश्वगुरु बन सकते हैं। पूरी दुनिया में परम वैभव आ सकता है।

विवेकानन्द के प्रकाशित साहित्य के गहन अध्ययन के दौरान उनमें परम वैभव के बारे में, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान या प्रबन्धन के बारे में या वेदान्त के बारे में एक 'भोला विश्वास' या 'सहज विश्वास' का भाव ज्यादा दिखता है। इन चीजों के बारे में विवेकानन्द की समझ समकालीन पश्चिमी विश्वास विमर्श (प्राच्यवाद एवं भारत विद्या अध्ययन) से ज्यादा प्रभावित थी और पारम्परिक स्त्रोतों पर कम आधारित थी। आजकल की भाषा में कहें तो उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं था कि उन्हें कैसा भारत चाहिए? या पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान एवं भारतीय वेदान्त के समन्वय के पश्चात आखिर कैसे, किस तरह, कब और किसके लिए परम वैभव आयेगा? पश्चिमी विमर्श के केन्द्र में लोकमंगल की अवधारणा नहीं है।

गांधीजी का मूल उद्देश्य पूर्व और पश्चिम की लोक-संस्कृति को सरक्षण एवं संवर्धन देना था। समन्वय यहाँ भी है। समकालीन भारतीय संस्कृति एवं परिस्थिति में स्वावलम्बन का संस्कार विकसित करने के लिए पश्चिम की वैकल्पिक संस्कृति से प्रेरणा लेकर पश्चिमी आधुनिकता का विकल्प पैदा करने का प्रयास यहाँ भी है। विवेकानन्द का जोर व्यक्ति निर्माण पर है। वे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को सनातन धर्म की ही अधूरी अभिव्यक्ति मानते हैं। इस आधुनिक सभ्यता को पूर्णता देने के लिए वे वेदान्त की शिक्षा पर बल देते हैं। आधुनिक मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में वेदान्त से बहुत कुछ सीख सकता है।

गांधीजी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को शैतानी रचना मानते हैं। वे यही मानते हैं कि इस सभ्यता से किसी का भला नहीं हो सकता। वे पारम्परिक

सभ्यता और पारम्परिक लोक-संस्कृति के पक्षधर हैं। गांधीजी का विमर्श संस्कृतिमूलक है जबकि स्वामी विवेकानन्द का विमर्श व्यक्तिमूलक और सभ्यतामूलक है। गांधीजी विशेषज्ञों की विशिष्ट जमात की जगह आम स्त्री-पुरुषों की स्वावलम्बी संस्कृति के पक्षधर थे। दोनों ही आस्तिक और सनातनी थे परन्तु दोनों का मार्ग अलग था। एक प्रवत्तिमार्गी एवं व्यक्तिवादी थे तो दूसरे प्रवृत्तिमार्गी एवं सामूहिकतावादी। परम्परा में सामान्यत: प्रवृत्तिमार्ग और सामूहिकता एवं निवृत्तिमार्ग एवं व्यक्तिवाद साथ चलते हैं। दोनों ने परम्परा में बदलाव करना चाहा। यही इनकी मौलिकता थी और यही उनकी सीमा भी। इन दोनों के विपरीत एक तीसरी विचारधारा भी इस देश में रही है जिसका नेतृत्व करपात्री जी महाराज एवं निरंजन देव तीर्थ जैसे व्यक्ति करते रहे हैं। इन्हें आदर्शवादी भी कहा जाता है और कलावादी भी। ये लोग व्यवहार को महत्त्वहीन एवं आदर्श को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ये लोग किताबी आदर्श एवं अवधारणाओं की वकालत करते हैं। इनका मानना है कि पारम्परिक संस्थाओं और अवधारणाओं के आधार पर पश्चिम से एवं भारतीय सुधारवादियों से मुकाबला किया जा सकता है। लेकिन यह मुकाबला कौन करेगा? ये पारम्परिक संस्थाएँ कहाँ, किस हद तक और किस क्षेत्र में कायम हैं, इसकी पड़ताल इस विचारधारा के लोग नहीं करते। ये लोग रीतियों और कुरीतियों में अन्तर नहीं करते। ये लोग भारतीय समाज में पायी जाने वाली हर अच्छी-बुरी चीज को जायज ठहराते हैं। लेकिन खुद व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन में ये लोग अपने आदर्शों पर टिकने के बजाय 'परिस्थितिवश' या 'आपदधर्म' का निर्वाह करते हुए समाज में प्रचलित एवं लोकप्रिय पश्चिमी सुविधाओं, संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों का उपयोग करने में किसी से पीछे नहीं रहते। कुल मिलाकर इनकी कथनी और करनी, इनके आदर्श एवं इनके व्यवहार, भारत के बारे में इनके सिद्धान्त एवं भारत की समकालीन स्थिति, परिस्थिति एवं मन:स्थिति में अच्छी-खासी दूरी एवं असम्बद्धता रही है। फलस्वरूप यह विचारधारा लोक में प्रिय नहीं है।

भारत और चीन दोनों ने स्वतन्त्रता आसपास ही पाया था। भारत ने 1947 में और चीन ने 1949 में। दूसरा बड़ा परिवर्तन भी आसपास ही हुआ था—भारत में 1977 में और चीन में 1978 में। लेकिन चीन 1978 से लगातार अपने पथ पर बढ़ता गया, जबकि भारत में 1977 से 1990 तक

अनिश्चितता बनी रही। 1991 से 1998 तक देश में राजनीतिक अनिश्चितता के बावजूद आर्थिक नीतियों में निरन्तरता बनी रही। 1998 से 2004 तक देश में राजनीतिक और आर्थिक निरन्तरता बनी रही। 2004 से आर्थिक निरन्तरता तो है लेकिन 2008 से विदेश नीति के फ्रंट पर राजनीतिक अनिश्चितता बनी हुई है।

गांधी और माओ में कई समानताएँ हैं। नेहरू और देंग में भी कई समानताएँ हैं। लेकिन एक बड़ा अन्तर यह है कि गांधी केवल दार्शनिक एवं जननेता थे। देश का प्रशासक गांधी की नीतियों पर नहीं चला। जबकि माओ दार्शनिक, जननेता एवं प्रशासक तीनों थे। उसी तरह नेहरू जननेता और प्रशासक थे, परन्तु दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने प्रशासन और नीतियों का कोई स्वतन्त्र दर्शन प्रस्तुत नहीं किया है। उलटे वे महात्मा गांधी को अपना गुरु और दार्शनिक मानते रहे। उन्होंने हमेशा यही कहा कि वे महात्मा गांधी के विरासत के वारिस हैं और कई बार व्यावहारिक कठिनाइयों की वजह से बापू के आदर्शों को लागू नहीं कर पाते। उन्होंने एक-दो मुद्दों पर व्यक्तिगत पत्राचार में महात्मा गांधी से अलग दृष्टि भी प्रस्तुत किया, परन्तु सार्वजनिक रूप से वे बापू से बहस करने के बजाय उनके अनुयायी बने रहे। इसके विपरीत देंग दार्शनिक, जननेता और प्रशासक तीनों थे। उन्होंने अपने प्रशासन और नीतियों को एक सैद्धान्तिक आधार दिया। माओ की नीतियों से अपनी सैद्धान्तिक असहमति को भी प्रस्तुत किया। माओ की उपलब्धियों को एक स्तर पर स्वीकार करते हुए भी उन्होंने समकालीन चीनी समाज, अर्थ-व्यवस्था, संस्कृति एवं सभ्यता के लिए माओ की नीतियों तथा सिद्धान्तों में गुणात्मक लेकिन क्रमिक, संरचनात्मक सुधार की वकालत की। इसका एक सफल परिणाम यह रहा कि देंग के स्वैच्छिक सेवा-निवृत्त होने और काल-क्रम में उनकी मृत्यु के बाद भी चीन में उनकी आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक नीतियों को उनके अनुयायी अब तक मानते रहे हैं। जिस तरह अपने जीवन में ही देंग ने स्वेच्छा से एक-एक करके क्रमिक सेवा-निवृत्त ली (पद और अधिकार छोड़ा) और योग्य उत्तराधिकारियों को महत्त्वपूर्ण पदों पर स्थापित करते गये, वह एशिया के आधुनिक इतिहास के लिए नयी घटना और नया मानदंड है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की जगह अपने सिद्धान्तों को स्थापित किया।

पश्चिमी परम्परा और चीन के विपरीत हमारे यहाँ दार्शनिकता, जनाकांक्षा एवं प्रशासकीय रणनीतियों में पिछले वर्षों में कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रहा है। हमारे यहाँ के समकालीन दार्शनिकों को न तो जनाकांक्षा से मतलब है और न प्रशासकीय मॉडल निर्माण से। विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवी पश्चिमी विश्वविद्यालय और यूरोपीय ज्ञानोदय से जुड़कर आत्ममुग्ध रहते हैं। समाज के चिन्तकों के कुछ उदाहरण हम उपरोक्त चर्चा में देख ही चुके हैं। चाहे विवेकानन्द जी हों या महात्मा गांधी, जवारहलाल नेहरू हों या करपात्री जी महाराज या फिर देश के अन्य चिन्तक (जैसे श्रीअरबिन्दो, डॉ. अम्बेडकर, आचार्य नरेन्द्र देव, लोहिया या जयप्रकाश नारायण), इनमें एक साथ दार्शनिकता, जनाकांक्षा एवं प्रशासकीय चुनौती से निपटने के लिए सभ्यतामूलक सिद्धान्त, व्यावहारिक पद्धतियाँ और सर्वसमावेशक लोकमंगल या सर्वोदय की प्राप्ति के लिए जमीनी रणनीतियाँ स्थूल रूप से विकसित अवस्था में नहीं हैं। एक सीमित दृष्टि से सभी उपयोगी हैं लेकिन सभ्यता का पुनरुद्धारर सनातनी गुरुकुल की पुनर्स्थापना से ही होगा। केवल व्यक्तिगत पुरुषार्थ और तात्कालिक आग्रह या वर्गगत, जातिगत या पेशेवर आन्दोलन से रावण नहीं मरेगा। भारत का परम वैभव सभ्यतामूलक गुरुकुल और सनातन धर्म पर आधारित सर्वोदय की प्राप्ति के लिए स्वराजी आन्दोलन से आयेगा। इसका माध्यम हिन्दी सिनेमा बन सकता है। कम-से-कम देवकी कुमार बोस, एस.एस. वासन, शान्ताराम, ए.आर. कारदार, के. आसिफ, मेहबूब खान, शशधर मुखर्जी, बिमल रॉय, राज कपूर, विजय भट्ट, एल.व्ही. प्रसाद, सत्येन बोस, ताराचन्द बड़जात्या आदि द्वारा सप्रयास निर्मित सिनेमाई भाषा के व्याकरण के आधार पर निर्मित हिन्दुस्तानी सिनेमा में 1930 के दशक से 1975 के प्रारम्भ तक मुख्यधारा की सभी फिल्मों की पटकथा के केन्द्र में इसकी मर्यादा कायम रही। 1975 की 'दीवार' से मर्यादा टूटी।

गांधी के विचार और आदर्श
एक आलोचनात्मक विश्लेषण

महात्मा गांधी की आधारभूत रचना 'हिन्द स्वराज' है। उन्होंने यह रचना नवम्बर 1909 (जब वे 40 वर्ष के थे) में दस दिनों की प्रेरणा के दौरान लिखी थी। जब वे पानी की जहाज से इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका वापस जा रहे थे। परेल ने लिखा है कि गांधी इतनी तेजी से लिखते थे कि "जब दाहिना हाथ थक जाता था, तो वे बायें हाथ से लिखते थे।" और यह इस रचना को एक अनोखी विशिष्टता प्रदान करती है। उन्होंने अपने सभी लेखन में से केवल इसे ही अंग्रेजी में लिखा और अनूदित किया। 'हिन्द स्वराज' को एक 'सम्पादक' ('गांधी इंडियन ओपिनियन' नामक एक दक्षिण अफ्रीकी पत्रिका के प्रकाशक और सम्पादक थे, जिसमें 'हिन्द स्वराज' पहली बार सामने आया था) और एक गुमनाम 'पाठक' (जो भारत के कई राजनीतिक गुटों को शामिल करने वाला एक संयोजन हो) के बीच बातचीत के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'हिन्द स्वराज' न केवल उनके जीवन और विचारों को समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि 1900 के दशक के पहले भाग के दौरान दक्षिण एशियाई राजनीति को समझने के लिए भी आवश्यक है। 'हिन्द स्वराज' के एक समाचार-पत्र में प्रारम्भिक प्रकाशन की 100वीं वर्षगाँठ के सम्मान में, इस शताब्दी संस्करण में गांधी और 'जीवन के चार प्रामाणिक उद्द्देश्य' पर एक नये अध्याय के अलावा एक संशोधित सम्पादक की भूमिका और प्रस्तावना शामिल है। गांधी की मूल प्रस्तावना और प्राक्कथन, जो अन्य संस्करणों में अनुपस्थित है, 'हिन्द स्वराज' के 1910 के आलोचनात्मक संस्करण में शामिल है, जिस पर विस्तृत रूप से टिप्पणी की गयी है।

दक्षिण अफ्रीका और इंग्लैंड में गांधी के अनुभवों के महत्त्व का विश्लेषण करने के अलावा एंथनी जे. परेल ने इस कार्य को ऐतिहासिक और राजनीतिक परिदृश्य में रखा और देखा है। गांधी के अन्य प्रकाशन और साथ ही नेहरू और टॉलस्टॉय के साथ उनके पत्राचार को पुस्तक के दूसरे खंड में शामिल किया गया है। हालाँकि 'गांधी और उनके आलोचक' गांधीजी के विचारों के विकास, धर्म, नस्ल और जाति-व्यवस्था के प्रति उनके दृष्टिकोण, अंग्रेजों के साथ उनके संघर्ष, मुस्लिम अलगाववाद और भारत के विभाजन के प्रति उनके दृष्टिकोण, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के प्रति उनके दृष्टिकोण, अहिंसा के सिद्धान्त और अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गहराई से चर्चा करते हैं। इस कार्य को अन्य पुस्तकों से अलग करने का कारण यह है कि विविध विषयों की खोज करते समय, लेखक गांधीजी के आलोचकों और उनके मूल्यांकन को भी ध्यान में रखता है।

एंथनी जे. परेल के 'हिन्द स्वराज' के संस्करण के साथ-साथ बी.आर. नन्दा के 'गांधी और उनके आलोचक' गांधीजी के व्यक्तित्व पर एक विविध दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जिसने समाज की बेहतरी और भलाई के लिए अपने विचारों और जीवन के माध्यम से योगदान दिया। यह संयुक्त विश्लेषण गांधी के केन्द्रीय सिद्धान्तों, विचारों और आदर्शों को देखेगा और यह देखेगा कि उनके समकालीन लोगों के साथ-साथ बाद के इतिहासकारों द्वारा उन्हें कैसे समझा गया और उन पर सवाल उठाये गये।

एंथनी जे. परेल के 'हिन्द स्वराज' के संस्करण में मुख्य विषयों या प्रसंगों पर इस प्रकार से चर्चा की गयी है—

> 'हिन्द स्वराज' भारतीय स्वतन्त्रता के लिए गांधी की मंशा की घोषणा है। गांधी एक असाधारण व्यक्ति थे और भारतीय स्वतन्त्रता के बारे में उनका विचार भी अद्वितीय था। इस दृष्टिकोण का मुख्य विचार यह है कि स्वराज या 'स्वशासन' वास्तव में एक नैतिक अवधारणा है, न कि एक सरकारी अवधारणा जिसे 'प्राकृतिक कानून' की आड़ में स्थापित किया गया है (गांधी का मानना है कि सभी धर्मों में धर्म की एक समान अवधारणा है, जो एक हिन्दू अवधारणा है)।

गांधी के अनुसार, प्राकृतिक कानून पारम्परिक हिन्दू सभ्यता में व्याप्त है, जबकि समकालीन सभ्यता अपनी नैतिकता की पूर्ण कमी के लिए जानी जाती है। भारतीयों को स्वशासन प्राप्त करने के लिए अपने पारम्परिक मूल्यों पर वापस जाने की आवश्यकता है, जो गांधी के विचार में आत्म-अनुशासन और आत्म-बलिदान को हर चीज से ऊपर प्राथमिकता देता है। स्वशासन के लिए गांधी का नुस्खा भारत की सीमाओं से बहुत आगे तक फैला हुआ है, क्योंकि समकालीन सभ्यता की बुराइयाँ सभी लोगों को प्रभावित करती हैं, न कि सिर्फ भारतीयों को।

गांधी इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीयों के लिए वास्तविक स्वराज (स्वशासन) केवल आर्थिक या राजनीतिक सुधारों से नहीं, बल्कि समाज के नैतिक और आध्यात्मिक ढाँचे के मूलभूत पुनर्गठन से प्राप्त किया जा सकता है। गांधी का तर्क है कि भारत के लिए स्वतन्त्रता अहिंसा, आत्मनिर्भरता और नैतिक आदर्शों के प्रति समर्पण पर आधारित होनी चाहिए, न कि पश्चिमी भौतिकवादी धारणाओं को अपनाने से। वह सादगी, सामाजिक सद्भाव और आध्यात्मिक विकास जैसे शास्त्रीय भारतीय आदर्शों की ओर लौटने की वकालत करते हैं, जो एक न्यायपूर्ण और आत्मनिर्भर समाज का आधार है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण अहिंसक साधनों और नैतिक आदर्शों के प्रति समर्पण के माध्यम से प्राप्त होता है जो अन्ततः प्रामाणिक और दीर्घकालिक स्वतन्त्रता की ओर ले जाता है।

'हिन्द स्वराज' उन सवालों पर विचार करने के लिए बेहतर है जो यह प्रस्तुत करता है, न कि इसके द्वारा प्रस्तुत समाधान। कोई इसे एक कालातीत कृति मान सकता है जो समय की माँगों को पूरा करने के लिए लगातार नयी व्याख्याओं के लिए खुला है। इसकी ताकत यह है कि इसमें निर्देशात्मक, भविष्यसूचक और निदानात्मक अवधारणाएँ शामिल हैं। यह महज संयोग नहीं है कि इसके मार्गदर्शक सिद्धान्तों में से एक सत्याग्रह ने न केवल उपनिवेशीकरण आन्दोलन को जन्म दिया (जिसने अन्ततः 'कमजोर जातियों' को पश्चिमी शासन की बेड़ियों से मुक्ति दिलाई) बल्कि अंग्रेजी साम्राज्य के पतन और भारत की स्वतन्त्रता में भी मदद की।

गांधीजी का 'हिन्द स्वराज' मुख्य रूप से स्वराज की प्रकृति और इसे

कैसे प्राप्त किया जाये से सम्बन्धित है। उन्होंने अध्याय 4 में मौलिक तर्क दिया है कि अंग्रेजों से भारतीय हाथों में सत्ता का सरल हस्तान्तरण वास्तविक स्वराज का परिणाम नहीं होगा। वह टिप्पणी करते हैं कि यह अनिवार्य रूप से 'अंग्रेजों के बिना अंग्रेजी शासन' के बराबर होगा। उस परिदृश्य में, उनका तर्क है कि भारत को 'इंग्लिशस्तान' के रूप में जाना जाता रहेगा, भले ही इसे 'हिन्दुस्तान' कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप, यह उनके द्वारा शुरू किया गया स्वराज नहीं होगा।

वास्तविक स्वराज का वर्णन करने के प्रयास में, वह जोर देकर कहते हैं कि भारत तभी स्वतंत्र हो सकता है जब उसके सभी लोग स्वतन्त्रता प्राप्त करें। उसी तरह उनका मानना था, "स्वयं पर शासन करना सीखना ही स्वराज है।" वह आगे कहते हैं कि सभी भारतीयों को ऐसे स्वराज से गुजरना होगा। वह भारतीय लोगों के स्वशासन या स्वशासन के अधिकार को भी स्वराज कहते हैं। हालाँकि, उन्होंने स्पष्ट किया कि स्वराज (व्यक्तिगत भारतीयों का 'स्व-शासन' और स्वराज) भारतीय लोगों के लिए 'होमरूल' या 'स्व-शासन' एक पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे शब्दों में, भारतीयों द्वारा 'होमरूल' की प्राप्ति केवल इस हद तक वैध होगी कि वे स्वायत्त प्राणियों के रूप में कार्य करने में सक्षम हों।

गांधीजी एक अध्याय में तर्क देते हैं कि सरकार बदलने के बजाय लाखों लोगों को आजाद करना मुख्य समस्या है। इसे कैसे पूरा किया जा सकता है? निश्चित रूप से बल और आक्रामकता का उपयोग करके नहीं। वे कहते हैं कि इसके दो कारण हैं—पहला, हजारों भारतीयों को हथियारबंद करना अपने-आप में एक कठिन काम होगा, अगर हिंसक विद्रोह का इस्तेमाल किया जाये। दूसरा, इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि अगर भारत शस्त्र संघर्ष में बदल गया तो भारत की 'पवित्र भूमि' अपवित्र हो जायेगी। इस प्रक्रिया में भारत यूरोप से भी बदतर जगह बन जायेगा। उन्होंने भारत के लिए स्वराज को सुरक्षित करने के लिए 'क्रूर बल' के इस्तेमाल का कड़ा विरोध किया। नैतिक और नैतिक कारणों से उन्होंने भारतीय क्रान्तिकारियों द्वारा किये गये मौलिक दावों का विरोध किया। जिसके अनुसार हिंसक रणनीति ही भारत को आजाद करने का एकमात्र तरीका है। इसके अलावा, वे उदारवादियों के इस दावे से असहमत थे कि भारतीयों को सिर्फ भीख माँगने और विनती

करने से आजाद किया जा सकता है। जब तक कठोर दंड न दिया जाये, यह व्यर्थ होगा। भारत को स्वराज के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए, 'प्रेम-बल' या 'आत्मबल' पर आधारित निष्क्रिय प्रतिरोध आवश्यक होगा।

सत्याग्रह : निष्क्रिय प्रतिरोध

गांधीजी प्रतिरोध के समकालीन रूपों की अपनी आलोचना में सत्याग्रह या बस आत्मबल के विचार को अपने दर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सत्याग्रह संस्कृत के शब्दों 'सत्य' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'सत्य' और आग्रह जिसका अर्थ है 'दृढ़ता'। अन्तर्निहित अर्थ शान्तिपूर्ण तरीकों से सत्य की खोज करना और उसे बनाये रखना है। वे स्वराज लाने के तरीकों के रूप में केवल शान्त विनती और हिंसक क्रान्ति दोनों का उपयोग करने का विरोध करते हैं। इसके बजाय, वह 'अहिंसक प्रतिरोध' या दूसरे शब्दों में 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का पक्ष लेते हैं। उनके अनुसार, निष्क्रिय प्रतिरोध 'व्यक्तिगत कठिनाइयों' के माध्यम से अधिकारों को सुरक्षित करने की एक रणनीति है। यहाँ, वह यह तर्क देकर आत्मबल के प्रयोग का समर्थन करने का प्रयास करते हैं कि यह एक 'सापेक्ष सत्य' है। फिर वह यह तर्क देते हैं कि निष्क्रिय प्रतिरोध को 'कमजोर लोगों के हथियार' के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके बजाय, यह एक शक्तिशाली व्यक्ति के हथियार का प्रतिनिधित्व करता है। वह कहते हैं कि सच्चा स्वशासन (होमरूल) प्राप्त करने का एकमात्र तरीका निष्क्रिय प्रतिरोध है। वह यह भी जोड़ने का प्रयास करते हैं कि एक सच्चे निष्क्रिय प्रतिरोधक को 'पूर्ण शुद्धता', 'स्वैच्छिक गरीबी', 'सत्य का पालन' और 'निडरता का विकास' करना चाहिए।

गांधीजी ने मार्च 1910 में पुस्तक के विमोचन के तुरन्त बाद 'हिन्द स्वराज' की एक प्रति भेजकर वायबर्ग से इस पर उनकी राय माँगी। मई 1910 में, वायबर्ग ने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के मुद्दे को सम्बोधित करते हुए अपना सुविचारित दृष्टिकोण भेजा, जिसे गांधीजी ने दुनिया की अधिकांश समस्याओं के समाधान के रूप में वकालत की और जिसे भारतीय स्थिति पर तत्काल रूप से लागू करने की आवश्यकता थी। व्यावहारिक रूप से, वायबर्ग का तर्क है कि निष्क्रिय प्रतिरोध केवल 'लड़ाई और हिंसा' को 'शारीरिक' से मानसिक सतह पर स्थानान्तरित करने के बराबर होगा।

लेकिन यह वायबर्ग का अपना व्यक्तिगत विचार हो सकता है। इसे अन्य तरीकों से भी मूल्यांकित किया जा सकता है। गांधीजी का मूल्यांकन बहुत ही सटीक और सारगर्भित प्रतीत होता है। आत्मिक बल कभी भी खतरनाक नहीं हो सकता, खासकर जब उसका प्रयोग किसी को हानि न पहुँचाकर उसके हृदय को परिवर्तित किया जा सके और उसे अपने लक्ष्य के प्रति शामिल भी कर लिया जा सके।

गांधीजी ने वायबर्ग के पत्र का तुरन्त जवाब दिया, जिसमें उन्होंने जो मुद्दा उठाया था उसका खंडन करने और उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। गांधीजी ने दावा किया कि उनका मुख्य लक्ष्य सार्वजनिक और निजी जीवन दोनों से हिंसा को कम करना और अन्ततः समाप्त करना था। उन्होंने वायबर्ग को यह विश्वास दिलाया कि बल के माध्यम से जीता गया 'स्व-शासन' निष्क्रिय प्रतिरोध से बहुत अलग होगा, क्योंकि यह वांछित परिणाम कैसे प्राप्त किया जाये, इस अधिक मौलिक मुद्दे को सम्बोधित करता है। दूसरे शब्दों में, साधन परिणाम के रूप को निर्धारित करेंगे, न कि इसके विपरीत। इसके अलावा, निष्क्रिय प्रतिरोध आन्तरिक रूप से विकसित होता है, जबकि हिंसा का उद्‌देश्य बाहरी तरीकों से परिवर्तन प्राप्त करना होता है। और केवल आत्म-शुद्धि और आत्म-पीड़ा के चरणों से गुजरने के बाद ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। संक्षेप में, क्योंकि निष्क्रिय प्रतिरोध अपने स्वयं के 'स्व' पर नियंत्रण प्राप्त करने पर निर्भर करता है, इसमें नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का संयोजन होता है।

गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में अंग्रेजी संरक्षण और अधिकार के तहत भारत की स्थिति का चित्रण किया है। वह मौलिक दावा करते हैं कि ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप भारत एक अधिक 'अधार्मिक' राष्ट्र बन रहा है। वे स्पष्ट करते हैं कि वह किसी विशिष्ट धर्म के बजाय सभी धर्मों के मूल में निहित धर्म के बारे में सोच रहे हैं। वह आगे कहते हैं, "हम ईश्वर से दूर जा रहे हैं।" वह आधुनिक सभ्यता की तुलना एक 'चूहे' से करते हैं जो कथित तौर पर हमारे लोगों को शान्त करते हुए उन्हें 'कुतर' रहा है। इसके बाद, वह रेलवे के निर्माण, डॉक्टरों और वकीलों जैसे नये अभिजात वर्ग के उदय जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति पर अपना नैतिक ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनका दावा है कि इन सभी परिवर्तनों ने भारत को केवल गरीब ही बनाया है।

उनका दावा है कि रेलवे की वजह से अंग्रेज भारत पर अधिक नियंत्रण बनाये रखने में सक्षम रहे थे। इसके अलावा, अंग्रेज देश के 'अकाल', बीमारियों और अन्य मुद्दों के लिए भी कुछ हद तक जिम्मेदार हैं। उनका तर्क है कि अंग्रेजों के आने से बहुत पहले से ही भारत एक समृद्ध देश था, इस दावे का खंडन करते हुए कि रेलवे ने भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में सहायता की है। वह 'हिन्द स्वराज' के एक अध्याय में यह तर्क देते हैं कि वकीलों ने भारत को नीचा दिखाने में अधिक योगदान दिया है। उन्होंने भारत के गरीबों का खून चूसा है और मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच संघर्ष को बढ़ाया है और अंग्रेजों को अपनी शक्ति को मजबूत करने में सहायता की है। अगले अध्याय में वे विस्तार से बताते हैं कि कैसे डॉक्टरों ने भारतीय समाज को निराश किया है। उनका मानना है कि लोगों की 'स्व-भोगी' बनने और अपने शरीर की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति काफी हद तक चिकित्सा पेशेवरों की गलती है। उपस वृक्ष की उपमा का उपयोग करते हुए (एक जहरीला पौधा जो आसपास के सभी जीवन को मिटा देता है) वह आधुनिक सभ्यता की निंदा करते हैं।

महात्मा गांधी के आलोचकों ने उनकी 'सन्तत्त्व' और 'सार्वजनिक भलाई की कीमत पर व्यक्तिगत पवित्रता' की उनकी खोज का मजाक उड़ाया। उन्होंने उनकी धार्मिक मान्यताओं का भी मजाक उड़ाया और कहा कि आधुनिक दुनिया में उनका व्यावहारिक अनुप्रयोग बहुत कम है और उन्हें 'हिन्दुओं का हिन्दू' कहा। लेकिन इन सभी आलोचनाओं के इतर, गांधीजी अपने-आप में एक सशक्त संस्था के रूप में थे, जिन्होंने जीवन के मूल्यों को स्थापित करने के लिए अनेक प्रयोग किये और सैकड़ों आलोचनाओं का सामना भी किया।

राजकोट और पोरबंदर के पश्चिमी भारतीय राज्यों में वैष्णव धर्म में प्रशिक्षित एक पवित्र हिन्दू परिवार में पले-बढ़े गांधीजी मजबूत जैन शिक्षाओं के सम्पर्क में आये। थियोसोफिकल सोसाइटी के लेखन ने उन्हें धर्म पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए प्रभावित किया, फिर भी गांधीजी ने 'बाइबिल' का अध्ययन किया। विशेष रूप से माउंट पर उपदेश ने उन्हें न्यू टेस्टामेंट की ओर आकर्षित किया। 1893 में दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के दौरान कुछ उत्साही क्वेकरों (सोसाइटी ऑफ फ्रेंड्स) ने गांधीजी को ईसाई धर्म से जोड़ा।

गांधीजी का प्रारम्भिक जीवन बाइबिल, बुद्ध और गुजराती कवि शामल भट्ट की शिक्षाओं से प्रभावित था। गांधीजी ने कई साल बाद ईसाई मिशनरियों के एक समूह को बताया कि हिन्दू धर्म उनकी आत्मा को सन्तुष्ट करता है।

महात्मा गांधी 1920 के दशक के अन्त और 1930 के दशक की शुरुआत में धार्मिक तीर्थयात्रा पर दक्षिण अफ्रीका गये थे। इस यात्रा ने उनके जीवन को पूरी तरह बदल दिया। उन्होंने हिन्दू ग्रन्थ 'गीता' से दो सिद्धान्त अपनाए—'निस्वार्थ कर्म' और 'अपरिग्रह'। सार्वजनिक जीवन के लिए उनकी उल्लेखनीय सहनशीलता दूसरे सिद्धान्त से प्रेरित थी। गांधीजी की पत्नी कस्तूरबा के लिए, उनके जीवन के तरीकों में ये समायोजन चुनौतीपूर्ण थे। गांधीजी का ब्रह्मचर्य (आत्म-नियंत्रण) का विचार आलोचकों के लिए उपहास और तिरस्कार का स्रोत था। लेकिन गांधीजी निष्पाप होकर निरन्तर अपने प्रयास और प्रयोग में लगे रहे। गांधीजी ने उन्नीसवीं सदी की हिन्दू परम्परा का पालन करते हुए 13 साल की उम्र में शादी कर ली जो उस समय व्यापक था। वह विवाह को एक संस्कार के रूप में देखने लगे, जिसमें शारीरिक सुख का सबसे कम महत्त्वपूर्ण विचार था। इसके अलावा वे महिलाओं को अहिंसा के अवतार के रूप में देखते थे।

महात्मा गांधी पर आरोप लगाए गये कि वे भारतीय जाति-व्यवस्था के समर्थक थे, जबकि 1932 में गांधीजी ने ब्रिटेन द्वारा तथाकथित 'अछूतों' के लिए बनाई गयी सकारात्मक कार्रवाई को रोकने के लिए उपवास किया था। गांधीजी ने सदियों पुरानी जाति-व्यवस्था को नष्ट करने और हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता से जुड़े कलंक से मुक्त करने का हरसम्भव प्रयास किया था। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद राष्ट्रवादी राजनीति के हाशिये पर रहते हुए ही अस्पृश्यता के अन्याय के खिलाफ अभियान शुरू किया था। ब्रिटिश अधिकारियों ने उनके उपवास को जबरदस्ती का एक स्पष्ट रूप माना। जेल से रिहा होने के बाद गांधीजी ने भारतीयों को अस्पृश्यता के खतरों के बारे में शिक्षित करने के लिए एक विस्तृत यात्रा शुरू की।

दक्षिण अफ्रीका में 1893-1914 के अपने प्रवास के दौरान, गांधीजी ने ऐसी अवधारणाएँ और रणनीतियाँ विकसित कीं जिनका भारतीय इतिहास के अलावा अन्तरराष्ट्रीय इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। फिर भी, गांधी के सन्देहियों ने तर्क दिया कि चूँकि वे अफ्रीकी अश्वेतों के बजाय भारतीय

प्रवासियों का समर्थन करते थे, इसलिए वे वास्तव में नस्लवाद के विरुद्ध नहीं थे। लेकिन ऐसा कहना एक तर्कपूर्ण त्रुटि होगी, क्योंकि अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ाई उन्हें नस्लवाद के विरोध के साथ शुरू किया था। यूरोपीय राजनेताओं, अधिकारियों और व्यापारियों के विरोध के साथ-साथ भारतीय मजदूरों और व्यापारियों की शक्तिहीनता ने गांधी को नेटल की राजनीति में खींच लिया। गांधीजी ने औपनिवेशिक शासन द्वारा नस्लीय असमानता के निरन्तर प्रयास को रोकने के लिए भारत में ब्रिटिश अधिकारियों और प्रभावशाली राजनेताओं की सहायता माँगी। गांधीजी के कार्यों का अफ्रीकी राष्ट्रवाद और अश्वेत उग्रवादी इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। जिसका प्रभाव नेल्सन मंडेला जैसे आधुनिक अफ्रीकी नेताओं पर भी देखा गया और अफ्रीकी मूल के अन्य नेता भी गांधीजी का अनुसरण करते रहे हैं, चाहे वह मार्टिन लूथर किंग जूनियर हों या अन्य नेता।

ब्रिटिश सैनिकों ने 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में बिना हथियार के नागरिकों के एक समूह पर गोलियाँ चलाईं, जिसमें महिलाएँ और बच्चे शामिल थे। इस भयानक घटना में लगभग 379 लोग मारे गये और 1200 घायल हुए, जिसे बाद में अमृतसर नरसंहार के रूप में सन्दर्भित किया गया। यह वार्षिक बैसाखी का त्योहार था, जिसमें आसपास के गाँवों से किसान स्वर्ण मन्दिर में दर्शन करने के लिए आते थे और नागरिक जश्न मनाने के लिए जलियाँवाला बाग में एकत्र हुए थे। ब्रिगेडियर-जनरल रेजिनाल्ड एडवर्ड हैरी डायर ने सैनिकों को उन पर गोली चलाने का आदेश दिया। लोगों को यह पता नहीं था कि मार्शल लॉ घोषित किया गया था। कुछ अन्य पंजाबी शहरों में, 15 अप्रैल को मार्शल लॉ लागू किया गया था। सर माइकल ओ'डायर के नेतृत्व में पंजाब प्रशासन को लगा कि ब्रिटिश साम्राज्य को गिराने की साजिश चल रही थी। अमृतसर नरसंहार का भारतीय राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा और महात्मा गांधी का ब्रिटिश राज से मोह भंग और अलगाव हो गया। नरसंहार के बाद गांधी और राष्ट्रवादी भारत के प्रति ब्रिटेन की प्रतिक्रिया ने उन्हें क्रोधित कर दिया। महात्मा गांधी के सन्देहवादी सवाल करते हैं कि क्या 1919 के अमृतसर हत्याकांड के आधार पर भारत में ब्रिटिश रिकॉर्ड का मूल्यांकन करना उचित है, जिसे वे एक अपवाद मानते हैं। इसके अलावा, वे तर्क देते हैं कि भारत में ब्रिटिश शासन उपयोगी और

न्यायपूर्ण था जिसमें अधिकांश भारतीय सरकारी अधिकारी न्याय और जनता के कल्याण के प्रति प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते थे। भारतीय राजकुमारों की कमियों और प्रतिद्वंद्विता का फायदा उठाकर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में अपना प्रभुत्व बढ़ाया। लेकिन जब सामना हुआ तो 1857 के भारतीय विद्रोह ने अंग्रेजों की क्रूर और बर्बर प्रकृति को प्रदर्शित कर दिया। यह एक तथ्य है कि 'विभाजन' और 'प्रतिपक्ष' की अवधारणाओं ने भारत में अंग्रेजी सैन्य रणनीति को आकार दिया। भले ही कुछ भारतीय देशभक्तों ने अंग्रेजों के प्रति स्नेह व्यक्त किया हो लेकिन वे साम्राज्यवाद के नकारात्मक पहलुओं से अवगत थे।

भारतीय राजनेताओं और ब्रिटिश अधिकारियों ने समान रूप से भविष्यवाणी की थी कि भारत स्वशासन प्राप्त करने के लिए संघर्ष करेगा। सर अल्गर्नन रम्बोल्ड, जिन्होंने 1915 और 1922 के बीच भारतीय राजनीति पर एक अध्ययन लिखा था, का तर्क है कि गांधीजी की रणनीतियों के बजाय 20 अगस्त, 1917 की घोषणा ने ब्रिटेन को भारत से हटने की अनुमति दी।

लेकिन महात्मा गांधीजी ने उन सभी को गलत ठहराया। उन्होंने 1915 की शुरुआत में भारत लौटने से पहले बीस साल तक दक्षिण अफ्रीका में रहे, जहाँ वे अगले तीस वर्षों तक भारतीय राजनीति में प्रमुखता से उभरे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ उनके संघर्ष के परिणामस्वरूप 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। गांधीजी ने स्वराज (स्वशासन) की माँग की और अंग्रेजों द्वारा लगाए गये संवैधानिक परिवर्तनों को अस्वीकार कर दिया, जिन्हें धीरे-धीरे लागू किया जा रहा था, क्योंकि उन्हें लगता था कि उद्देश्य अप्राप्य था।

महात्मा गांधी की अहिंसा की वकालत करने की ईमानदारी और दृढ़ता पर कुछ पर्यवेक्षकों ने सवाल उठाए हैं जो बोअर युद्ध, प्रथम विश्वयुद्ध और जुलु विद्रोह (बम्बथा विद्रोह) में उनकी कथित भागीदारी की ओर इशारा करते हैं। अजीब बात यह है कि वही विरोधी जो गांधी पर 'युद्धप्रियता' का आरोप लगाते हैं। उन्होंने यह भी दावा किया कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उनकी अंध शान्तिवाद और फासीवादी भावनाओं का प्रदर्शन 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' द्वारा किया गया था। गांधीजी ने सामाजिक और राजनीतिक अन्याय का मुकाबला करने के लिए सत्याग्रह के रूप में जानी जाने वाली अहिंसक रणनीति बनाई और उन्होंने इसका इस्तेमाल दक्षिण

अफ्रीका में उत्पीड़ित भारतीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए लड़ने के लिए किया। गांधीजी व्यक्तिगत रूप से हिंसा और युद्ध का विरोध करते थे, लेकिन उनके अनुयायी इस दृष्टिकोण को साझा नहीं करते थे। उन्होंने इस विचार को खारिज कर दिया कि एडॉल्फ हिटलर और बेनिटो मुसोलिनी को कभी नहीं बदला जा सकता, भले ही उन्हें पता था कि नाजीवाद और फासीवाद क्रूरता की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं। गांधीजी हमेशा एक सकारात्मक और दृढ़ सोच रखते हुए वे कहते थे कि क्रूर से क्रूर व्यक्ति का भी हृदय बदला जा सकता है। यह हमारे सनातनी संस्कृति और सभ्यता का अभिन्न अंग है।

गांधीजी ने फरवरी 1922 में सविनय अवज्ञा के एक व्यापक अभियान का नेतृत्व किया। गांधीजी के दृष्टिकोण ने अंग्रेजों को भ्रमित कर दिया। अगर भारत का राष्ट्रवाद हिंसक रूप से भड़कता तो इस मुद्दे को सुलझाना आसान होता। 1947 में ब्रिटिश शासन से भारत की आजादी एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवाद के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण 'मील का पत्थर' साबित हुई।

जॉन विंसेंट के अनुसार, महात्मा गांधी भारत के 1947 के विभाजन के दौरान हुए 'नरसंहारों के दौरान निर्दोष लोगों के खून बहाने' के लिए जिम्मेदार थे। इतिहासकार यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि पाकिस्तान के लिए आन्दोलन कब शुरू हुआ, क्या गांधीजी भारत के विभाजन को रोक सकते थे और किन परिस्थितियों के कारण 1947 में हत्याएँ हुईं और अल्पसंख्यक आबादी का बड़े पैमाने पर पलायन हुआ। गांधीजी के भारतीय राजनीति में एक प्रमुख खिलाड़ी बनने से बहुत पहले हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच युद्ध हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप 1947 में उपमहाद्वीप दो देशों में बँटा था। हिन्दू-मुस्लिम एकजुटता 1919-1920 में चरम पर थी, जब गांधीजी का सरकार के साथ असहयोग के अभियान में खिलाफत आन्दोलन शामिल था। गांधीजी ने भारत के विभाजन और 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' का विरोध भी किया था। गांधी के आलोचकों ने एकतरफा दृष्टिकोण रखते हुए उनके योगदान को उजागर किया है जो कि नकारात्मक ज्यादा है। लेकिन गांधीजी में आन्तरिक शक्ति है कि वो आलोचक को भी एक सम्मान की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं और निरन्तर आलोचना के लिए भी रहते हैं।

मुस्लिम लीग ने तर्क दिया कि एक अलग मुस्लिम राज्य की स्थापना भारत में शान्ति लाने का एकमात्र तरीका था। ब्रिटेन ने जून 1947 में माउंटबेटन योजना के साथ इस माँग का जवाब दिया, जिसमें 15 अगस्त, 1947 को भारत को दो नये डोमिनियन में विभाजित करने की बात कही गयी थी। दुर्भाग्य से 'माउंटबेटन योजना' ने हिंसक विस्फोटों को जन्म दिया, जिससे अल्पसंख्यक आबादी (पश्चिमी पाकिस्तान में हिन्दू और पूर्वी पंजाब में मुसलमान) को हाल ही में दोनों राज्यों के बीच खींची गयी सीमा पार करके सुरक्षित जगह पर भागने के लिए मजबूर होना पड़ा। जब महात्मा गांधी को पूर्वी बंगाल में अत्याचारों के बारे में पता चला तो वे दिल्ली में थे। मार्च 1947 में पंजाब में काफी अशान्ति थी। गांधीजी का हिंसा, विशेष रूप से साम्प्रदायिक हिंसा का विरोध, उनका जीवन और भारतीय राष्ट्रवादी कारणों के किसी भी गम्भीर अध्ययन के लिए निर्विवाद है।

महात्मा गांधी के कुछ निजी सहयोगियों और समर्थकों ने राजनीति और धर्म को मिलाने की उनकी प्रवृत्ति पर असन्तोष व्यक्त किया। धर्म के बारे में गांधीजी का दृष्टिकोण संगठित धर्म की पारम्परिक समझ से बहुत अलग थी, जिसमें हठधर्मिता, अनुष्ठान, अन्धविश्वास और असहिष्णुता शामिल थी। इस अन्तर ने भ्रम को बढ़ने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। गांधीजी का विश्वास केवल दिन-प्रतिदिन के व्यवहार के लिए एक नैतिक संहिता के रूप में कार्य करता था। गांधीजी को 1918 में तिलक द्वारा सूचित किया गया था (जो उस समय भारत में सबसे शक्तिशाली राष्ट्रवादी व्यक्ति थे) कि राजनीति साधुओं या धार्मिक लोगों के लिए नहीं है। गांधीजी ने उदारवादी नेता गोखले को अपना 'राजनीतिक गुरु' माना। गोखले को 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी' शुरू करने की प्रेरणा तब मिली जब उन्होंने पहली बार 'अध्यात्मीकृत राजनीति' पर चर्चा की। जिसमें गैर-धार्मिक उद्देश्यों के लिए आत्मत्याग और बलिदान का आह्वान करना शामिल है। गांधीजी को 'अध्यात्मीकृत राजनीति' की अवधारणा भी आकर्षक लगी और उन्होंने संघर्ष समाधान (सत्याग्रह) के अपने दृष्टिकोण में इसका इस्तेमाल किया। इसके अलावा, उन्होंने उपवास को अपने धार्मिक जीवन में एक सामाजिक क्रिया उपकरण के रूप में नियोजित किया (एक अभ्यास जो लम्बे समय से हिन्दू धर्म के लिए महत्त्वपूर्ण था)।

स्वतन्त्रता के बाद का जीवन : मनुष्य बनाम मशीन

महात्मा गांधी को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता के रूप में पहचानने वाले कई आलोचकों का दावा है कि उनके सामाजिक विचार प्रतिगामी थे। उनका मानना है कि 1909 में प्रकाशित उनके पैम्फलेट 'हिन्द स्वराज' ने उनके 'प्रकृति की ओर वापसी' वाले विश्वदृष्टिकोण का उदाहरण दिया, जो एक आदिम और पूर्व-आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की वकालत करता था। पश्चिमी सभ्यता, विशेष रूप से उद्योगवाद की गांधीजी की आलोचना ने भारत के अभिजात वर्ग को चिन्तित कर दिया, जो पश्चिमी राजनीतिक और आर्थिक मॉडल का समर्थन करता था। 'हिन्द स्वराज' में मशीनों के उपयोग पर गांधीजी का दृढ़ रुख था। गांधीजी ने भारत की गरीबी के लिए उपेक्षित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और थोपी गयी बेरोजगारी को जिम्मेदार ठहराया। आर्थिक विकास के गांधीवादी मॉडल को न अपनाने के बावजूद, जवाहरलाल नेहरू के स्वतंत्र भारत में 'आधुनिकीकरण' या बड़े पैमाने पर 'औद्योगीकरण' के विचार पर आधारित ग्रामीण क्षेत्रों, कुटीर उद्योगों और ग्राम स्वशासन के विकास के लिए कार्यक्रम शामिल थे। गांधी मशीनीकरण के खिलाफ जरूर थे, लेकिन उनकी कुटीर उद्योग की रणनीति सटीक थी, जो आज के भारत में अधिक जनसंख्या होने के कारण कारगर साबित हो सकती है। स्थानीय रोजगार से लोगों का पलायन रुकेगा, शहरों में भीड़ कम होगी और हिंसा भी कम होगी। स्थानीय रोजगार से पंचायती राज को बल मिलेगा और हमारा भारत फिर से अन्दर सशक्त, मजबूत और आत्मनिर्भर हो जायेगा। गांधीजी की यह विचारधारा बहुत ही दूरगामी शाबित होते दिखायी देती है, जो उनके समय के आलोचकों को स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दिया।

राज्य सचिवों और वायसराय सहित कई ब्रिटिश अधिकारियों ने महात्मा गांधी को एक रहस्यमयी व्यक्ति के रूप में देखा। 'अर्धनग्न फकीर' शब्द में निहित 'सांस्कृतिक आघात', जिसे विंस्टन चर्चिल ने गांधीजी के लिए प्रसिद्ध रूप से लागू किया था, ने वास्तविक गांधी को समझने में उनकी अक्षमता को दर्शाता है। एक राजनीतिक नेता जो राजनीतिक मुद्दों को हल करने के लिए उपवास करता था, लंगोटी पहनता था, बकरी का दूध पीता था और

'आन्तरिक आवाज' सुनने का दावा करता था, वह पश्चिम के लिए समझ से परे था। ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करने वाले भारतीय देशभक्त सैयद हुसैन का दावा है कि महात्मा गांधीजी की आत्मा न कि उनका शारीरिक रूप या पहनावा, उनके बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण है। गांधीवाद एक विचारधारा नहीं है, बल्कि यह राजनीति और समाज को देखने का एक विशिष्ट तरीका है। जाति-व्यवस्था या भारतीय अर्थ-व्यवस्था में मशीनरी के महत्त्व जैसी चीजों पर उनकी राय के बारे में बात करना बिल्कुल भी मुश्किल नहीं था। गांधी की प्रांसगिकता उत्तर-आधुनिक युग में और भी बढ़ जाती है, जब मनुष्य के पास सब कुछ होने के बावजूद वह अलग और कटा हुआ महसूस कर रहा है। मशीनों ने उसे समाज से काट दिया है; अधिक सम्पत्ति की लालसा ने उसे भ्रष्ट बना दिया है और वह सब कुछ होने के बाद भी कुछ तलाश रहा है, जो उसे पता नहीं है। गांधीजी इसी समस्या का समाधान हैं।

सामाजिक न्याय और समावेशी राष्ट्र निर्माण डॉ. बी.आर. अम्बेडकर

डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को महाराष्ट्र के एक महार परिवार में हुआ था। 1907 में मैट्रिक पास करने के बाद 1912 में बड़ौदा महाराज की आर्थिक सहायता से वे एलिफिंसटन कॉलेज से ग्रेजुएट हुए। कुछ साल बड़ौदा राज्य की सेवा करने के बाद उनको (गायकवाड़ स्कालरशिप) प्रदान किया गया, जिसकी सहायता से 1915 में उन्होंने अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. किया। इसी क्रम में वे प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री सेलिगमैन के प्रभाव में आये। 1917 में सेलिगमैन के मार्गदर्शन में उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की उपाधि की। उनके शोध का विषय था—'नेशनल डेवलेपमेंट फॉर इंडिया : ए हिस्टोरिकल एंड एनालिटिकल स्टडी'। इसी वर्ष उन्होंने लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में दाखिला लिया, लेकिन साधनाभाव में अपनी शिक्षा पूरी नहीं कर पाये। कुछ दिनों तक वे बड़ौदा राज्य के मिलिटरी सेक्रेटरी थे। फिर वे बड़ौदा से बम्बई आ गये। कुछ दिनों तक वे सिडेनहैम कॉलेज, बम्बई में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर भी रहे। 'डिप्रेस्ड क्लासेज कॉन्फ्रेंस' से भी जुड़े और सक्रिय राजनीति में भागीदारी शुरू की। कुछ समय बाद उन्होंने लन्दन जाकर लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स से अपनी अधूरी पढ़ाई पूरी की। इस तरह विपरीत परिस्थिति में पैदा होने के बावजूद अपनी लगन और कर्मठता से उन्होंने एम.ए., पीएच.डी., एम.एससी., बार-एट-लॉ की डिग्रियाँ प्राप्त की। इस तरह से वे अपने युग के सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे राजनेता एवं विचारक थे। उनको आधुनिक पश्चिमी समाजों की संरचना की

समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र एवं कानूनी दृष्टि से व्यवस्थित ज्ञान था। वे विदेशों के परिवेश तथा मान्यताओं को पूर्ण रूप से समझते थे, किन्तु उन्होंने अपने कार्यों एवं रचनाओं के द्वारा जिस विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया, उसकी संरचना में सबसे अधिक भाग भारत की तत्कालीन परिस्थिति में उनके अपने अनुभवों, विवेक एवं दूरदर्शिता की थी। महात्मा गांधी और देंग शियाओ पिंग की तरह डॉ. अम्बेडकर भी एक रणनीतिक विचारक थे और समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने विचारों एवं सरोकारों को पिछले अनुभवों के आधार पर संशोधित एवं परिमार्जित भी किया। लेकिन शुरू से अन्त तक उनका लक्ष्य एवं उनके चिन्तन की मूल धारा में निरन्तरता बनी रही। 1920 के दशक में बम्बई में एक बार बोलते हुए उन्होंने साफ-साफ कहा था—"जहाँ मेरे व्यक्तिगत हित और देशहित में टकराव होगा, वहाँ मैं देश के हित को प्राथमिकता दूँगा, लेकिन जहाँ दलित जातियों के हित और देश के हित में टकराव होगा, वहाँ मैं दलित जातियों को प्राथमिकता दूँगा।" वे अन्तिम समय तक दलित-वर्ग के मसीहा थे और उन्होंने जीवनपर्यंत अछूतोद्धार के लिए कार्य किया। जब गांधीजी ने दलितों को अल्पसंख्यकों की तरह पृथक निर्वाचन मंडल देने के ब्रिटिश नीति के खिलाफ 'आमरण अनशन' किया तो शुरू में डॉ. अम्बेडकर ने कहा—"महात्मा कोई अमर व्यक्ति नहीं है और न ही कांग्रेस ही अमर है। बहुत से महात्मा आये और चले गये। लेकिन अछूत अछूत ही बने रहे।" लेकिन जब आमरण अनशन के कारण सचमुच महात्मा गांधी के जीवन पर खतरा मँडराने लगा तो देश के हित के लिए डॉ. अम्बेडकर ने महात्मा गांधी के साथ पूना-पैक्ट (1932) किया और स्वतन्त्रता मिलने के बाद संविधान सभा के प्रारूप समिति के अध्यक्ष एवं भारत के प्रथम कानून मंत्री के रूप में डॉ. अम्बेडकर का चुनाव महात्मा गांधी की प्रेरणा से ही हुआ था। भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के बारे में सैद्धान्तिक सहमति गांधी-अम्बेडकर के पूना-पैक्ट के दौरान ही हो गयी थी। महात्मा गांधी पाकिस्तान की तरह दलितिस्तान की सम्भावना के कारण पृथक निर्वाचन मंडल के खिलाफ थे, लेकिन अछूतोद्धार की हर उस कोशिश के पक्ष में थे जो अहिंसा एवं सत्य के साथ सर्वोदय के व उनके आदर्श के खिलाफ न हो। दलितों और जनजातियों को मुख्यधारा में लाने के लिए कानूनी

संरक्षण या आरक्षण के बारे में गांधीजी और डॉ. अम्बेडकर के विचारों में 1932 के बाद सैद्धान्तिक विरोध की जगह पूरकता ज्यादा दिखती है।

महात्मा गांधी अछूतोद्धार के लिए सवर्ण हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन के लिए वैष्णव धर्म और भक्ति आन्दोलन की सभ्यतामूलक चेतना में जैन दर्शन के अनेकांतवाद से भी प्रभावित थे। उनका मानना था कि अछूतों की कुछ समस्याएँ तो सवर्ण हिन्दुओं की अशिक्षा के कारण पैदा हुई हैं, लेकिन उनकी कुछ समस्याएँ हर समुदाय के किसानों, श्रमिकों एवं शिल्पकारों की समस्या है, जो उपनिवेशवादी गुलामी के कारण पैदा हुई हैं। इसके निवारण के लिए महात्मा गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा, ग्राम स्वराज, सर्वोदय और आत्म-परिष्कार की वकालत की। महात्मा गांधी समाज की समस्या को समाज के लोगों (जिसे वे लोक कहते थे) के स्तर पर आपसी सद्भाव से हल करने के पक्ष में थे। वे राज्य की बहुत सीमित भूमिका देखते थे। आधुनिक विधि व्यवस्था, संसद, पुलिस स्टेशन आदि पर उनको ज्यादा भरोसा नहीं था। दुर्खीम के 'गिल्ड-समाजवाद' को ही वे सर्वोदय के नाम से भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए प्रस्तुत कर रहे थे। गांधीजी के प्रति अपार आदर के बावजूद कांग्रेस की सरकार गांधीजी की विचारधारा पर नहीं चल पायी। जवाहरलाल नेहरू आधुनिक पश्चिम की औद्योगिक व्यवस्था के तहत मार्क्सवाद से प्रभावित प्रजातांत्रिक समाजवाद के समर्थक थे।

महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के विपरीत डॉ. अम्बेडकर समाजवादी नहीं थे। उनकी शिक्षा अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय और लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में हुई थी। वे मार्क्सवादी समाजवाद के स्थान पर पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में प्रचलित प्रजातांत्रिक पूँजीवादी व्यवस्था के तहत ही बौद्ध धर्म 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' वाले आदर्श समाज के निर्माण के पक्षधर थे, जिसमें हर व्यक्ति एक-दूसरे के समान होगा। फ्रांसीसी क्रान्ति के नारे स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्व की भावना को वे भगवान बुद्ध, महात्मा कबीर और महात्मा ज्योतिबा के चिन्तन का भी केन्द्रीय सरोकार मानते हैं। वे अक्सर कहा करते थे, "यह सुखद संयोग है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के नेताओं को भी भारतीय मनीशियों की तरह सभ्य समाज के लिए स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की विचारधारा उतनी ही आवश्यक लगती थी।"

आधुनिक विधि व्यवस्था, संसद और आधुनिक शिक्षा में उनकी गहरी आस्था थी। वे अधिकांशतः पश्चिमी अभिजन की शैली में कोट-पैंट और टाई लगाते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि दलितों को न सिर्फ ऊँची शिक्षा हासिल करनी चाहिए बल्कि सत्ता संचालन में प्रत्यक्ष भागीदारी करनी चाहिए। राजनीतिक-आर्थिक शक्ति और ज्ञान प्राप्त किये बिना दलितों और अछूतों के लिए उन्नति के सारे मार्ग बन्द हैं। अतः उन्होंने अपने अनुयायियों को आपस में राजनीतिक रूप से संगठित होकर सत्ता में प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए प्रेरित किया। 1920 से 1956 तक पूरे जीवन वे दलितों को राजनीतिक रूप से संगठित होकर सत्ता में प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए विभिन्न मंचों पर सक्रिय रहे। लेकिन अपने जीवन में राजनीतिक स्तर पर अपने दल 'रिपब्लिकन पार्टी' को उतनी सफलता नहीं दिला पाये। लेकिन कालान्तर में उनके विचारों से प्रेरित दलित आन्दोलन से कांसीराम और मायावती के नेतृत्त्व में बहुजन समाज पार्टी का विकास हुआ, जिसने 1980 के दशक से उत्तर प्रदेश की राजनीति में पहले दलित वोटों को गोलबन्द करने में सफलता पायी फिर गठबन्धन की राजनीति के दौर में 1993 से सत्ता में प्रत्यक्ष भागीदारी पाना शुरू किया। उत्तर भारत के अन्य राज्यों में भी बहुजन समाज पार्टी का विस्तार हो रहा है।

शिक्षण केन्द्रों, नौकरियों, विधान सभा और लोक सभा में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए 1952 से आरक्षण लागू करवा लेना डॉ. अम्बेडकर के लिए बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। दलित, आदिवासियों और स्त्रियों के अधिकारों के रक्षा के लिए भी डॉ. अम्बेडकर ने कई कानून बनवाये और उनकी प्रेरणा से अनुसूचित जाति आयोग भी बना।

महात्मा गांधी के विपरीत डॉ. अम्बेडकर गाँवों की अपेक्षा नगरों में एवं ग्रामीण शिल्पों या कृषि की व्यवस्था की तुलना में पश्चिमी समाज की औद्योगिक विकास में भारत और दलितों का भविष्य देखते थे। वे मार्क्सवादी समाजवाद की तुलना में बौद्ध मानववाद के समर्थक थे, जिसके केन्द्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की भावना है।

बैरिस्टर से बापू तक : लन्दन में महात्मा गांधी का वैचारिक रूपान्तरण

गांधीजी का लन्दन में रहना उनके जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था। लन्दन ने उन्हें एक युवा बैरिस्टर से भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख नेता के रूप में बदल दिया। लन्दन में उनका बदलाव अनेकों सांस्कृतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्रों में हुआ। लन्दन में ही उन्होंने अपने विभिन्न विचारों और यंत्रों को आकार दिया। उदाहरण के लिए, अहिंसा, स्वराज और स्वदेशी इत्यादि ने लन्दन में ही अपना रूप सँवारा। यही जाकर भारत तथा विश्व के लिए प्रेरणास्रोत बनें। लन्दन में गांधीजी को एक अनोखा अनुभव हुआ, जहाँ उन्होंने पूरब और पश्चिम दोनों को बखूबी समझने का प्रयास किया और दोनों को आवश्यकता अनुसार ग्रहण भी किया और उनकी आलोचना भी की। इतिहासकार डेनिस डॉल्टन का मानना है कि लन्दन में गांधीजी ने विभिन्न विचारधाराओं के साथ संवाद किया और सामंजस्य बनाया; खासकर हिंसक राष्ट्रवाद के समर्थकों के साथ। इस प्रक्रिया ने उनकी अहिंसा और समावेशी दृष्टिकोण को और बल प्रदान किया (डॉल्टन, 1993, पृ. 204)। आगे उनकी किताब 'हिन्द स्वराज' (1909) में दिये हुए उनके विचार इसी समय विकसित होते हैं, जिसको विचारक एंथनी जे. परेल ने इसे 'गांधीवादी विचारों का बीज' कहा (परेल, 1997, पृ. xxiii)। आज के समय में जब संसार जलवायु में परिवर्तन, सामाजिक असमानता और हिंसा से ग्रसित है, गांधीजी के विचार और ही महत्त्वपूर्ण होते दिखाई देते हैं। गांधीजी की अहिंसा और स्वदेशी की विचारधारा सतत विकास और सामाजिक न्याय के लिए हमें सही मार्ग दिखाते हैं। महात्मा गांधी के अनेकों विचारों ने लन्दन

में ही अपना असली रूप धारण किया, जिसका प्रयोग उन्होंने अफ्रीका और बाद में भारत में किया।

गांधीजी का लन्दन में आगमन और शुरुआती समायोजन

सन् 1888 में गांधीजी लगभग 18 साल की उम्र में गुजरात से लन्दन पहुँचते हैं। लन्दन उनके लिए एक नयी दुनिया थी। लन्दन उन दिनों एक जटिल और अलग प्रकार के दौर से गुजर रहा था। औद्योगिक क्रान्ति चरम पर थी और सामजिक और निजी जीवन में काफी बदलाव हो रहे थे। गांधीजी को शुरुआत में भाषा और संस्कृति सम्बन्धित सामंजस्य बैठाना पड़ा और उस प्रक्रिया में काफी कठिनाई भी हुई। गुजरात में पढ़ने के कारण उनको अंग्रेजी का सीमित ज्ञान था। इसके अलावा, वे शाकाहारी थे, वह भी एक चुनौती था। गांधीजी अपनी आत्मकथा में चर्चा की है कि कई बार उन्हें रात में भूखे सोना पड़ता था क्योंकि उचित शाकाहारी भोजन मिलना कठिन था। (गांधी, 1927, पृ. 45) गांधीजी ने आखिरकार लन्दन के परिवेश में सामंजस्य बनाना शुरू कर दिया; उन्होंने पश्चिमी वेश और व्यवहार अपनाया और उसी परिवेश में जीना सीख लिया। यह परिवर्तन सिर्फ बाहरी नहीं था, बल्कि यह उनके आत्मविश्वास को दर्शाता था। यूरोपीय इतिहासकार जूडिथ ब्राउन का कहना है कि गांधीजी का लन्दन में शुरुआती समय उनके व्यक्तित्व को एक आकार देने में अहम भूमिका निभाया और अपने भारतीय संस्कृति को वैश्विक स्तर पर परखा। (ब्राउन, 1989, पृ. 32)

गांधीजी वहाँ के व्याख्यानों और पुस्तकालयों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया; इससे उनके विचार और बौद्धिक क्षमता मैं और निखार आया। यहीं के अनुभव और ज्ञान से उन्होंने बाद में हम सबको विश्व साहित्य और दर्शनशास्त्र से हमें अवगत कराया। उनके विचारों में इतनी गम्भीरता और गहनता इसलिए देखी जा सकती है। इसके अलावा, उन्होंने लन्दन में जीवन के अनेकों अनुभव किये जैसे नस्लीय भेदभाव और ऊँच-नीच की दीवार इत्यादि। उन्हें कई जगह रेस्तराँ में भी अपमान झेलना पड़ा था। इन सभी घटनाओं ने उनके विचारों और संवेदना को बदलकर रख दिया। इन अनुभवों ने उनके आगे के जीवन में समानता और न्याय के उन्हें बल प्रदान किया। गांधीजी अपनी एटीएम कथा 'हिन्द स्वराज' में इस समय को खुद को

तरासने की एक यात्रा के रूप में देखा और वर्णित किया। इसी दौरान उन्होंने अपनी भारतीय पहचान को पश्चिमी परिवेश में सन्तुलित करके देखने का अथक प्रयास किया। (गांधी, 1927, पृ. 48)

जब गांधीजी लन्दन पहुँचे तो अंग्रेजी साम्राज्य अपने सबसे ऊँचे पायदान पर था। लन्दन अपने-आप में एक विशेष स्थान था जहाँ सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक आयामों का आदान-प्रदान एक जीवन्त रूप में होता था। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने इस शहर को एक बड़े से महानगर के रूप में परिवर्तित कर दिया था; यहाँ तकनीकी उन्नति, शहरी विकास और सामाजिक जटिलता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी। अंग्रेजी इतिहासकार जेम्स डी। हंट का कहना है कि "लन्दन गांधीजी के प्रारम्भिक विकास के लिए एक अहम पड़ाव था, जहाँ उन्होंने अपनी भारतीय पहचान को वैश्विक परिवेश में परखा।" (हंट, 1978, पृ. 15) इन्हीं अनुभवों ने गांधीजी को एक नयी चेतना और दृष्टि प्रदान की, जो उनके सत्याग्रह और स्वराज जैसे सिद्धान्तों में देखी जा सकती है।

गांधीजी को अक्सर अंग्रेजी और अन्य भाषा और सांस्कृत से सम्बन्धित मुश्किलों का सामना हुआ; इसके वजह से उन्हें लन्दन के सामाजिक संवाद में मुश्किलें हुईं। गांधीजी अपनी आत्मकथा में चर्चा करते हैं कि वे आये दिन अपनी बात कहने में असमर्थ महसूस करते थे, जिनकी वजह से उन्हें लन्दन के समाज में अलग-थलग होने का अनुभव होता था। (गांधी, 1927, पृ. 45) गांधीजी की शाकाहारी भोजन शैली उन्हें उनके जैन और वैष्णव धर्म से प्रभावित मूल्यों और अपनी माता को दिये हुए वचन से प्रभावित था। उन दिनों लन्दन में शाकाहारी भोजन की तलाश करना बहुत ही मुश्किल था। (गांधी, 1927, पृ. 46)। इन सबके अलावा गांधीजी अनेकों जगह अपना सामंजस्य बैठाया। उदाहरण के लिए, भिखु पारेख का कहना है कि "लन्दन में गांधीजी का समायोजन उनकी भारतीय पहचान को बनाये रखते हुए वैश्विक परिवेश में एकीकरण का एक प्रारम्भिक प्रयास था।" (पारेख, 1989, पृ. 65)

जब गांधीजी ने खुद भेदभाव को सहन किया तब उन्हें समझ आया कि हासिये पर रहने वाला व्यक्ति कितना भेदभाव सहता है। इस पर वे लिखते हैं कि "मैंने हाशिए पर रहने वालों की नजरों से दुनिया को देखना शुरू किया।" (गांधी, 1927, पृ. 48) इसी सन्दर्भ में, रामचन्द्र गुहा ने कहा है कि "ये अनुभव

गांधी को औपनिवेशिक व्यवस्था द्वारा उत्पीड़ित लोगों की पीड़ा को समझने में मददगार थे, जो बाद में उनकी अस्पृश्यता और औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ लड़ाई में परिलक्षित हुआ।" (गुहा, 2018, पृ. 55)

लन्दन का कानूनी शिक्षा और इनर टेम्पल संस्था

जब गांधीजी 1888 में लन्दन पहुँचे तो उन्होंने इनर टेम्पल में कानून की पढ़ाई के लिए दाखिला लिया। इनर टेम्पल उन दिनों इंग्लैंड और वेल्स के वकीलों के लिए चार प्रमुख संस्थाओं में से एक था। इस कानूनी शिक्षा के माध्यम से, गांधीजी ने न सिर्फ ज्ञान प्राप्त किया बल्कि अंग्रेजी सरकार के बारे में एक गहरी आलोचनात्मक समझ भी विकसित की। गांधीजी ने इनर टेम्पल के पाठ्यक्रमों के साथ-साथ विभिन्न न्यायालयों में अभ्यास भी किया, जहाँ उन्होंने प्रभावी बहस का अभ्यास किया और अन्ततः 1891 में अपनी कानून की उपाधि भी पास कर ली। कानूनी शिक्षा के माध्यम से गांधीजी अंग्रेजी सरकार की कमियों को बारीकी से समझने का प्रयास किया और पाया कि अंग्रेजी व्यवस्था भारतीयों के लिए भेदभाव करती है, जैसे अंग्रेजी भूमि कर (टैक्स) भारत में असन्तोष और शोषण को बढ़ावा देती है। इन सभी अनुभवों के अलावा, कानूनी शिक्षा के दौरान गांधीजी के अनेक सहपाठियों और प्राचार्यों से संवाद ने उनके विचारों को प्रभावित किया। गांधीजी ने लन्दन इंडियन सोसाइटी में भाग लिया और भारत से सम्बन्धित अनेक मुद्दों पर चर्चा किया। गांधीजी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "लन्दन में मेरी कानूनी पढ़ाई ने मुझे न केवल कानून सिखाया, बल्कि यह भी सिखाया कि कानून का उपयोग सामाजिक परिवर्तन के लिए कैसे किया जा सकता है।" (गांधी, 1927, पृ. 60)। लन्दन इंडियन सोसाइटी भारत के हितों के बारे में चर्चा पर केन्द्रित था; इसके माध्यम से गांधीजी अनेक प्रभावशाली नेता जैसे दादाभाई नौरोजी से मिलवाया। नौरोजी साहब ने अपनी प्रभावशाली पुस्तक पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया के माध्यम से अंग्रेजी शोषण और आर्थिक नीति को जनमानस के समक्ष रखने का प्रयास किया। इसके इर्द-गिर्द चर्चा ने गांधीजी को अंग्रेजी अर्थ-व्यवस्था को समझने में अहम योगदान दिया। (गांधी, 1927, पृ. 60)

गांधीजी की कानूनी शिक्षा ने अंग्रेजी शासन की दोहरी रणनीति को

समझने में मुख्य रूप से योगदान दिया। अंग्रेजी व्यवस्था सिर्फ पारदर्शिता का ढोंग करती थी, लेकिन न्यायसंगत नहीं थी। गांधीजी ने भारत में लागू हुए विभिन्न अंग्रेजी कानूनों की आलोचना की। उदाहरण के लिए, चूक (लैप्स) का नियम, भूमि कर और अन्य मुद्दे। इस अध्ययन से गांधीजी को बल मिला और उन्होंने अंग्रेजी सरकार के अनेकों त्रुटिपूर्ण नियमों पर हमला किया, जो कि भारतीयों के लिए भेदभाव करते थे। डेविड हार्डीमैन लिखते हैं कि "यह अवधि गांधी के लिए यह समझने की शुरुआत थी कि सच्चा न्याय केवल कानूनी सुधार से नहीं, बल्कि नैतिक और सामाजिक परिवर्तन से प्राप्त होगा।" (हार्डीमैन, 2003, पृ. 46) कानूनी पढ़ाई का अनुभव गांधीजी के लिए सिर्फ शिक्षा नहीं था, बल्कि एक असामान्य व्यक्तिगत अनुभव भी था। कोर्ट के अनुभवों ने उनके झिझक को कम कर दिया और उनके आत्मविश्वास को बढ़ावा दिया, जो बाद में चलकर उनके जन रैलियों के लिए कारगर सिद्ध हुआ। अंग्रेजी विद्वान जूडिथ ब्राउन कहते हैं कि "गांधी की कानूनी शिक्षा ने उन्हें औपनिवेशिक प्राधिकार को नैतिक बल के साथ चुनौती देने की बौद्धिक कठोरता प्रदान की।" (ब्राउन, 1989, पृ. 35)

इनर टेम्पल के कानून की पढ़ाई का अपना अलग महत्त्व तो है ही साथ ही उनके दक्षिण अफ्रीका के अनुभव भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हैं उनके विचारों और अनुभवों को सँवारने में। अफ्रीका में उनकी सक्रियता ने भारतीय मूल के लोगों तथा अन्य अफ्रीकी नागरिकों के लिए अनेक अधिकार की लड़ाई को लड़ने का प्रयास किया। प्रसिद्ध इतिहासकार रामचन्द्र गुहा लिखते हैं कि "दक्षिण अफ्रीका वह स्थान था जहाँ गांधीजी ने अपने विचारों को व्यवहार में परखा, लन्दन के सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टियों को कार्यान्वित रणनीतियों में बदल दिया।" (गुहा, 2018, पृ. 60) कुछ विद्वान इसके विपरीत भी तर्क देते हैं कि सिर्फ लन्दन के अनुभवों ने उन्हें बदला। चाहे जो भी हो, गांधीजी की कानूनी शिक्षा की आज भी बहुत महत्ता है। क्योंकि उन्होंने इस शिक्षा का सदुपयोग अंग्रेजी सरकार को समझने और उनके अत्याचारों का विरोध करने में किया, जिससे लाखों को आत्मबल और न्याय दोनों प्राप्त हुआ। आज के परिप्रेक्ष्य में, उनकी सत्याग्रह तथा स्वराज की विचारधारा पर्यावरण के नियमों एवं मानवाधिकार जैसे मुद्दों और आन्दोलनों के लिए महत्त्वपूर्ण दिशा प्रदान करती है।

गांधीजी का लन्दन वेजिटेरियन सोसाइटी से जुड़ाव

सन् 1889 में गांधीजी लन्दन वेजिटेरियन सोसाइटी के सदस्य बन गये, जो उनके लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मंच के रूप में साबित हुआ। इस सोसाइटी के माध्यम से सिर्फ शाकाहारी खान-पान को बढ़ावा नहीं दिया गया बल्कि जीवन में नैतिकता, पशु प्रेम और उनके अधिकार और जीवन के अन्य वैकल्पिक व्यवस्थाओं पर भी ध्यान दिया गया। महात्मा गांधी द्वारा इस सोसाइटी के माध्यम से अनेकों महत्त्वपूर्ण और प्रभावी व्यक्तियों से भेंट किया गया; उनमें एडवर्ड कारपेंटर और एनी बेसेंट इत्यादि प्रमुख व्यक्तित्व थे। एडवर्ड कारपेंटर एक समाजवादी विचारक और समर्थक थे जिन्होंने गांधीजी को जीवन में सरलता और समानता के सिद्धान्तों से अवगत करने का प्रयास किया। उनकी प्रसिद्ध किताब 'सिविलाइज़ेशन : इट्स कॉज एंड क्योर' के माध्यम से यूरोपीय औद्योगिक सभ्यता की कटु आलोचना की गयी; इसका बाद में गांधीजी के 'हिन्द स्वराज' पर भी गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। भिखु पारेख का मत है—

> कारपेंटर के विचारों ने गांधी को यह समझने में मदद की कि आधुनिक सभ्यता की भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ मानवता के लिए हानिकारक हो सकती हैं। (पारेख, 1989, पृ. 78)

गांधीजी को एनी बेसेंट ने थियोसोफिकल सोसाइटी से जोड़ने का प्रयास किया। इस सोसाइटी द्वारा धर्म, दर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन किया गया; इसके द्वारा गांधीजी ने अपने हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के प्रति दृष्टिकोण को और भी मजबूत किया। गांधीजी ने थियोसोफी के तर्कों का प्रयोग करके 'श्रीमद्भगवद्गीता' को गहनता से पढ़ने का प्रयास किया; इस अध्ययन की प्रक्रिया ने उनके अहिंसा और सर्वोदय जैसे अवधारणाओं को सशक्त किया। थियोसोफी के दर्शन ने उन्हें यह महसूस कराया कि दुनिया के सभी धर्मों में एकता और परस्पर विकास का अपना महत्त्व होता है। लन्दन वेजिटेरियन सोसाइटी में गांधीजी ने सोसाइटी की पत्रिका 'दी वेजिटेरियन' में अनेक लेख लिखे, जो मुख्य रूप से भोजन, नैतिकता और संस्कृति तथा सभ्यता पर अपने सक्रिय दृष्टि प्रस्तुत करती हैं। यह लेखन अभ्यास उनके सार्वजनिक बोलचाल को सँवारने में बहुत हद तक सहायता प्रदान किया। गांधीजी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

> शाकाहार मेरे लिए केवल आहार नहीं था, बल्कि यह मेरे नैतिक और आध्यात्मिक विश्वासों का प्रतीक था। (गांधी,1927, पृ. 52)

गांधीजी के शाकाहार को अगर आज के परिप्रेक्ष्य में देखें तो पता चलता है कि उनका यह दृष्टिकोण आज के पृष्ठभूमि में कितना महत्त्वपूर्ण है। आज जलवायु परिवर्तन की समस्या से निपटने के लिए मांस की खपत को कम करने की आवाज उठाई जा रही है, जो कि कार्बन उत्सर्जन का मुख्य स्रोत है।

लन्दन में बौद्धिक प्रभाव और अनुभव

गांधीजी ने लन्दन में (1888-1891) कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पढ़े, जिसने उनकी विचारधारा को गहराई से प्रभावित किया। इनमें हेनरी डेविड थोरो की सिविल डिसओबेडिएंस, लियो टॉलस्टॉय की 'दी किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' और 'भगवद्गीता' शामिल थे। इन ग्रन्थों के माध्यम से गांधीजी ने व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन को एक दूसरे से जोड़ने का प्रयास किया जो उनके अहिंसा, स्वराज और कर्मयोग जैसे विचारों को काफी प्रभावित किया। इनर टेम्पल की पढ़ाई ने गांधीजी के दृष्टिकोण को वैश्विक बना दिया।

जब गांधीजी लन्दन पहुँचे तो उनके मन में एक सफल बैरिस्टर बनने की चाह थी। उनके लिए लन्दन का परिवेश एक नया ज्ञान और दर्शन का द्वार खोल दिया। इसी दौरान, गांधीजी ने लन्दन वेजिटेरियन सोसाइटी और थियोसोफिकल सोसाइटी से जुड़कर अनेकों विचारकों और ग्रन्थों से अपने-आप को अवगत कराया। थोरो, टॉलस्टॉय और गीता अदि ग्रन्थों के माध्यम से गांधीजी को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिसने उनके सामाजिक परिवर्तन की राह को बल और दिशा प्रदान किया। थोरो अपने लेखनी सिविल डिसओबेडिएंस में असंगत कानूनों के विरुद्ध व्यक्तिगत विरोध के पक्षधर थे। थोरो कहते हैं कि हर व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के अनुरूप कार्य का चयन करना चाहिए, इसके लिए चाहे हमें कानून ही क्यों न तोड़ना पड़ जाये। गांधीजी ने इस लेखनी से सविनय अवज्ञा की मूलभूत अवधारणा सिखने का प्रयत्न किया; वही बाद में जाकर उनके सत्याग्रह की अवधारणा का आधार बना। डेनिस डॉल्टन लिखते हैं—

> थोरो ने गांधी को यह सिखाया कि नैतिक सिद्धान्तों के लिए व्यक्तिगत बलिदान आवश्यक है। (डॉल्टन, 1993, पृ. 92)

थोरो ने अमेरिकी सरकार के दासता की प्रथा और मैक्सिकन युद्ध के समर्थन की कड़े शब्दों में आलोचना की। गांधीजी ने इसी व्यक्तिगत बलिदान के भाव अपनाने का प्रयास किया; यही बाद में जाकर उनके दांडी नमक यात्रा (1930) में देखा गया। गांधीजी लिखते हैं—

> थोरो का निबन्ध मुझे यह समझने में मददगार था कि सत्य के लिए लड़ना व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर आवश्यक है। (गांधी, 1927, पृ. 67)

इस सन्दर्भ में, रामचन्द्र गुहा ने कहा है—

> थोरो का प्रभाव गांधी के सत्याग्रह को एक व्यावहारिक रणनीति के रूप में आकार देने में महत्त्वपूर्ण था, जो व्यक्तिगत नैतिकता को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ता था। (गुहा, 2018, पृ. 63)

लियो टॉलस्टॉय की किताब 'दी किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' (1894) अहिंसा और आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण रचना है। टॉलस्टॉय का मानना है कि वास्तविक शक्ति प्रेम और अहिंसा में पाया जाता है। गांधीजी इसी किताब से प्रेरित होकर अहिंसा को एक सशक्त नैतिक अस्त्र के रूप में देखने का प्रयास करते हैं। गांधीजी और टॉलस्टॉय के साथ उनके पत्राचार में इन विचारों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गांधीजी लिखते हैं—

> टॉलस्टॉय ने मुझे सिखाया कि प्रेम और अहिंसा ही सच्ची शक्ति है। (परेल, 1997, पृ. 112)

टॉलस्टॉय की पुस्तक द्वारा गांधीजी यह समझने का प्रयास करते हैं कि अहिंसा सिर्फ निष्क्रियता नहीं है; यह एक सटीक और सक्रिय परिवर्तनकारी ऊर्जा है। टॉलस्टॉय ईसाई धर्म के सिद्धान्तों द्वारा प्रायोजित हिंसा और सैन्यवाद की कटु आलोचना करते हैं। इसी प्रभाव ने गांधीजी को एक ऐसी रणनीति दी जो दुश्मन को हराने के बजाय उसे आत्मिक और नैतिक रूप से बदल

देने पर विश्वास रखता है। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में अपने आन्दोलनों में टॉलस्टॉय के मूलभूत विचारों का प्रयोग बहुत ही सावधानीपूर्वक किया; इसके माध्यम से उन्होंने वहाँ नस्लीय भेदभाव के विरुद्ध शान्तिपूर्ण प्रतिरोध प्रदर्शन किया। पारेख का मत है—

> टॉलस्टॉय ने गांधी को अहिंसा को एक वैश्विक नैतिक सिद्धान्त के रूप में देखने की प्रेरणा दी, जो उनकी बाद की सक्रियता का आधार बनी। (पारेख, 1989, पृ. 80)

गांधीजी ने लन्दन में 'थियोसोफिकल सोसाइटी' के प्रभाव में आकर 'श्रीमद्भगवद्गीता' को काफी गहनता से ध्यानपूर्वक पढ़ने का प्रयास किया। गीता के माध्यम से उनके कर्मयोग और आध्यात्मिक अनुशासन की विचारधाराओं को एक मूलभूत संरचना प्राप्त हुआ। गीता को गांधीजी ने आध्यात्मिक शब्दकोश के नाम से पुकारा है, जिससे उनको जीवन को बहुत ऊर्जा और संयम प्राप्त हुआ। (गांधी, 1927, पृ. 65) गीता के सिद्धान्तों पर ही गांधीजी के सत्याग्रह और स्वराज की अवधारणाओं को आकार दिया गया है; गीता से गांधीजी यह सिखते हैं कि सच्चा कर्म हमेशा नि:स्वार्थ ही करना चाहिए। गांधीजी अर्जुन और कृष्ण के संवाद से यह सिखाने का प्रयास करते हैं कि व्यक्तिगत नैतिकता और सामाजिक कर्तव्य परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं तथा जुड़े हुए होते हैं। गांधीजी इसी आधारशिला को बाद में अपने आश्रमों में भी लागू करने का प्रयास किया; वहाँ उन्होंने नि:स्वार्थ सेवा और सामुदायिक जीवन पर अधिक बल दिया; उनके साबरमती आश्रम में गीता के उपदेश दैनिक जीवन में प्रयोग होते थे। अन्तत: गांधीजी ने इन सिद्धान्तों का बाद के आन्दोलनों में प्रयोग किया। उदाहरण के लिए, 'चम्पारण सत्याग्रह' (1917) और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' (1942)। इन सभी आन्दोलनों में, उन्होंने व्यक्तिगत नैतिकता को जन कार्रवाई से जोड़ने का प्रयास किया, जिससे हजारों और लाखों भारतवासियों को प्रेरणा मिली।

गांधीजी का सामाजिक और राजनीतिक जुड़ाव

लन्दन में पहुँचने के बाद गांधीजी ने 'लन्दन इंडियन सोसाइटी' और अन्य विभिन्न मंचों पर हिस्सा लिया; उन्होंने अनेक भारतीय और अंग्रेजी

बुद्धिजीवियों के साथ तर्क और विमर्श भी किया। गांधीजी ने इन विमर्शों में मुख्यतः अंग्रेजी शासन, भारतीय के लिए स्वायत्तता और समाज में सुधार जैसे अनेकों मुद्दों पर बहस किया। गांधीजी की मुलाकात दादाभाई नौरोजी से होती है; नौरोजी साहब पहले भारतीय उपनिवेश से सांसद थे, जो भारतीय अधिकारों के लिए ब्रिटिश संसद में अपनी आवाज उठा रहे थे। नौरोजी साहब द्वारा लिखी किताब 'पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' ने गांधीजी को बहुत प्रभावित किया, जिसके माध्यम से वे अंग्रेजी आर्थिक शोषण के संरचना को गहनता से समझ पाये। अन्य समुदाय जिससे गांधीजी मिले, वह था फेबियन सोसाइटी; इस सोसाइटी की विचारधारा समाजवादी थी जो गांधीजी के सर्वोदय के सिद्धान्त को विकसित करने में अहम भूमिका निभाई। इन सभी वार्तालापों ने गांधीजी के व्यक्तित्व को निखारने का प्रयास किया। उन्होंने भारतवर्ष की आजादी के लिए अहिंसक साधनों का प्रयोग उचित समझा और वही जाकर उनके सत्याग्रह का आधार बना। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में चर्चा करते हुए लिखते हैं—

> लन्दन में मेरी चर्चाएँ मुझे यह समझने में मददगार थीं कि भारत की समस्याओं का समाधान केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि नैतिक और सामाजिक भी होना चाहिए। (गांधी, 1927, पृ. 70)

गांधीजी का लन्दन इंडियन सोसाइटी में सदस्यता

गांधीजी के लिए लन्दन इंडियन सोसाइटी एक महत्त्वपूर्ण पटल या मंच था; यहाँ उन्होंने भारतीय और अंग्रेजी बुद्धिजीवियों और विचारकों के साथ अंग्रेजी औपनिवेश, भारतीय स्वतन्त्रता और सामाजिक सुधार पर गहन चिन्तन-मनन किया। इस सोसाइटी के माध्यम से भारतीय मूल के छात्रों और नौकरी वाले लोगों को एकत्रित किया गया; ये लोग ब्रिटेन में भारतीय मुद्दों की बात करते थे तथा उनका ध्यान आकर्षित करते थे। भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए, गांधीजी इन सोसाइटी की चर्चाओं में सक्रिय रहते थे; यहाँ उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिलता था; यहाँ चर्चाओं का मुद्दा अक्सर होमरूल, भारतीय शिक्षा पद्धति और सामाजिक सुधार जैसे विषय होते थे।

गांधीजी एक कदम आगे जाकर फेबियन सोसाइटी के साथ भी चर्चाएँ की जिसमें सामाजिक सुधार, श्रम कानून और आर्थिक न्याय इत्यादि मुद्दों

पर चर्चाएँ होती थीं। गांधीजी इन चर्चाओं से यह समझ पाये कि सामाजिक परिवर्तन सिर्फ राजनीतिक स्वतन्त्रता तक सीमित नहीं हो सकता, बल्कि इसमें आर्थिक और सामाजिक समानता का भी होना आवश्यक है। इन्ही से प्रेरणा लेते हुए, गांधीजी ने अपने स्वदेशी आन्दोलन के संघर्ष में स्थानीय अर्थ-व्यवस्थाओं और ग्रामीण सशक्तिकरण की ओर ध्यान केन्द्रित किया; इस पर फेबियन समाजवादी विचारों का काफी प्रभाव था। डेविड हार्डीमैन लिखते हैं—

> फेबियन सोसाइटी के साथ गांधी का जुड़ाव उनकी सर्वोदय की अवधारणा को आकार देने में महत्त्वपूर्ण था, जो सामुदायिक कल्याण पर केन्द्रित थी। (हार्डीमैन, 2003, पृ. 52)

गांधीजी का व्यक्तिगत विकास और पहचान

गांधीजी ने लन्दन में (1888-1891) नस्लीय भेदभाव और सांस्कृतिक अलगाव जैसे कठिनताओं का सामना करना पड़ा; इसी की वजह से उनकी सामाजिक न्याय की ओर संवेदनशीलता और बढ़ती गयी। एक ऐसी ही घटना में उन्हें एक सामाजिक समारोह में उनके भारतीय होने के वजह से अपमानित किया गया; इन सभी घटनाओं ने उनकी संवेदनशीलता को और बढ़ाने में की। इन सभी अनुभवों की वजह से वे अपनी भारतीय पहचान को और मजबूत करने में सक्षम हुए। गांधीजी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

> लन्दन में मैंने अपनी भारतीयता को पुनर्जनन किया, और यह मेरे लिए एक नयी शुरुआत थी। (गांधी, 1927, पृ. 58)

इसी दौरान उन्होंने अनेकों धर्मों और शास्त्रों का अध्ययन किया; इन सभी घटनाओं ने उनके समावेशी सिद्धान्त को आकार दिया। थियोसोफी दर्शन और जैन धर्म ने उनकी अहिंसा और सर्वोदय की विचारधाराओं को और भी मजबूत बना दिया। गांधीजी ने जैन धर्म के सिद्धान्तों, जैसे अहिंसा और अपरिग्रह को भी अपने जीवन में अपनाया; ये सभी बाद में जाकर उनके आन्दोलनों का मुख्य आधार बन गये। जब गांधीजी को सांस्कृतिक अलगाव और भेदभाव का सामना करना पड़ा तब इसके माध्यम से वे अपने-आप

अन्दर सामंजस्य और लचीलापन अनुभव कर पाये; इन सभी सामंजस्यों के माध्यम से उन्होंने अपने आत्मविश्वास में वृद्धि की। गांधीजी कहते हैं—

> लन्दन ने मुझे धैर्य और विचारों की शक्ति सिखाई। (गांधी, 1927, पृ. 62)

उनकी अपनी पहचान बनाये रखने वाले विश्वास ने उनके आत्म-अनुशासन की धारणा को और मजबूत कर दिया; यही बाद में जाकर उनके स्वराज के प्रयोग का आधार बनता है।

गांधीजी की बैरिस्टर के रूप में योग्यता और प्रस्थान

सन 1891 में गांधीजी लन्दन से बैरिस्टर की उपाधि के बाद बार में वकालत के लिए बुलाये गये। यहीं से उनकी कानून की औपचारिक डिग्री पूरी हो जाती है। इसके बाद गांधीजी भारत लौट आते हैं। लन्दन ने गांधीजी को बहुत कुछ दिया। गांधीजी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

> लन्दन ने मुझे वह आधार दिया, जिस पर मैंने अपने जीवन का निर्माण किया। (गांधी, 1927, पृ. 75)

गांधीजी को लन्दन में एक व्यापक दृष्टिकोण मिला जो उनकी भारतीय परम्पराओं और पहचान को और भी मजबूत किया। इतिहासकार जेम्स डी। हंट का कहना है—

> लन्दन में गांधी की शिक्षा और सामाजिक जुड़ाव ने उन्हें एक वैश्विक नागरिक बनाया, जो बाद में उनके सत्याग्रह और स्वराज के सिद्धान्तों में परिलक्षित हुआ। (हंट, 1978, पृ. 120)

गांधीजी पुनः लिखते हैं—

> लन्दन में मैंने अपनी भारतीयता को पुनर्जनन किया, और यह मेरे लिए एक नयी शुरुआत थी। (गांधी, 1927, पृ. 58)

गांधीजी जुलाई 1891 में भारत लौटे और अपनी कानूनी समझ का प्रयोग करने के लिए काफी उत्सुक थे। वकालत उनके लिए आसान नहीं था क्योंकि उन दिनों भी प्रतिस्पर्धा थी और कानूनी ग्राहक आसानी से नहीं मिलते थे। इस

चुनौती को देखते हुए, उन्होंने अफ्रीका में एक केस के सिलसिले में जाने के बारे में सोचा जो दादा अब्दुल्लाह से सम्बन्धित था। यहीं उन्होंने अपनी सत्याग्रह के प्रयोग को तरासने का कार्य किया। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में नस्लीय भेदभाव के विरुद्ध अपने लन्दन के प्रयोगों और अनुभवों का सदुपयोग किया। उदाहरण के लिए, एशियाटिक पंजीकरण अधिनियम के खिलाफ विरोध आदि। इतिहासकार रामचन्द्र गुहा लिखते हैं—

> दक्षिण अफ्रीका वह स्थान था जहाँ गांधीजी ने अपने विचारों को व्यवहार में परखा, लन्दन के सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टियों को कार्यान्वित रणनीतियों में बदल दिया। (गुहा, 2018, पृ. 60)

कहीं-न-कहीं लन्दन की कानूनी शिक्षा का उन पर गहरा असर था जो दक्षिण अफ्रीका में दिख रहा था।

निष्कर्ष

हम कह सकते हैं कि गांधीजी की कानूनी शिक्षा के लिए लन्दन प्रवास उनके विचारों को बदलकर रख देने वाला था, जिससे वे अलग व्यक्तित्व के रूप में उभरकर निखरते हैं। अनेकों संस्थाओं का सदस्य होना; अनेकों बार भेदभाव का सामना करना; खान-पान की चुनौतियों का सामना करना इत्यादि ने गांधीजी के विचारों और व्यक्तित्व को बदलकर रख दिया। उदाहरण के लिए, लन्दन वेजिटेरियन सोसाइटी, थियोसोफिकल सोसाइटी और बौद्धिक ग्रन्थों ने उनके प्रभावी विचारों जैसे अहिंसा, स्वराज और सर्वोदय को नया रूप प्रदान किया। साथ ही उनके लन्दन के प्रवास ने उन्हें शिक्षा के साथ-साथ उन्हें एक विश्व स्तरीय दृष्टिकोण भी प्रदान किया; ये सभी बदलाव हमें उनके बाद के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम और शान्ति आन्दोलनों में देखने को मिलते हैं। वर्तमान में जब पूरा संसार पर्यावरण क्षरण, असमानता और हिंसा से घिरा हुआ है, इस स्थिति में गांधीजी के विचार और भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उनकी अहिंसा और स्वदेशी की विचारधारा सतत विकास और समाज में न्याय के लिए एक अनूठा मार्गदर्शन देने का कार्य करती है।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और महात्मा गांधी के दृष्टिकोण

सन् 1600 में स्थापित ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (ई.आई.सी.) ने भारत के औपनिवेशिक इतिहास में एक केन्द्रीय भूमिका निभाई थी। यह एक व्यापारिक उद्यम के रूप में शुरू हुई और धीरे-धीरे एक साम्राज्यवादी शक्ति में बदल गयी, जिसने भारत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं को गहराई से प्रभावित किया। कम्पनी की शोषणकारी नीतियों के कारण भारत को अपनी सम्पत्ति, स्वायत्तता और सांस्कृतिक पहचान से लम्बे समय तक वंचित होना पड़ा और इसका प्रभाव अंग्रेजी राज के दौरान बना रहा।

गांधीजी (जो भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के नैतिक और रणनीतिक नेता थे) ने कम्पनी को औपनिवेशिक शोषण का प्रतीक माना था। उनकी आलोचना उनके स्वराज (स्व-शासन), स्वदेशी (आत्मनिर्भरता) और अहिंसा (अहिंसक प्रतिरोध) के दर्शन पर आधारित थी। गांधीजी की आलोचना न केवल कम्पनी की ऐतिहासिक भूमिका को उजागर करती है, बल्कि आधुनिक वैश्विक आर्थिक और सांस्कृतिक असमानताओं को समझने के लिए भी आवश्यक है।

कम्पनी भारत के औपनिवेशिक अनुभव की आधारशिला थी, जिसने 17वीं से लेकर 19वीं शताब्दी तक भारत की अर्थ-व्यवस्था, समाज और शासन को बहुत ही प्रभावित किया। 1600 में एक व्यापारिक संस्था के रूप में अपनी शुरुआत करते हुए, यह कम्पनी धीरे-धीरे एक साम्राज्यवादी शक्ति में परिवर्तित हो गयी, जिसने भारत के विशाल क्षेत्रों पर सैन्य, प्रशासनिक और आर्थिक नियंत्रण स्थापित किया। इसकी नीतियों ने भारत को धन और

स्वायत्तता से वंचित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन, आर्थिक निर्भरता और सांस्कृतिक अलगाव शुरू हुआ। 1857 के भारतीय विद्रोह ने कम्पनी के शासन को समाप्त कर दिया, लेकिन इसकी विरासत अंग्रेजी राज में बनी रही और जिसका सामना 20वीं शताब्दी में महात्मा गांधीजी ने दृढ़ता से किया।

गांधीजी अपने लेखन, विशेष रूप से 'हिन्द स्वराज' (1909) और उनके अभियानों, जैसे 'खादी आन्दोलन' और 'नमक सत्याग्रह', में कम्पनी की आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक नीतियों की आलोचना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। गांधीजी का दृष्टिकोण केवल एक ऐतिहासिक आलोचना नहीं था, बल्कि एक वैचारिक और व्यावहारिक प्रतिरोध भी था और उसका उद्देश्य भारत की सांस्कृतिक और आर्थिक सम्प्रभुता को पुनः स्थापित करना था।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का उद्भव और विस्तार

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना 31 दिसम्बर, 1600 को महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शाही फरमान द्वारा की गयी थी, जिसका मुख्य उद्देश्य पूर्वी व्यापार पर नियंत्रण स्थापित करना और डच तथा पुर्तगाली व्यापारियों के साथ बढ़ती प्रतिस्पर्धा का सामना करना था। एक संयुक्त-स्टॉक कम्पनी के रूप में गठित, कम्पनी ने अंग्रेजी व्यापारियों के वित्तीय संसाधनों को एक साथ लाया और उन्हें भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न होने की क्षमता मिली। वर्ष 1612 में, कम्पनी ने गुजरात के सूरत में अपनी पहली व्यापारिक चौकी (कारखाना) की स्थापना की और इस महत्त्वपूर्ण कदम के लिए मुगल सम्राट जहाँगीर से व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त किये। इस प्रारम्भिक चरण में, ई.आई.सी. की गतिविधियाँ मुख्य रूप से भारतीय वस्त्रों (विशेष रूप से सूती और रेशमी कपड़ों) मसालों जैसे काली मिर्च और इलायची और नील के यूरोप में निर्यात पर केन्द्रित थीं।

17वीं शताब्दी के अन्त तक, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटेन के वैश्विक व्यापार का एक अभिन्न और महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी थी। अनेक ऐतिहासिक अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि 1680 के दशक तक, कम्पनी का व्यापार ब्रिटेन के कुल व्यापार का लगभग 20 प्रतिशत हिस्सा था,

जिसमें भारत से आयातित वस्त्रों की यूरोपीय बाजारों में अत्यधिक माँग थी। (Bowen, 2006) कम्पनी ने इस अवधि में मुगल साम्राज्य की स्थानीय अर्थ-व्यवस्था के साथ एक सह-अस्तित्व बनाये रखा, लेकिन उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ केवल व्यापारिक लाभ तक सीमित नहीं थीं। 17वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में, कम्पनी ने अपनी सैन्य शक्ति को संगठित करना शुरू किया जिसके तहत भारतीय सिपाहियों की भर्ती की गयी। ये सिपाही बाद में कम्पनी के क्षेत्रीय विस्तार की रीढ़ बने और उसके साम्राज्यवादी सपनों को साकार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाई।

18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के कमजोर पड़ने और भारत में विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों, जैसे मराठा, मैसूर और सिख राज्यों के उदय ने एक राजनीतिक अस्थिरता का माहौल पैदा कर दिया जिसका ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने चतुराई से लाभ उठाया। वर्ष 1757 में प्लासी की लड़ाई एक निर्णायक मोड़ साबित हुई, जहाँ रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में कम्पनी की सेना ने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित कर दिया। इस महत्त्वपूर्ण जीत ने कम्पनी को बंगाल के विशाल राजस्व पर नियंत्रण दे दिया, जो उस समय भारत के सबसे धनी प्रान्तों में से एक था। इसके बाद, 1765 में, मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय द्वारा कम्पनी को 'दीवानी अधिकार' प्रदान किये गये, जिसने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रान्तों में कर वसूली करने की शक्ति दे दी। इस अधिकार ने कम्पनी की पहचान को एक व्यापारिक संस्था से बदलकर एक शक्तिशाली क्षेत्रीय शासक के रूप में स्थापित कर दिया।

सन् 1800 तक, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी 20 मिलियन से अधिक लोगों पर शासन कर रही थी, जो उस समय ब्रिटेन की अपनी आबादी से दोगुना था और प्रति वर्ष 15 मिलियन से अधिक का वार्षिक राजस्व पैदा कर रही थी (Robins, 2006)। कम्पनी ने अपने नियंत्रण का विस्तार दक्षिण भारत (मद्रास और मैसूर), पश्चिमी भारत (बॉम्बे और गुजरात) और मध्य भारत (अवध और मराठा क्षेत्र) तक करना शुरू किया। इस विस्तार में सैन्य जीत, विभिन्न सन्धियाँ और स्थानीय शासकों के साथ रणनीतिक गठजोड़ शामिल थे, जिन्हें अक्सर बल प्रयोग, धोखे या दबाव से प्राप्त किया गया था।

कम्पनी द्वारा आर्थिक शोषण और सामाजिक विघटन

कम्पनी की आर्थिक नीतियाँ भारत को एक आश्रित उपनिवेश में बदलने के उद्देश्य से बनाई गयी थीं। कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार, जो 1813 तक जारी रहा, ने भारत से धन की निकासी को सुगम बनाया। 1750 में, भारत के साथ ई.आई.सी. का व्यापार अधिशेष 2 मिलियन पाउंड स्टर्लिंग था, जो 1800 तक बढ़कर 10 मिलियन पाउंड स्टर्लिंग हो गया, जिसका मुख्य कारण वस्त्रों का निर्यात था। (Bowen, 2006) इस धन ने ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति को वित्तपोषित किया, जबकि भारत को गरीबी की ओर धकेल दिया। वैश्विक अर्थ-व्यवस्था में भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का हिस्सा 1700 में 24.4 प्रतिशत से घटकर 1850 तक 8 प्रतिशत हो गया। (Maddison, 2001)

बंगाल में लागू किया गया स्थायी बन्दोबस्त (जिसने जमींदारों को कर वसूलने का अधिकार दिया) किसानों पर अत्यधिक बोझ बन गया। 1770 के अकाल के दौरान भी कम्पनी ने कर वसूली में कोई कमी नहीं की, जिससे मृत्यु दर में और वृद्धि हुई। बाद के अकाल, जैसे उड़ीसा (1866) और दक्कन (1876-78) में आये अकाल, कम्पनी की नीतियों की निरन्तरता को दर्शाते हैं, जिन्हें बाद में ब्रिटिश राज ने भी अपनाया।

कम्पनी की सबसे विनाशकारी विरासतों में से एक वि-औद्योगीकरण था। भारतीय वस्त्र (जिनकी यूरोप, मध्य पूर्व और अफ्रीका में भारी माँग थी) को ब्रिटिश मशीन-निर्मित कपड़ों से कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। 1813 के चार्टर अधिनियम ने भारत के साथ मुक्त व्यापार की अनुमति दी, जिससे ब्रिटिश आयात को बढ़ावा मिला। 1830 तक, भारत ब्रिटिश कपड़ों का शुद्ध आयातक बन गया, जिसने बुनकर समुदायों को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। (Roy, 2012)

कम्पनी की नीतियों ने भारत के सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया। 1835 के मैकाले मिनट के माध्यम से शुरू की गयी पश्चिमी शिक्षा ने एक ऐसे अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय अभिजात वर्ग को जन्म दिया, जिसने ब्रिटिश प्रशासन की सेवा की। हालाँकि, यह शिक्षा केवल 1 प्रतिशत आबादी तक ही सीमित रही, जिससे सामाजिक असमानता में वृद्धि हुई।

(Metcalf & Metcalf, 2006) सती और बाल विवाह जैसी सांस्कृतिक प्रथाओं में कम्पनी के हस्तक्षेप को अक्सर सुधार के रूप में प्रस्तुत किया गया, लेकिन यह भारतीय परम्पराओं को 'पिछड़ा' चित्रित करने का एक हिस्सा था, जिसने औपनिवेशिक श्रेष्ठता के कथानक (नैरेटिव) को मजबूत किया (Said, 1978)। कम्पनी की 'बाँटो और राज करो' की रणनीति ने हिन्दू-मुस्लिम तनावों को बढ़ावा दिया। कम्पनी ने विभिन्न धार्मिक समुदायों को अलग-अलग रियायतें दीं, जिसने साम्प्रदायिक विभाजन की नींव रखी। 1857 का विद्रोह, जो धार्मिक अपमान (चिकनाई वाले कारतूस) और आर्थिक शिकायतों से शुरू हुआ था, कम्पनी की सामाजिक असंवेदनशीलता का सीधा परिणाम था।

कम्पनी ने भारत की स्वदेशी शासन संरचनाओं को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। इसने मुगल सम्राट को एक कठपुतली शासक में बदल दिया और क्षेत्रीय शक्तियों (मराठा, मैसूर, सिख) को सैन्य बल या सन्धियों के माध्यम से अपने अधीन कर लिया। कम्पनी का प्रशासन अत्यधिक केन्द्रीकृत और नौकरशाही वाला था, जो स्थानीय स्वायत्तता के बिल्कुल विपरीत था। 1858 तक, कम्पनी ने भारत के दो-तिहाई क्षेत्र पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शासन स्थापित कर लिया था, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी।

राजनीतिक रूप से कम्पनी ने स्वदेशी शासन संरचनाओं को कमजोर कर दिया। इसने स्थानीय शासकों को कम्पनी के अधिकारियों से बदल दिया ताकि वे ब्रिटिश हितों की सेवा करते रहें। कम्पनी की सेना (जिसमें 1820 तक 250,000 सिपाही थे, (Metcalf & Metcalf, 2006) ने सैन्य बल और जबरदस्ती के माध्यम से अपना नियंत्रण लागू किया। 'बाँटो और राज करो' की रणनीति ने धार्मिक और जातिगत मतभेदों का फायदा उठाया और साम्प्रदायिक तनावों की नींव रखनी शुरू कर दी। सामाजिक रूप से कम्पनी की नीतियों ने सांस्कृतिक अलगाव को बढ़ावा दिया। पश्चिमी शिक्षा और कानूनी प्रणालियों की शुरुआत ने एक अंग्रेजी-शिक्षित अभिजात वर्ग को जन्म दिया जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट गया था। यह शिक्षा आम जनता के लिए नहीं थी और इसने सामाजिक असमानता बढ़ा दी। कम्पनी की सांस्कृतिक असंवेदनशीलता (जैसे सिपाहियों के लिए चिकनाई वाले कारतूसों का उपयोग) ने 1857 के भारतीय विद्रोह को भड़काया, जो कम्पनी

के शासन के खिलाफ व्यापक असन्तोष का प्रतीक था। विद्रोह के दमन ने कम्पनी के राज का अन्त किया लेकिन इसकी नीतियों ने ब्रिटिश राज के ढाँचे को अहम आकार दिया।

अगर हम ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (ई.आई.सी.) की भूमिका और महात्मा गांधी द्वारा उसकी आलोचना का विश्लेषण करने के लिए कुछ प्रमुख सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों का उपयोग करें तो उनमें मुख्य रूप से शामिल होंगे—

उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त : यह सिद्धान्त, एडवर्ड सईद के 'ओरिएंटलिज्म' (1978) और होमी के। भाभा की 'हाइब्रिडिटी' की अवधारणा से प्रेरित है। यह इस बात की पड़ताल करता है कि कम्पनी ने भारत को एक 'पिछड़ी' सभ्यता के रूप में कैसे चित्रित किया। इस चित्रण का उद्देश्य औपनिवेशिक शोषण को वैध ठहराना था यह तर्क देते हुए कि भारत को ब्रिटिश 'सभ्यता' की आवश्यकता है। गांधीजी का प्रतिरोध इन औपनिवेशिक कथानकों (नैरेटिव) को चुनौती देता था; भारतीय पहचान और सांस्कृतिक सम्प्रभुता को पुनः स्थापित करने का प्रयास करता था।

निर्भरता सिद्धान्त : आंद्रे गुंदर फ्रैंक जैसे विद्वानों द्वारा विकसित यह सिद्धान्त तर्क देता है कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्थाओं को इस तरह से संरचित किया गया था कि वे महानगरीय शक्तियों (जैसे ब्रिटेन) के हितों की सेवा कर सकें, जिसके फलस्वरूप उपनिवेशों में 'अविकास' हुआ। कम्पनी द्वारा भारत से धन की निकासी और भारतीय उद्योगों का डी-औद्योगिकीकरण इस निर्भरता गतिशीलता के प्रमुख उदाहरण हैं। यह सिद्धान्त दर्शाता है कि कैसे उपनिवेशों को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और तैयार माल के बाजार के रूप में इस्तेमाल किया गया और यही कारण रहे जिससे उनकी अपनी आर्थिक वृद्धि बाधित हुई।

मार्क्सवादी विश्लेषण : कार्ल मार्क्स की पूँजीवादी शोषण की अवधारणा से प्रेरित यह धारणा कम्पनी को पूँजीवादी साम्राज्यवाद के एक प्रारम्भिक और महत्त्वपूर्ण रूप में देखता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, कम्पनी ने भारत के विशाल संसाधनों का शोषण ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति को बढ़ावा देने और अपने स्वयं के पूँजीवादी संचय को अधिकतम करने के लिए किया। यह विश्लेषण वर्ग संघर्ष और आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण पर जोर देता है, जो औपनिवेशिक शासन के तहत भारत में हुआ।

गांधीवादी नैतिक दर्शन : महात्मा गांधी का स्वराज (स्व-शासन), स्वदेशी (आत्मनिर्भरता) और अहिंसा (अहिंसक प्रतिरोध) का दर्शन एक स्वतंत्र और शक्तिशाली सैद्धान्तिक आधार प्रदान करता है। यह दृष्टि औपनिवेशिक शोषण को न केवल आर्थिक या राजनीतिक समस्या के रूप में देखती है, बल्कि एक नैतिक और आध्यात्मिक संकट के रूप में भी देखती है। गांधीजी का दर्शन सामुदायिक आत्मनिर्भरता, नैतिक शक्ति और आत्म-सम्मान पर विशेष जोर देता है, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्ति के खिलाफ एक वैकल्पिक और सशक्त प्रतिरोध का मार्ग प्रशस्त करता है।

महात्मा गांधी द्वारा कम्पनी की आलोचना

गांधीजी ने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (ई.आई.सी.) को भारत की आर्थिक बर्बादी का मुख्य कारण माना। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में, उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—

> अंग्रेज व्यापारी के रूप में आये और शासक बनकर रहे, हमारे धन को उनके राष्ट्र को समृद्ध करने के लिए निकाल लिया। (गांधी, 1909, पृ. 51)

उन्होंने दादाभाई नौरोजी के 'धन की निकासी' के सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया, जिसमें यह तर्क दिया गया था कि कम्पनी की व्यापारिक और कर नीतियाँ ही भारत की गरीबी का मूल कारण थीं। गांधीजी का मानना था कि कम्पनी ने भारत को एक समृद्ध और आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था से केवल कच्चे माल का आपूर्तिकर्ता बना दिया जिससे ग्रामीण कारीगर और किसान पूरी तरह से कम्पनी पर निर्भर हो गये।

इस गम्भीर आर्थिक शोषण के प्रत्यक्ष जवाब में, गांधीजी ने स्वदेशी आन्दोलन की शुरुआत की थी। खादी को बढ़ावा देना (जो स्वदेशी का एक शक्तिशाली प्रतीक बन गया) भारतीय बुनकरों को सशक्त बनाने और अंग्रेजी आयातों पर भारत की निर्भरता को कम करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था। 1921 के असहयोग आन्दोलन के दौरान, खादी की बिक्री में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, जो 5 लाख तक पहुँच गयी और 1930 तक, यह वार्षिक 20 करोड़ तक पहुँच गयी, जिससे 100,000 से अधिक कताई करने वालों को

रोजगार मिला। (ब्राउन, 1989) गांधीजी ने चरखे को 'स्वतन्त्रता का प्रतीक' माना, जो कम्पनी द्वारा शुरू किये गये औद्योगीकरण के विपरीत, भारत की आत्मनिर्भरता को पुन:स्थापित करने का एक साधन था। (यंग इंडिया, 15.5.1921)

गांधीजी ने कम्पनी को भारत में सांस्कृतिक अलगाव का एक प्रमुख कारक माना। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की कड़ी आलोचना की, जिसका प्रतिनिधित्व कम्पनी करती थी। क्योंकि यह आध्यात्मिकता पर भौतिकवाद को प्राथमिकता देती थी। उन्होंने लिखा—

> अंग्रेजों ने हमें अपनी सभ्यता लौटाई, जिसने हमें अपनी सभ्यता को भूलने पर मजबूर किया। (गांधी, 1909, पृ. 92)

कम्पनी द्वारा पश्चिमी शिक्षा और कानूनी प्रणालियों की शुरुआत ने एक ऐसे अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय अभिजात वर्ग को जन्म दिया जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों से पूरी तरह कट गया था। गांधीजी ने इस सांस्कृतिक शक्ति को औपनिवेशिक शक्ति का एक अभिन्न अंग माना।

गांधीजी का अहिंसा का दर्शन कम्पनी की हिंसक नीतियों की आलोचना तक विस्तृत था। कम्पनी की सैन्य विजय और 1857 के विद्रोह का क्रूर दमन औपनिवेशिक क्रूरता का स्पष्ट प्रतीक था। गांधीजी का अहिंसक प्रतिरोध, जो नैतिक शक्ति पर आधारित था, भारत की आध्यात्मिक शक्ति को ब्रिटिश सैन्य बल से ऊपर रखता था। 1920 के असहयोग आन्दोलन में, गांधीजी ने ब्रिटिश संस्थानों का बहिष्कार करने का आह्वान किया, जिसने कम्पनी की सांस्कृतिक और प्रशासनिक विरासत को सीधे चुनौती दी।

गांधीजी का स्वराज का विचार केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक स्व-शासन भी शामिल था। उन्होंने कम्पनी के शासन को भारत की सम्प्रभुता के साथ विश्वासघात माना था। 1920 में एक भाषण में, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—

> ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन हमारी गुलामी की शुरुआत थी, जिसने हमें स्वयं शासन करने का अधिकार छीना। (कलेक्टेड वर्कस, भाग-18, पृ. 232)

गांधीजी की विकेन्द्रीकृत ग्राम अर्थ-व्यवस्थाओं की दूरदृष्टि कम्पनी की केन्द्रीकृत, शक्ति-प्रधान नौकरशाही के बिल्कुल विपरीत थी। गांधीजी ने पंचायती राज की वकालत की जो स्थानीय समुदायों को स्वायत्तता प्रदान करती थी। यह दृष्टिकोण कम्पनी की नीतियों का सीधा जवाब था, जिसने स्थानीय शासकों को नष्ट कर केन्द्रीकृत शक्ति लागू की थी। उनकी रणनीतियाँ, जैसे 1930 का नमक सत्याग्रह, औपनिवेशिक कर प्रणालियों को चुनौती देती थीं जो कम्पनी में निहित थीं। नमक बनाकर, गांधीजी ने ब्रिटिश एकाधिकार को तोड़ा जो अपने-आप में आर्थिक सम्प्रभुता का एक शक्तिशाली प्रतीक था।

गांधीजी की रणनीतिक प्रतिक्रियाएँ

नमक सत्याग्रह दांडी मार्च के नाम से भी जाना जाता है। यह ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (ई.आई.सी.) की औपनिवेशिक कर नीतियों के खिलाफ महात्मा गांधी का एक सीधा और शक्तिशाली विरोध था। 19वीं शताब्दी में कम्पनी द्वारा लगाए गये नमक कर ने भारतीयों के लिए एक आवश्यक वस्तु पर भारी बोझ डाल दिया था, जिससे यह आम जनता के लिए एक बड़ा आर्थिक मुद्दा बन गया था। इस अन्यायपूर्ण कर के विरोध में, गांधीजी ने 1930 में 240 मील की ऐतिहासिक यात्रा की, जिसे दांडी मार्च के नाम से भी जाना जाता है। इस मार्च का समापन समुद्र तट पर नमक बनाकर ब्रिटिश एकाधिकार को चुनौती देने के साथ हुआ। इस आन्दोलन में लाखों भारतीयों ने सक्रिय रूप से भाग लिया, और इसके परिणामस्वरूप 60,000 से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया। (हरिजन, 12-4-1930, पृ. 87) गांधीजी ने इस सत्याग्रह के महत्त्व पर जोर देते हुए कहा—

> नमक सत्याग्रह गरीबों की लड़ाई है, क्योंकि यह उनकी आजीविका को प्रभावित करता है। (यंग इंडिया, 20.3.1930, पृ. 456)

यह कथन नमक कर के शोषणकारी स्वरूप और आम लोगों पर इसके सीधे प्रभाव को रेखांकित करता है।

खादी आन्दोलन ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत के डी-औद्योगिकीकरण के खिलाफ गांधीजी की सबसे प्रभावी और रचनात्मक

प्रतिक्रियाओं में से एक था। खादी को बढ़ावा देकर, गांधी जी का उद्देश्य ग्रामीण बुनकरों को सशक्त बनाना और ब्रिटिश आयातित कपड़ों पर भारत की निर्भरता को कम करना था। यह आन्दोलन न केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रतीक था, बल्कि यह भारतीय कारीगरों की गरिमा और कौशल को भी पुनर्स्थापित करता था। 1930 तक, खादी की बिक्री 20 मिलियन वार्षिक तक पहुँच गयी थी, जिसने ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं को पुनरुज्जीवित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। (ब्राउन, 1989)। गांधीजी ने चरखे को 'आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रतीक' माना, जो औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ प्रतिरोध का एक शक्तिशाली और दृश्यमान साधन बन गया। (यंग इंडिया, 15.5.1921, पृ. 549) यह आन्दोलन केवल कपड़े बनाने तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक दर्शन था जो स्थानीय उत्पादन, आत्मनिर्भरता और सांस्कृतिक गौरव पर जोर देता था।

भारत छोड़ो आन्दोलन ब्रिटिश शक्ति के खिलाफ महात्मा गांधी का अन्तिम और सबसे निर्णायक आन्दोलन था। गांधीजी ने इस आन्दोलन को 'अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अन्त का आह्वान' बताया, जो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की साम्राज्यवादी नीतियों की लम्बी विरासत का सीधा परिणाम था। (हरिजन, 9-8-1942, पृ. 5) इस आन्दोलन ने पूरे भारत में स्वतन्त्रता के लिए एक व्यापक जन-जागरण पैदा कर दिया, जिसमें 100,000 से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया। (Chandra et al., 1989) गांधीजी का यह दृढ़ प्रयास था कि ब्रिटिश शासन को पूरी तरह से समाप्त कर भारत की सम्प्रभुता और आत्मनिर्णय के अधिकार को पुनः स्थापित किया जाये। यह आन्दोलन ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ भारतीय जनता के सामूहिक संकल्प और अहिंसक प्रतिरोध की शक्ति का एक शक्तिशाली प्रदर्शन था।

भारत में ब्रिटिश शासन का ऐतिहासिक मार्ग ने उपमहाद्वीप के आर्थिक और सामाजिक ताने-बाने पर एक अमिट छाप छोड़ी। इसके विपरीत, महात्मा गांधी की रणनीतिक और दार्शनिक प्रतिक्रियाओं ने आत्मनिर्भरता और प्रतिरोध की एक प्रति-कथा का निर्माण किया, जिसने भारत की स्वतन्त्रता के मार्ग को गहराई से प्रभावित किया।

तुलनात्मक विश्लेषण : गांधीजी और अन्य उपनिवेश-विरोधी नेता

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) ने कम्पनी की आर्थिक शोषण के लिए आलोचना की, लेकिन उनका दृष्टिकोण गांधी से भिन्न था। नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (1946) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि "ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत को लूटा, इसकी अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के अधीन कर दिया।" (नेहरू, 1946, पृ. 297) उन्होंने कम्पनी द्वारा किये गये धन की निकासी और भारत के औद्योगीकरण को नष्ट करने को देश की गरीबी का मुख्य कारण माना, जो दादाभाई नौरोजी के सिद्धान्तों से काफी प्रभावित था। नेहरू का दृष्टिकोण समाजवादी और औद्योगीकरण-केन्द्रित था। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत की स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए आधुनिक उद्योगों का विकास और एक केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था आवश्यक है। गांधीजी के स्वदेशी आन्दोलन, जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं और हाथ से बुने खादी पर केन्द्रित था, को नेहरू ने प्रतीकात्मक तो माना लेकिन इसकी सीमाओं पर भी जोर दिया। उन्होंने अपनी लेखनी में व्यक्त किया—

> खादी महत्त्वपूर्ण है, लेकिन यह भारत की आर्थिक समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं है; हमें मशीनों और कारखानों की आवश्यकता है। (नेहरू, 1936, पृ. 432)

गांधीजी ने एक विकेन्द्रीकृत, आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की वकालत की, जबकि नेहरू ने बड़े पैमाने पर केन्द्रीकृत औद्योगीकरण पर जोर दिया। गांधी का खादी आन्दोलन ग्रामीण कारीगरों को सशक्त बनाने पर केन्द्रित था, जबकि नेहरू ने भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी। सांस्कृतिक रूप से, गांधीजी ने कम्पनी द्वारा पश्चिमी संस्कृति को थोपने को भारतीय परम्पराओं के विनाश के रूप में देखा, जबकि नेहरू ने पश्चिमी विज्ञान और प्रगति को अपनाने की वकालत की और इसे आधुनिकता के लिए आवश्यक माना। रणनीति के मामले में, गांधीजी का अहिंसक प्रतिरोध जन-आन्दोलनों पर आधारित था, जिसमें सविनय अवज्ञा और असहयोग शामिल थे, जबकि नेहरू ने राजनीतिक वार्ताओं और संवैधानिक सुधारों को प्राथमिकता दी; हालाँकि वे जन-आन्दोलनों का भी समर्थन करते थे। सैद्धान्तिक रूप से,

गांधीजी का दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित था, जिसमें सत्य और अहिंसा प्रमुख थे, जबकि नेहरू मार्क्सवादी और समाजवादी सिद्धान्तों से प्रभावित थे, जो आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय पर केन्द्रित थे। नेहरू का दृष्टिकोण आधुनिक भारत के निर्माण के लिए अधिक व्यावहारिक और दूरदर्शी था, लेकिन गांधीजी की नैतिक और सामुदायिक शक्ति पर जोर ने स्वतन्त्रता संग्राम को एक व्यापक जन-आन्दोलन में बदल दिया। गांधीजी का स्वदेशी दर्शन नेहरू के औद्योगीकरण के साथ एक वैचारिक तनाव पैदा करता था, फिर भी दोनों नेताओं ने कम्पनी के आर्थिक शोषण की कड़ी आलोचना में समानता साझा की।

सुभाषचन्द्र बोस (1897-1945) ने कम्पनी को औपनिवेशिक शोषण का एक स्पष्ट प्रतीक माना, लेकिन उनका दृष्टिकोण गांधीजी से मौलिक रूप से भिन्न था। बोस का दृढ़ विश्वास था कि सैन्य प्रतिरोध ही स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एकमात्र प्रभावी साधन है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—

> ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तलवार के बल पर भारत को गुलाम बनाया; हमें तलवार से ही स्वतन्त्रता छीननी होगी। (बोस, 1942, पृ. 89)

इस विश्वास के साथ, बोस ने इंडियन नेशनल आर्मी (आई.एन.ए.) का गठन किया, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के सहयोग से ब्रिटिश शासन के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष किया। बोस ने कम्पनी की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों को भारत की गुलामी का मूल आधार माना, लेकिन उनकी आलोचना गांधीजी की नैतिकता से कम और तीव्र राष्ट्रवादी उत्साह से अधिक प्रेरित थी। गांधीजी के खादी आन्दोलन और अहिंसक प्रतिरोध को बोस ने अपर्याप्त और अप्रभावी माना। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा—

> अहिंसा ने हमें एकजुट किया, लेकिन यह ब्रिटिश साम्राज्य को हिलाने के लिए पर्याप्त नहीं है। (बोस, 1938, पृ. 123)

आर्थिक दृष्टिकोण से, गांधीजी ने स्वदेशी के माध्यम से आर्थिक आत्मनिर्भरता पर जोर दिया, जिसमें ग्रामीण उद्योगों का पुनरुद्धार शामिल था, जबकि बोस ने स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक उद्योगों की स्थापना और तीव्र औद्योगीकरण पर ध्यान केन्द्रित किया। सांस्कृतिक रूप से, गांधीजी ने

कम्पनी द्वारा सांस्कृतिक थोपने को भारतीय परम्पराओं के विनाश के रूप में देखा और सांस्कृतिक पुनरुत्थान पर जोर दिया, जबकि बोस ने राष्ट्रीय एकता और सैन्य शक्ति को प्राथमिकता दी और इसे राष्ट्र के गौरव के लिए आवश्यक माना। रणनीति के मामले में, गांधीजी का अहिंसक प्रतिरोध जन-आन्दोलनों पर आधारित था, जिसमें सविनय अवज्ञा और असहयोग शामिल थे, जबकि बोस ने सशस्त्र क्रान्ति और सैन्य कार्रवाई को चुना। गांधीजी का नमक सत्याग्रह लाखों लोगों को एकजुट करने में सफल रहा, जबकि आई.एन.ए. का प्रभाव सीमित लेकिन प्रतीकात्मक था, जिसने सशस्त्र संघर्ष की भावना को जगाया। सैद्धान्तिक रूप से, गांधीजी का दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक था, जिसमें आत्म-शुद्धि और सत्यनिष्ठा प्रमुख थी, जबकि बोस का राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी प्रभावों से प्रेरित था, जो साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मजबूत, संगठित प्रतिरोध पर केन्द्रित था। बोस का सैन्यवादी दृष्टिकोण गांधीजी की अहिंसा से अधिक तात्कालिक प्रभाव पैदा करता था, लेकिन यह जन-आन्दोलन की व्यापकता में कमी थी। गांधीजी की नैतिक शक्ति ने वैश्विक समर्थन प्राप्त किया और उन्हें एक अन्तरराष्ट्रीय प्रतीक बनाया, जबकि बोस की रणनीति विवादास्पद थी और उन्हें कुछ क्षेत्रों में आलोचना का सामना करना पड़ा। दोनों नेताओं ने कम्पनी के शोषण को भारत की गुलामी का कारण माना, लेकिन उनके समाधान और कार्यप्रणाली मौलिक रूप से भिन्न भी थे।

दादाभाई नौरोजी (1825-1917) ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'पॉवर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1901) में 'धन की निकासी' की थीसिस प्रस्तुत की। उन्होंने अनुमान लगाया कि कम्पनी और बाद में ब्रिटिश राज ने भारत से प्रति वर्ष 200-300 मिलियन से अधिक धन निकाला, जिससे भारत गरीब होता चला गया। नौरोजी ने स्पष्ट रूप से लिखा—

> ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत को एक समृद्ध अर्थ-व्यवस्था से कच्चे माल का आपूर्तिकर्ता बना दिया। (नौरोजी, 1901, पृ. 34)

उनका दृष्टिकोण गहन आर्थिक विश्लेषण पर आधारित था, जो ठोस आँकड़ों और तथ्यों से समर्थित था, जिसने ब्रिटिश शोषण की प्रकृति को उजागर किया। नौरोजी का दृष्टिकोण सुधारवादी था। वे ब्रिटिश संसद में चुने

गये पहले भारतीय थे और उन्होंने ब्रिटिश शासन के भीतर ही सुधारों की वकालत की, यह मानते हुए कि ब्रिटिश न्याय प्रणाली के माध्यम से बदलाव सम्भव है। गांधीजी ने नौरोजी की 'धन की निकासी' थीसिस को अपनाया और उसे अपने आन्दोलनों का आधार बनाया, लेकिन उनका दृष्टिकोण अधिक कट्टरपंथी और क्रान्तिकारी था। गांधीजी ने अपनी पत्रिका 'यंग इंडिया' में लिखा—

> नौरोजी ने हमें लूट की सच्चाई दिखाई, लेकिन स्वदेशी ही इसका वास्तविक जवाब है। (यंग इंडिया, 20-11-1924, पृ. 386)

आर्थिक दृष्टिकोण से, दोनों नेताओं ने कम्पनी द्वारा धन की निकासी की कड़ी आलोचना की, लेकिन नौरोजी ने आर्थिक सुधारों और ब्रिटिश नीतियों में बदलाव पर जोर दिया, जबकि गांधीजी ने स्वदेशी और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं को पुनरुज्जीवित करने पर ध्यान केन्द्रित किया, इसे आत्मनिर्भरता का मार्ग माना। सांस्कृतिक रूप से, गांधीजी ने कम्पनी द्वारा सांस्कृतिक थोपने को नैतिक विनाश और भारतीय पहचान पर हमला माना, जबकि नौरोजी ने मुख्य रूप से आर्थिक प्रभावों पर अधिक ध्यान दिया और सांस्कृतिक पहलुओं पर कम जोर दिया। रणनीति के मामले में, नौरोजी ने संवैधानिक सुधारों और ब्रिटिश सरकार के साथ बातचीत की वकालत की, जबकि गांधीजी ने अहिंसक प्रतिरोध और व्यापक जन-आन्दोलनों को चुना, जिसमें सविनय अवज्ञा और असहयोग शामिल थे। सैद्धान्तिक रूप से, नौरोजी का दृष्टिकोण उदारवादी और आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित था, जिसमें न्याय और समानता की माँग थी, जबकि गांधी का नैतिक और आध्यात्मिक था, जिसमें सत्य, अहिंसा और आत्म-बलिदान प्रमुख थे। नौरोजी के गहन आर्थिक विश्लेषण ने गांधी को ब्रिटिश शोषण के खिलाफ एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान किया, लेकिन गांधी की अहिंसक रणनीति ने स्वतन्त्रता संग्राम को एक व्यापक जन-आन्दोलन में बदल दिया, जिसमें लाखों लोग शामिल हुए। नौरोजी का सुधारवादी दृष्टिकोण सीमित था और ब्रिटिश ढाँचे के भीतर काम करता था, जबकि गांधीजी का कट्टरपंथी दृष्टिकोण अधिक प्रभावी था और उसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया।

क्वामे न्क्रुमा (1909-1972), घाना के पहले राष्ट्रपति और अफ्रीकी

स्वतन्त्रता आन्दोलन के एक प्रमुख नेता, ने औपनिवेशिक शोषण को एक व्यापक वैश्विक सन्दर्भ में देखा। अपनी प्रभावशाली पुस्तक 'नियो-कॉलोनियलिज्म : द लास्ट स्टेज ऑफ इंपीरियलिज्म' (1965) में, उन्होंने तर्क दिया कि कम्पनी जैसे औपनिवेशिक संस्थानों ने उपनिवेशों को आर्थिक रूप से निर्भर बनाया और यह प्रक्रिया नव-उपनिवेशवाद के रूप में जारी रही। न्क्रुमा ने गांधी की अहिंसक रणनीतियों की प्रशंसा की और उनसे प्रेरणा ली, लेकिन उनका दृष्टिकोण समाजवादी और पैन-अफ्रीकी था, जिसमें पूरे अफ्रीका की एकता और मुक्ति पर जोर था। उन्होंने कहा—

> गांधीजी ने हमें दिखाया कि नैतिक शक्ति साम्राज्यवाद को हिला सकती है, लेकिन अफ्रीका को सशस्त्र और आर्थिक एकता की आवश्यकता है। (न्क्रुमा, 1963, पृ. 45)

आर्थिक दृष्टिकोण से, गांधीजी ने स्थानीय आत्मनिर्भरता और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनरुद्धार पर जोर दिया, जबकि न्क्रुमा ने क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण और समाजवादी नीतियों की वकालत की, जिसमें बड़े पैमाने पर राज्य-नियंत्रित उद्योग शामिल थे। सांस्कृतिक रूप से, गांधीजी ने भारतीय परम्पराओं के पुनरुत्थान और सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण पर ध्यान केन्द्रित किया, जबकि न्क्रुमा ने पैन-अफ्रीकी पहचान को बढ़ावा दिया और अफ्रीकी संस्कृति के गौरव को स्थापित करने का प्रयास किया। रणनीति के मामले में, गांधी का अहिंसक प्रतिरोध जन-आन्दोलनों पर आधारित था, जिसमें सविनय अवज्ञा प्रमुख थी, जबकि न्क्रुमा ने राजनीतिक और सैन्य रणनीतियों का मिश्रण अपनाया, जिसमें कभी-कभी सशस्त्र संघर्ष भी शामिल था। सैद्धान्तिक रूप से, गांधीजी का दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक था, जिसमें सत्य और अहिंसा केन्द्रीय थे, जबकि न्क्रुमा का मार्क्सवादी और पैन-अफ्रीकी सिद्धान्तों से प्रेरित था, जो साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ एक संयुक्त अफ्रीकी मोर्चे पर केन्द्रित था। न्क्रुमा का वैश्विक दृष्टिकोण गांधी की स्थानीय शक्ति पर जोर से पूरक था, क्योंकि दोनों ने उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष को एक व्यापक आन्दोलन के रूप में देखा। गांधीजी की अहिंसा ने न्क्रुमा को प्रेरित किया, लेकिन अफ्रीकी सन्दर्भ ने अधिक आक्रामक रणनीतियों की माँग की, जिसमें राजनीतिक और आर्थिक

स्वतन्त्रता के लिए तीव्र संघर्ष शामिल था। दोनों नेताओं ने कम्पनी (ईआईसी) जैसे संस्थानों को औपनिवेशिक लूट का प्रतीक माना और उपनिवेशवाद के स्थायी प्रभावों को चुनौती दी।

गांधीजी की आलोचना की विशिष्टता उनके नैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि के अद्वितीय मिश्रण में निहित थी। अन्य नेताओं के दृष्टिकोणों की तुलना में, निम्नलिखित बिन्दु गांधीजी को अलग करते हैं—

नैतिक शक्ति : गांधीजी ने अहिंसा को औपनिवेशिक शक्ति के खिलाफ सबसे शक्तिशाली हथियार माना। नेहरू और नौरोजी ने संवैधानिक सुधारों पर ध्यान केन्द्रित किया, जबकि बोस और फैनन ने हिंसा को चुना। गांधीजी की नैतिक शक्ति ने वैश्विक समर्थन प्राप्त किया, जैसा कि मार्टिन लूथर किंग जूनियर और नेल्सन मंडेला के आन्दोलनों में देखा गया। (नन्दा, 1995)

विकेन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था : गांधीजी का स्वदेशी दर्शन ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं को सशक्त बनाने पर केन्द्रित था, जो नेहरू के केन्द्रीकृत औद्योगीकरण और न्क्रुमा के क्षेत्रीय एकीकरण से भिन्न था। खादी आन्दोलन ने 100,000 कताई करने वालों को रोजगार दिया, जो स्थानीय आत्मनिर्भरता का प्रतीक था। (ब्राउन, 1989)

सांस्कृतिक पुनरुत्थान : गांधीजी ने भारतीय परम्पराओं, जैसे भक्ति संगीत और ग्राम संस्कृति, को पुनरुज्जीवित करने पर जोर दिया, जो फैनन के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण और नेहरू के पश्चिमीकरण से भिन्न था। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि ने भारतीय पहचान को मजबूत किया और उसे औपनिवेशिक प्रभावों से बचाया।

जन-आन्दोलन : गांधीजी की रणनीतियाँ, नमक सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, लाखों लोगों को एकजुट करती थीं। 1930 के नमक सत्याग्रह में 70,000 से अधिक लोग गिरफ्तार हुए, जो उनकी जन-जुड़ाव की क्षमता को दर्शाता है। (Chandra et al., 1989) बोस और फैनन के सैन्य दृष्टिकोण इस व्यापकता में कमी थे।

आलोचनाएँ : गांधीजी के दृष्टिकोण की कुछ सीमाएँ थीं। अमर्त्य सेन ने तर्क दिया कि गांधी का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर जोर आधुनिक औद्योगीकरण को सीमित करता था और भारत के आर्थिक विकास में बाधा डाल सकता था। (सेन, 2005) रामचन्द्र गुहा ने उनकी औपनिवेशिक-पूर्व

भारत की आदर्शवादी दृष्टि की आलोचना की, जो जातिगत असमानताओं जैसे आन्तरिक मुद्दों को नजरअन्दाज करती थी। (गुहा, 1997) फिर भी, गांधी की नैतिक और सामुदायिक शक्ति ने स्वतन्त्रता संग्राम को एक वैश्विक प्रेरणा बनाया और उन्हें एक अद्वितीय नेता के रूप में स्थापित किया।

गांधीजी द्वारा आलोचना की समकालीन प्रासंगिकता

गांधीजी की ईस्ट इंडिया कम्पनी (ईआईसी) की आलोचना आज के विश्व में भी कई मायनों में प्रासंगिक है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के सन्दर्भ में : कम्पनी (ईआईसी) को आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगमों का अग्रदूत माना जा सकता है, जो विकासशील देशों के संसाधनों का शोषण करते हैं। गांधीजी का स्वदेशी दर्शन स्थानीय अर्थ-व्यवस्थाओं को सशक्त बनाने का एक मॉडल प्रस्तुत करता है, जो इन निगमों के शोषणकारी पैटर्न का मुकाबला कर सकता है। (रॉबिन्स, 2006)

पर्यावरणीय संकट के सन्दर्भ में : गांधीजी की आत्मनिर्भरता और सादगी की वकालत आज के पर्यावरणीय आन्दोलनों के साथ गहराई से जुड़ी हुई है, जो टिकाऊ उपभोग और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण पर जोर देते हैं। (गुहा, 2006) उनका यह दृष्टिकोण हमें याद दिलाता है कि अत्यधिक भौतिकवाद और शोषणकारी आर्थिक मॉडल पर्यावरण के लिए हानिकारक हैं।

सांस्कृतिक पहचान के सन्दर्भ में : वैश्वीकरण के इस युग में, जहाँ सांस्कृतिक एकरूपता का खतरा बढ़ रहा है, गांधीजी की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की माँग अत्यन्त प्रासंगिक है। यह बहस आज भी जारी है कि कैसे अपनी सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित किया जाये। भारत में दिल्ली हाट जैसे सांस्कृतिक मंच गांधीजी के स्वदेशी दर्शन को जीवन्त उदाहरण के रूप में दर्शाते हैं। (दत्ता, 2018)

वैश्विक अहिंसक आन्दोलनों के सन्दर्भ में : गांधीजी की अहिंसा की विचारधारा ने दुनिया-भर में कई पर्यावरणीय कार्यकर्ताओं (जैसे ग्रेटा थुनबर्ग) और सामाजिक न्याय आन्दोलनों को प्रेरित किया है, जो नैतिक शक्ति और शान्तिपूर्ण प्रतिरोध पर बल देते हैं। (नन्दा, 1995) यह दर्शाता है कि अहिंसक तरीके आज भी बड़े बदलाव लाने में सक्षम हैं।

महात्मा गांधी के ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (ईआईसी) के सम्बन्ध में विचार, जो उनके स्वराज (स्व-शासन), स्वदेशी (आत्मनिर्भरता) और अहिंसा (अहिंसक प्रतिरोध) के गहन दर्शन में गहराई से निहित थे, औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध एक अद्वितीय, नैतिक और अत्यन्त व्यावहारिक प्रतिरोध का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब हम जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, दादाभाई नौरोजी, क्वामे न्क्रुमा इत्यादि प्रमुख नेताओं के दृष्टिकोणों के साथ गांधी के विचारों की तुलना करते हैं, तो उनकी विशिष्टता और दूरदर्शिता स्पष्ट रूप से उजागर होती है। जहाँ नेहरू ने भारत के आधुनिकीकरण के लिए औद्योगीकरण पर विशेष बल दिया, बोस ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ सैन्य प्रतिरोध को प्राथमिकता दी, और नौरोजी ने भारत की आर्थिक दुर्दशा का विस्तृत आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया, वहीं गांधीजी ने नैतिक शक्ति, स्थानीय आत्मनिर्भरता, और भारतीय सांस्कृतिक पहचान के पुनरुत्थान को सर्वोपरि माना। न्क्रुमा और फैनन जैसे वैश्विक नेताओं के साथ गांधी के दृष्टिकोण की तुलना, उनके विचारों की सार्वभौमिक प्रासंगिकता को दर्शाती है, फिर भी उनकी अहिंसा और सामुदायिक शक्ति पर अद्वितीय जोर उन्हें इन सबसे अलग स्थापित करता है।

ऐतिहासिक आँकड़ों, सुदृढ़ सैद्धान्तिक ढाँचों और गहन तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से, यह स्पष्ट होता है कि गांधीजी की आलोचना केवल कम्पनी की शोषणकारी विरासत को उजागर करने तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि यह आधुनिक वैश्विक चुनौतियों, जैसे कि बढ़ती आर्थिक असमानता, सांस्कृतिक अलगाव की समस्या और गम्भीर पर्यावरणीय संकट के समाधान के लिए भी एक शक्तिशाली प्रेरणास्रोत बनी हुई है। गांधीजी की दूरदर्शी दृष्टि हमें यह महत्त्वपूर्ण सत्य याद दिलाती है कि सच्ची स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक मुक्ति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक सम्प्रभुता के अटूट स्तम्भों पर आधारित होती है; एक ऐसा सिद्धान्त जो आज भी दुनिया-भर के नेताओं और कार्यकर्ताओं को निरन्तर प्रेरित कर रहा है।

कम्पनी की ऐतिहासिक विरासत आज भी वैश्विक आर्थिक असमानताओं और उत्तर-औपनिवेशिक पहचानों के जटिल ताने-बाने में गहराई से समाई हुई है। आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगम, जिनकी तुलना अक्सर कम्पनी से की

जाती है, विकासशील देशों के संसाधनों का निरन्तर शोषण करते रहते हैं, जो औपनिवेशिक शोषण के पुराने ढर्रे को ही प्रतिबिम्बित करता है। (रॉबिन्स, 2006) गांधीजी के आत्मनिर्भरता और अहिंसा के मौलिक सिद्धान्त इन समकालीन चुनौतियों का सामना करने के लिए आज भी अत्यन्त प्रासंगिक बने हुए हैं। भौतिकवाद की उनकी तीखी आलोचना पर्यावरणीय आन्दोलनों के साथ पूरी तरह से मेल खाती है, जो टिकाऊ और न्यायसंगत उपभोग की वकालत करते हैं। भारत के भीतर, आर्थिक उदारीकरण पर चल रही बहसें गांधीजी के स्वदेशी के आदर्शों और वैश्विक आर्थिक एकीकरण की आवश्यकताओं के बीच एक अन्तर्निहित तनाव को स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं। एक आत्मनिर्भर और समतावादी भारत की उनकी दूरदर्शी दृष्टि औपनिवेशिक शासन के स्थायी प्रभावों को सम्बोधित करने के प्रयासों को आज भी निरन्तर प्रेरित कर रही है, हमें यह महत्त्वपूर्ण सत्य याद दिलाती है कि सच्ची स्वतन्त्रता के लिए न केवल राजनीतिक मुक्ति, बल्कि आर्थिक और सांस्कृतिक सम्प्रभुता भी अनिवार्य है।

भारत का विभाजन और महात्मा गांधी
एक जटिल और दुखद गाथा

भारत का विभाजन एक अत्यन्त जटिल एवं करुण प्रक्रिया थी, जिसके सूत्र अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों में निहित थे। औद्योगिक क्रान्ति से उद्भूत साम्राज्यवाद। (हॉब्सन, 1902) ब्रिटिश कूटनीतियाँ, साम्प्रदायिक राजनीति का उद्भव और विभाजन को अवरुद्ध करने हेतु गांधीजी के अथक प्रयास—इन सभी कारकों का अवलोकन उनकी दूरदर्शिता एवं व्यापक महत्त्वाकांक्षा को प्रकट करता है। (खान, 2007) भारत के विभाजन के विनाशकारी परिणाम वर्तमान भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों तथा भारतीय समाज पर इसके गहन प्रभावों में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। (गुहा, 2007) ऐतिहासिक निर्णय प्रायः त्वरित गति से लिए जाते हैं, तथापि उनकी पृष्ठभूमि अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर होती है। भारत का विभाजन मात्र दो भौगोलिक खंडों का पृथक्करण नहीं था, अपितु दो संस्कृतियों, जातियों, सभ्यताओं और सम्बन्धों को खंडित करने वाला एक अकल्पनीय एवं दुष्कर कार्य था। इस प्रक्रिया ने भूत, भविष्य और वर्तमान के तीनों कालों को विखंडित कर दिया। देश-विभाजन की कथा इतनी उलझी हुई है, कि यदि इसमें से यह अन्वेषण किया जाये कि कौन सा धागा कहाँ से उद्भूत हुआ और कहाँ विलीन हो गया, तो इसका निर्धारण करना दुरूह हो जाता है। इसके पीछे अनेक प्रकार की शक्तियाँ कार्यरत थीं। सामान्यतः हम जिन्हें देखते और पहचानते हैं, वे तो गौण खिलाड़ी हैं; उनसे भी बृहत्तर शक्तियाँ इसके पीछे संरेखित थीं। जिस प्रकार दो जुड़वाँ शिशुओं को शल्य-चिकित्सक द्वारा पृथक करना एक जटिल शल्य-क्रिया मानी जाती है, उसी प्रकार देश का विभाजन दो शरीरों

को पृथक करने से भी कहीं अधिक, दो संस्कृतियों, जातियों, सभ्यताओं और नाते-रिश्तों को दो खंडों में विभक्त करना था। यह कितना दुरूह एवं जटिल कार्य रहा होगा, इसका समकालीन समय में भी पूर्णतः अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह भूत, भविष्य और वर्तमान के समूल विखंडन के सदृश था। यह इतना विशाल और दुष्कर कृत्य था जिसे हम देश का विभाजन कहते हैं। अतः, इस विषय को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने हेतु पर्याप्त समय की आवश्यकता होगी। एक सुगम मार्ग यह है कि विभाजन की गाथा को वहीं तक सुना जाये जहाँ तक इसका सम्बन्ध गांधीजी से है। (गुहा, 2018) तथापि, इस वृत्तान्त को समझने हेतु कुछ पूर्ववर्ती इतिहास में जाना अपरिहार्य होगा; अत्यधिक नहीं, अपितु लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व के इतिहास में।

विभाजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

औद्योगिक क्रान्ति और साम्राज्यवाद का उदय लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इंग्लैंड में हुआ, जिसे हम औद्योगिक क्रान्ति के नाम से जानते हैं। (हॉब्सन, 1902) इस क्रान्ति के फलस्वरूप मनुष्य को भाप की शक्ति प्राप्त हुई, जिससे संचालित होने वाले इंजनों एवं मशीनों का निर्माण हुआ। इससे एक नवीन प्रकार की सभ्यता का अभ्युदय हुआ, जिसे औद्योगिक सभ्यता की संज्ञा दी जाती है। इस औद्योगिक क्रान्ति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि वैश्विक स्तर पर सर्वप्रथम मानवीय आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन सम्भव हुआ। पूर्व में ऐसा कभी नहीं हुआ था; हमारी आवश्यकता से कम वस्तुएँ ही उपलब्ध होती थीं, जिसके कारण वस्तुओं की प्राप्ति हेतु निरन्तर संघर्ष रहता था। औद्योगिक क्रान्ति ने सर्वप्रथम हमारी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं के उत्पादन को सम्भव बनाया। स्वाभाविक रूप से, जब उत्पादन आवश्यकता से अधिक होता है, तो उसके विपणन हेतु अधिक उपभोक्ताओं की आवश्यकता पड़ती है, जिसका अर्थ है बृहत्तर बाजारों तक पहुँच की आवश्यकता। एक राष्ट्र का बाजार इसके लिए अपर्याप्त सिद्ध होता है, अतः वैश्विक स्तर पर अन्य राष्ट्रों के बाजारों में भी अपने उत्पादों को ले जाना आवश्यक हो जाता है। इसी को 'पाँव फैलाना' कहते हैं, और यदि इसका समुचित विश्लेषण किया जाये तो साम्राज्यवाद का सूत्रपात यहीं से होता है। (हॉब्सन, 1902) जब बाजार की खोज में वैश्विक शक्तियाँ अग्रसर होती हैं

और नवीन बाजार स्थापित करने का प्रयास करती हैं, तो यह साम्राज्यवाद का प्रथम सोपान होता है। हम रामायण में वर्णित अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग से अवगत हैं; राजागण अपने अश्वमेध के अश्व को मुक्त करते थे, और अश्व जितनी दूर तक जाता था, वह समस्त क्षेत्र उस राजा के साम्राज्य में सम्मिलित मान लिया जाता था, जब तक कि कोई उसे अवरुद्ध न करे। जो भी उस अश्व को रोकता था, उसके साथ राजा का युद्ध होता था, और उस युद्ध के परिणाम से साम्राज्य का निर्धारण होता था। इसी प्रकार, औद्योगिक क्रान्ति ने भी अपना एक अश्व छोड़ा है जो वैश्विक राष्ट्रों तक पहुँच रहा है। और उस अश्व को कोई अवरुद्ध न कर सके, उसे अपने नियंत्रण में न ले सके, इसके लिए औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ अनेक अन्य शक्तियाँ भी वैश्विक स्तर पर प्रसारित होने लगीं, जिनमें सैन्य शक्ति, पूँजी की शक्ति, और एक संगठनात्मक शक्ति सम्मिलित है जो नवीन साम्राज्यों को स्थापित एवं सुदृढ़ करती हुई अग्रसर हो रही है।

ब्रिटिश साम्राज्य और उसकी नीतियाँ

वैश्विक स्तर पर जो साम्राज्य विस्तारित हुआ, उनमें सर्वाधिक सशक्त साम्राज्य इंग्लैंड का था, क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति का उद्भव इंग्लैंड में ही हुआ था। उनके पास सर्वाधिक संसाधन उपलब्ध थे, अत: औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य इंग्लैंड का ही बना। यह इतना विशाल हो गया कि उसकी एक संक्षिप्त परिभाषा यह बन गयी कि वह एक ऐसा साम्राज्य है जहाँ सूर्य कभी अस्त नहीं होता। तथापि, हम सभी जानते हैं कि सूर्य अस्त होता है। अत:, चाहे कोई साम्राज्य कितना भी विशाल या उन्नत क्यों न हो, वह अन्तत: पतनोन्मुख होता है। प्रकृति का यही नियम है। इसी कारण साम्राज्यवाद भी क्षीण हुआ, इतना विशाल साम्राज्यवाद भी खंडित हुआ और धीरे-धीरे समाप्त हो गया। साम्राज्यवाद के पतन के पीछे जो शक्तियाँ थीं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महात्मा गांधी का नाम है। (डॉल्टन, 1993; गुहा, 2018) उनके सत्याग्रही आन्दोलनों के प्रभाव से साम्राज्यवाद पर प्रथम गम्भीर आघात हुआ, और यह आघात निरन्तर होता रहा; अन्तत: वह किला ढह गया। (डॉल्टन, 1993) सम्भवत: हमें इस बात का अनुमान नहीं है कि भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् विश्व के 110 राष्ट्र स्वतंत्र हुए। (गुहा, 2007)

हमने साम्राज्यवाद के किले को तोड़ा, किन्तु उसके प्रभाव में विश्व के 110 देश बिना किसी गांधी या आन्दोलन के स्वतंत्र हो गये, क्योंकि भारत के साम्राज्यवाद के पतन के साथ ही साम्राज्यवादी शक्तियों ने यह स्वीकार कर लिया कि अब यह शासन-पद्धति अव्यावहारिक है। परिणामस्वरूप उन्होंने स्वेच्छा से अपने उपनिवेश खाली कर दिये और राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी।

विभाजन के पीछे अन्तरराष्ट्रीय शक्तियाँ और भू-राजनीतिक खेल

किन्तु, यह एकमात्र कारण नहीं था; पर्दे के पीछे और भी अनेक घटनाएँ घटित हुईं। पर्दे के पीछे का विश्लेषण करने पर अब ऐसे अनेक दस्तावेज उपलब्ध हो रहे हैं जो पूर्व में हमारी पहुँच से बाहर थे, किन्तु अब वे सार्वजनिक हो गये हैं, और इन दस्तावेजों का अवलोकन करने पर एक अत्यन्त भिन्न कथा उद्घटित होती है। यह सन् 1881 की बात है, जब रूस के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, दोस्तोयेव्स्की का एक दस्तावेज प्राप्त होता है। (दोस्तोयेव्स्की, 1881) दोस्तोयेव्स्की, जो रूसी थे और रूस का नाम साम्राज्यवाद से सम्बद्ध नहीं है (साम्राज्यवाद का सम्बन्ध तो पूँजीवादी देशों से है), उस दस्तावेज में लिखते हैं कि अब हम (रूसी) भी ऐसी स्थिति में आ गये हैं जहाँ हमें नये बाजारों की खोज करनी पड़ेगी। हमें भूमि और बाजार की आवश्यकता है, और इसके लिए हमें अपने पिछड़े पड़ोसियों तक रेल मार्ग, हवाई मार्ग और जल मार्ग से पहुँचने के रास्ते खोजने चाहिए। एशिया के उन देशों में जहाँ हमारी पहुँच नहीं है, वहाँ हमें अपनी पहुँच स्थापित करनी चाहिए। वे कहते हैं कि जिस प्रकार यूरोप को अमेरिका की खोज से एक विशाल सम्पदा प्राप्त हुई, उसी प्रकार रूस के लिए सम्भवत: एशिया के प्रान्तों में भी वैसी ही सम्पदा निहित है जिसे हमें खोजना है। (दोस्तोयेव्स्की, 1881) दोस्तोयेव्स्की यह भी लिखते हैं कि रूसियों के लिए सुविधा यह है कि वे यूरोपीय लोगों के मध्य एशियाई प्रतीत होते हैं और एशियाई लोगों के मध्य यूरोपीय, क्योंकि रूप-रंग से रूसी भी पश्चिमी लोगों के समान श्वेत होते हैं और शारीरिक संरचना से वे भारतीयों के अधिक निकट होते हैं, अत: वे दोनों समाजों में सहजता से समाहित हो सकते हैं। इसका लाभ उठाकर एशिया तक पहुँचने के लिए, वे तुरन्त दो कार्यों का सुझाव देते हैं : एक सड़क जो रूस को साइबेरिया से

जोड़े, और दूसरी सड़क जो मध्य एशिया से जोड़े। इन दो सड़कों के निर्माण की परिकल्पना मात्र से ही रूस के लिए एशिया तक पहुँचने का एक उत्कृष्ट अवसर उत्पन्न हो जायेगा। (दोस्तोयेव्स्की, 1881) परिणामस्वरूप, सन् 1917 में जब रूसी क्रान्ति सफल हुई और साम्यवादियों के हाथों में रूस की सत्ता आई, तो तुरन्त दो कार्य हुए: पहला, रूस के सभी गैर-यूरोपीय पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध सुधारे गये, और राजनीतिक-कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। रूस टर्की, पर्शिया और अफगानिस्तान तक पहुँच गया। और सन् 1927 तक, दस वर्षों के भीतर, ताशकंद और काबुल दोनों को हवाई मार्ग से जोड़ दिया गया, जो दोस्तोयेव्स्की के दस्तावेज में उल्लिखित सड़क निर्माण की बात थी, वह हवाई जहाज के सम्बन्धों में रूपान्तरित हो गयी।

सन् 1914 से 1918 का दौर प्रथम विश्वयुद्ध का था। इस युद्ध में भाग लेने वाली सभी प्रमुख शक्तियों ने यह समझा कि भविष्य में अपनी शक्ति बनाये रखने के लिए, तेल का विशाल भंडार होना अनिवार्य है। यदि किसी राष्ट्र के पास तेल का अपना भंडार नहीं है, तो वह भविष्य में किसी बड़ी शक्ति की भूमिका नहीं निभा सकता। तब ब्रिटेन को यह विचार आया कि वे जो औद्योगिक क्रान्ति और साम्राज्यवाद के शिखर पर विराजमान हैं, उनके पास अपना तेल का भंडार कितना है? गणना करने पर ज्ञात हुआ कि उनके पास मेसोपोटामिया और पर्शिया में ही तेल है, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य में कहीं तेल नहीं है। अतः, तेल की खोज और तेल के क्षेत्रों तक पहुँचने की होड़ दुनिया के सभी प्रमुख राष्ट्रों के बीच में इस दौर में देखी जाती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध आते-आते, जब हिटलर के विरुद्ध विश्व लामबन्द हो रहा था, तब यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि हिटलर वस्तुतः प्रत्येक राष्ट्र के भीतर छिपा हुआ है, जो विश्व में कहीं न कहीं अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास कर रहा है, चाहे उसका नाम इंग्लैंड हो, अमेरिका हो, फ्रांस हो, जर्मनी हो, या जापान हो। प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने हिटलर से जूझ रहा था, और प्रत्येक राष्ट्र इस होड़ में था कि वह विश्व के अधिक से अधिक हिस्सों पर कब्जा कर सके, जिससे उनकी पहुँच विस्तृत हो सके। इसका अर्थ था कि एक हिटलर को पराजित करना है और अपने-अपने हिटलर को भी पराजित करना है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का परिदृश्य था। एक प्रसिद्ध उपन्यासकार लॉर्ड किपलिंग हैं, जिनका सुविख्यात उपन्यास 'किम' है।

उस उपन्यास का एक अध्याय 'द ग्रेट गेम' है। (किपलिंग, 1901) यदि आप उसे पढ़ने का प्रयास करेंगे तो यह पूरा वाक्य जो मैं आपको बता रहा हूँ, वह उपन्यास के 'द ग्रेट गेम' नामक अध्याय में वर्णित है कि भविष्य में विश्व में कौन सा बड़ा खेल खेला जाने वाला है, उसका मानचित्र क्या बन रहा है, और कौन-कौन सी शक्तियाँ कहाँ से संचालित होने वाली हैं।

5 मई, 1945 को, जब द्वितीय विश्वयुद्ध के सबसे बड़े खिलाड़ी जर्मनी का पतन होता है और हिटलर का अन्त होता है, उसी दिन इंग्लैंड के प्रधानमंत्री चर्चिल अपने युद्ध मंत्रिमंडल की बैठक आहूत करते हैं। (चर्चिल, 1945) युद्ध मंत्रिमंडल उस समय ब्रिटेन की सर्वोच्च संस्था थी, जो प्रधानमंत्री के मंत्रिमंडल से भी बड़ी थी, जहाँ रणनीतिक योजनाएँ बनाई जाती थीं। उसी दिन प्रधानमंत्री एक अति गोपनीय दस्तावेज उस बैठक में प्रस्तुत करते हैं, जिसमें कहा गया है कि अब यह स्पष्ट हो रहा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध में विजयी शक्तियों में सर्वाधिक सशक्त शक्ति के रूप में रूस का उद्‌भव हो रहा है, और यदि रूस को रोकना है तो हमें एशिया में अपनी एक सशक्त उपस्थिति का कोई केन्द्र स्थापित करना होगा। (चर्चिल, 1945) यह द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति का समय है, अभी भारत यहाँ कहीं भी नहीं है, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पतन के कहीं दूर-दूर तक कोई आसार नहीं हैं। उस समय इंग्लैंड के प्रधानमंत्री अपने युद्ध मंत्रिमंडल में यह योजना बना रहे थे। इसी समय कुछ ऐसे दस्तावेज मिलते हैं जो यह दर्शाते हैं कि इंग्लैंड के शीर्ष अधिकारियों के बीच यह चर्चा चल रही थी कि यदि किसी कारणवश हमें भारत छोड़ना पड़ा (जबकि उस समय भारत में ब्रिटिश सल्तनत बहुत मजबूत थी, और उसे छोड़ने की कोई गुंजाइश नहीं थी), तो हम भारत का कौन सा भाग अपने नियंत्रण में रखें जिससे भारत छोड़ने के बाद भी इस क्षेत्र में कमजोर न पड़ें। सन् 1946 में, 18 अप्रैल को, ब्रिटिश सेना के तीनों प्रमुख अधिकारियों ने मिलकर एक दस्तावेज तैयार किया जो प्रधानमंत्री को सौंपा जाता है। उसमें सेना कहती है कि भविष्य में हमारा सबसे बड़ा मुकाबला रूस के साथ होने वाला है, और इस मुकाबले में यदि हमें टिके रहना है और रूस से मजबूत सिद्ध होना है तो हमें भारतीय उपमहाद्वीप में कोई न कोई अपनी जगह बनानी होगी। उसी समय वायसराय वेवेल इंग्लैंड में अपनी सरकार को एक नोट भेजते हैं (यह भी सन् 1946 का ही प्रसंग है)।

उस नोट में वेवेल लिखते हैं कि इंग्लैंड और राष्ट्रमंडल के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे भविष्य में भारत को किसी भी प्रकार अपनी मुट्ठी से निकलने न दें, किन्तु यदि ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न हुई और भारत से हमें हटना पड़ा तो हमें अभी से यह योजना बनानी चाहिए कि भारत के किस हिस्से को हम अपने नियंत्रण में रखेंगे और किस हिस्से को छोड़ेंगे। इसी सन् 1946 के अन्त में, लन्दन में प्रधानमंत्री चर्चिल अपने वायसराय वेवेल को भारत बुलाते हैं और उनके साथ एक गोपनीय बैठक करते हैं, जिसका कोई दस्तावेज ब्रिटिश अभिलेखागार में उपलब्ध नहीं है। किन्तु वेवेल की डायरी मिली है, जो अब प्रकाशित हो गयी है। उस डायरी में एक दिन वेवेल नोट करते हैं कि प्रधानमंत्री चर्चिल के अचानक बुलावे पर उन्हें इंग्लैंड पहुँचना पड़ा और रात के भोजन के समय प्रधानमंत्री ने उनसे सर्वप्रथम यह बात कही कि भारत के विभाजन की योजना तैयार करनी है। आप कल्पना कीजिए कहानी कहाँ से चल रही है और कहाँ पहुँच रही है। प्रधानमंत्री सन् 1946 में अपने वायसराय को यह कह देते हैं कि भारत के विभाजन की योजना बनाना आरम्भ करो, जबकि अभी भारत छोड़ा नहीं है, और भारत छोड़ने की कोई बात भी नहीं है, किन्तु वे अपनी योजना तैयार कर रहे हैं। यह सब पर्दे के पीछे की कथा है, और यह ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि जिस विभाजन की बात हम आगे कर रहे हैं, उसकी पृष्ठभूमि में इतनी सारी शक्तियाँ कार्यरत थीं और इतनी सारी योजनाएँ बन रही थीं।

भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का उदय

अब हम पर्दे के आगे बढ़ते हैं, मंच पर, जहाँ वास्तविक घटनाक्रम घटित हो रहा है। जिन वर्षों का उल्लेख किया जा रहा है, उन्हें नोट करना कहानी को समझने में सहायक होगा क्योंकि ये सभी वर्ष एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम हम सन् 1885 में आते हैं, जब लॉर्ड ह्यूम नामक एक अंग्रेज अधिकारी को ब्रिटेन से यह सूचना मिलती है कि भारत में साम्राज्यवाद के विरुद्ध कुछ आवाजें उठ रही हैं, विशेषकर बंगाल से, जहाँ से स्वतन्त्रता संग्राम का एक अंश आरम्भ होता है और क्रान्तिकारियों के समूह बनने लगते हैं। साम्राज्यवाद इन सभी गतिविधियों पर दृष्टि रखता है, और इसलिए लॉर्ड ह्यूम को बुलाकर वह अधिकारी कहता है कि इन घटनाओं को अनदेखा न

करें, इन्हें कैसे नियंत्रित किया जाये इसकी कोई योजना प्रस्तुत करें। और लॉर्ड ह्यूम उनके समक्ष एक योजना प्रस्तुत करते हैं, जिसका व्यावहारिक स्वरूप सन् 1885 में हमें तब दिखाई देता है जब भारत में कांग्रेस नामक एक संस्था का जन्म होता है। कांग्रेस का जन्म लॉर्ड ह्यूम की योजना के अनुसार भारत में होता है, और उस समय देश के सभी प्रमुख व्यक्ति (कोई राजनीतिक दल नहीं थे), दादा भाई नौरोजी से लेकर बाल गंगाधर तिलक तक, इन सभी लोगों को लॉर्ड ह्यूम उस कांग्रेस के मंच पर एकत्रित करते हैं। वे कहते हैं कि यह मंच हम लोगों का वह साझा मंच है जिस पर हम ब्रिटिश सरकार के साथ बातचीत कर सकेंगे। गुलाम देश के लोगों को ब्रिटिश सरकार के सर्वोच्च अधिकारी वायसराय के साथ चाय पीने का अवसर मिलेगा—इसे कौन छोड़ेगा? आज भी लोग मुख्यमंत्री के साथ चाय पार्टी के लिए लालायित रहते हैं, उस समय भी यही स्थिति थी। इसीलिए कांग्रेस का गठन होता है और कांग्रेस यह निर्णय लेती है कि वर्ष में एक बार वायसराय की सुविधा से कांग्रेस की बैठक बुलाई जायेगी, जहाँ वायसराय के साथ बैठकर चाय पीने और बातचीत करने का अवसर मिलेगा और यदि कोई शिकायत हो तो वायसराय को सीधे शिकायत कर सकते हैं, जिसका निवारण किया जायेगा। यह कुछ वैसा ही था जैसे आज मुख्यमंत्री जनता दरबार लगाते हैं; दरबार तो अब समाप्त हो गया है, राजा और दरबार भी समाप्त हो गये हैं, किन्तु मानसिकता वही बनी हुई है। लगभग वही परिदृश्य कांग्रेस में भी था, और लोग उस दरबार में जाने के लिए उत्सुक रहते थे। ह्यूम एक नोट लिखते हैं और वायसराय को कहते हैं कि "यह जो मैं कर रहा हूँ इसको आप भलीभाँति समझ लें कि मैं क्या कर रहा हूँ। जैसे प्रेशर कुकर से गैस बाहर निकालने के लिए एक सुरक्षा वाल्व बनाया जाता है, उसी प्रकार भारतीय समाज में उत्पन्न हो रहे गुस्से को निकालने के लिए कांग्रेस नामक सुरक्षा वाल्व का निर्माण किया गया है।" जब ये लोग थोड़े अधिक असन्तुष्ट होंगे तो हम एक बैठक बुलायेंगे, आप आ जाइएगा, बातचीत होगी और गुस्सा बाहर निकल जायेगा, और फिर साम्राज्य सुरक्षित हो जायेगा। ऐसा सुरक्षा वाल्व सन् 1885 में बनाया जाता है, और उसके बाद लम्बे समय तक हर वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन होता है, बड़े-बड़े लोग अध्यक्ष चुने जाते हैं और वायसराय के साथ बैठक करते हैं। तो अंग्रेजों के साथ समन्वय स्थापित करने के लिए इस संस्था का जन्म होता है।

लेकिन एक बड़ी विचित्र बात है; आप एक चाकू फल काटने के लिए बनाते हैं, किन्तु यदि वह गलत हाथ में पड़ जाये तो गर्दन भी काट सकता है। चाकू वही है, किन्तु उपयोग का अन्तर पड़ जाता है। तो यह कांग्रेस जो संस्था इस उद्देश्य से बनाई गयी थी कि आपसी समन्वय स्थापित हो, उसमें कुछ ऐसे लोग भी आ गये जो अंग्रेज सरकार के विरुद्ध अधिक मुखर होने लगे, वे वायसराय के समन्वय से शान्त नहीं हो रहे थे। तो कांग्रेस के अनेक लोगों को थोड़ी असुविधा होने लगी कि मंच तो चाय पीने के लिए बनाया गया था, किन्तु ये लोग तो अत्यधिक शोर करने लगे हैं। ऐसे में सन् 1885 के ठीक तीन वर्ष पश्चात्, सन् 1888 में एक नयी संस्था का जन्म होता है, उस संस्था का नाम है 'द यूनाइटेड पेट्रियोटिक इंडियन एसोसिएशन' या 'द यूनाइटेड इंडिया पेट्रियोटिक एसोसिएशन'। कांग्रेस के गठन के तीन वर्ष पश्चात्, कांग्रेस के भीतर से एक नयी संस्था का उद्भव होता है। इस एसोसिएशन के गठन में दो नाम प्रमुख हैं : एक काशी के नरेश शिव प्रसाद सिंह और दूसरा अलीगढ़ के सर सैयद। अलीगढ़ वह क्षेत्र है जहाँ से भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय मुस्लिम नेतृत्व का उद्भव होता है, और हिन्दू संगठनों की कहानी काशी से आरम्भ होती है। तो काशी के नरेश और अलीगढ़ के सर सैयद, ये दोनों मिलकर एक दूसरा संगठन बनाते हैं : ऑल इंडिया पेट्रियोटिक एसोसिएशन। सर्वप्रथम भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिक पहचान वाले संगठन का निर्माण होता है। यह पेट्रियोटिक एसोसिएशन इसलिए बना कि कांग्रेस के मंच पर जिस प्रकार सत्ता के साथ सुविधाजनक तालमेल बिठाने का प्रयास हो रहा था, उसमें थोड़ी बाधा उत्पन्न होने लगी, इसलिए इन दोनों लोगों ने सोचा कि हम एक अलग संगठन बना लेते हैं और अंग्रेजों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनायेंगे, लड़ाई-झगड़े की बात नहीं करेंगे, शिकायत नहीं करेंगे। स्वार्थ जोड़ता भी है और स्वार्थ तोड़ता भी है; तो स्वार्थ से प्रेरित होकर यह पेट्रियोटिक एसोसिएशन बना था। और हम देखते हैं कि सन् 1888 में जो पेट्रियोटिक एसोसिएशन बना, वह सन् 1906 में आकर विघटित हो गया, और विघटन के पश्चात् सन् 1906 में एक संगठन बना जिसका नाम मुस्लिम लीग है। अर्थात, उस पेट्रियोटिक एसोसिएशन का जो एक धड़ा था, सर सैयद का, उसने महसूस किया कि इस एसोसिएशन को बनाने के पीछे जो हमारी मंशा थी वह पूर्ण नहीं हो रही है, इसलिए उन्होंने मुसलमानों के

लिए एक अलग संगठन का निर्माण किया जिसका नाम मुस्लिम लीग है। सन् 1906 में मुस्लिम लीग का गठन हुआ और कुछ समय पश्चात्, सन् 1915 में एक और संगठन उभरकर सामने आया जिसका नाम हिन्दू महासभा है। इस बात पर ध्यान दें कि पहले कांग्रेस का गठन होता है जिसके मंच पर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई सभी एक पंक्ति में दिखाई देते हैं, दादा भाई नौरोजी से लेकर लोकमान्य तिलक तक। उसके पश्चात् एक संगठन बनता है जिसके मंच पर केवल दो लोग दिखाई देते हैं : सर सैयद और काशी नरेश। उसके पश्चात् एक संगठन बनता है जिसके मंच पर केवल एक व्यक्ति दिखाई देता है : एक ओर हिन्दू लोग हैं, एक ओर मुसलमान लोग हैं। आप देखें कैसे-कैसे धाराएँ चल रही हैं और कहाँ-कहाँ पर विभाजन हो रहा है।

विभाजन में गांधी की भूमिका

गांधी के प्रारम्भिक जीवन और धार्मिक विचार : मोहनदास करमचन्द गांधी जब इंग्लैंड पहुँचते हैं, तब सर्वप्रथम वे गीता पढ़ते हैं; इससे पूर्व उन्होंने गीता नहीं पढ़ी थी। इंग्लैंड जाने से पूर्व माँ ने उन्हें गीता की एक प्रति दी थी। इंग्लैंड पहुँचकर वे कुरान और बाइबिल भी पढ़ते हैं। तीनों धर्मों के प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन वे युवक इंग्लैंड में करते हैं। (गांधी, 1927) जब वे ईसाई लोगों के साथ काम करते हैं, तो वे चाहते हैं कि गांधी ईसाई बन जायें क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा सच्चा व्यक्ति मिलना दुरूह है। जब वे मुसलमानों के साथ काम करते हैं, तो मुसलमान चाहते हैं कि गांधी इस्लाम स्वीकार कर लें। गांधी दोनों के प्रभाव में हैं; बाइबिल का 'सरमन ऑफ द माउंट' उन्हें अत्यन्त प्रिय एवं कंठस्थ है, और इस्लाम की अनेक बातों से भी वे प्रभावित होते हैं। किन्तु जब धर्म परिवर्तन की बात आती है, तो गांधी तैयार नहीं होते। गांधी कहते हैं कि धर्म परिवर्तन करने के लिए नहीं होता है, धर्म में परिवर्तन होना चाहिए। धर्म का परिवर्तन करके क्या करेंगे, क्योंकि दुनिया के सभी धर्म तो हम ही लोगों ने बनाये हैं; मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए दुनिया के हर धर्म अपूर्ण हैं। एक अपूर्ण से निकलकर दूसरे अपूर्ण में जाने से क्या होगा? होना तो यह चाहिए कि मेरे धर्म की जो अपूर्णता है उसको मैं दूर करूँ, तुम्हारे धर्म की जो अपूर्णता है उसको तुम दूर करो, और हम दोनों मिलकर एक परिपूर्ण धर्म बनाने का प्रयास करें; यह मोटे तौर पर गांधीजी की धर्म की कल्पना है। (गांधी, 1927)

गांधी फिर दक्षिण अफ्रीका जाते हैं और अब्दुल्लाह की फर्म में नौकरी करते हैं, एक मुस्लिम फर्म में। (प्यारेलाल, 1956) जिस समाज में वे जाते हैं, वह भारतीयों का एक खंडित समाज है; दक्षिण अफ्रीका में भारत के हर प्रान्त से मजदूर गये हुए हैं, जो एक-दूसरे से अपरिचित हैं, एक-दूसरे की भाषा, धर्म या जीवन-शैली नहीं जानते। ऐसे समाज में गांधी नामक व्यक्ति पहुँचता है, जो एक मुस्लिम फर्म में काम करता है, और वह घटनाओं के कारण से इस समाज को जोड़ने का प्रयास करता है। गांधी का अनुभव यहाँ यह है कि जिस मुस्लिम फर्म में वे काम करते हैं, वे लोग अत्यन्त ईमानदार हैं। करोड़ों का वह मामला है जिसके लिए गांधी को नौकरी मिली है, और गांधी करते क्या हैं कि उन दोनों पक्षों को आपस में मिलाकर न्यायालय के बाहर समझौता करा देते हैं, और वर्षों से चली आ रही लड़ाई समाप्त हो जाती है। तो गांधी का यह विश्वास अपने अनुभव से दृढ़ होता है कि धर्म के जो लेबल हैं, यदि इनको हटा दिया जाये तो मनुष्य सब जगह एक ही है, एक ही प्रकार की कमजोरी से घिरा हुआ है, एक ही प्रकार की संभावनाओं से भरा हुआ है। इस पर धर्म का लेबल लगा देते हो तो तुम पूर्वग्रह ग्रस्त हो जाते हो; उसको निकाल दो, सिर्फ इनसान को देखो तो सब एक ही प्रकार के हैं। जब वे अपने समाज को देखते हैं, तो देखते हैं कि इतना खंडित समाज है कि यदि कोई लड़ाई लड़नी हो तो इस समाज को एकीकृत किये बिना सम्भव नहीं है। तो उस खंडित समाज को एकत्रित करके नटाल इंडियन कांग्रेस नामक एक संस्था बनाते हैं; उनकी आयु 24 वर्ष की थी। गांधी वृद्ध तो पैदा नहीं हुए थे, हमारी आपकी तरह ही आयु की हर अवस्था से गुजरे थे। 24 वर्ष का युवक दक्षिण अफ्रीका में नौकरी करने गया था, परिवार का भरण-पोषण करना था, भारत में वकालत चल नहीं रही थी। वहाँ बढ़िया वकालत की, पर्याप्त धन अर्जित किया, बहुत ऐशो-आराम से रहते थे, किन्तु वह घटना घट गयी जिसने उन्हें उस ट्रेन से निकालकर प्रथम श्रेणी के डिब्बे से फेंक दिया, यह कहने के बावजूद कि उनके पास प्रथम श्रेणी का टिकट है, क्योंकि काले लोगों को प्रथम श्रेणी में यात्रा करने की अनुमति नहीं थी। (प्यारेलाल, 1956) उस घटना ने बैरिस्टर एम.के. गांधी के भीतर से एक नये व्यक्ति का जन्म कर दिया। यह गांधी की विकास यात्रा है; गांधी किसी और विश्वास से निर्मित व्यक्ति हैं, और जिन लोगों की चर्चा पहले हो रही थी, उनके विश्वास भिन्न हैं।

गांधी और जिन्ना के बीच वैचारिक मतभेद

इसमें एक तीसरा नाम भी जोड़ लेते हैं, मोहम्मद अली जिन्ना। मोहम्मद अली जिन्ना एक अत्यन्त निपुण वकील हैं, वे भी इंग्लैंड से पढ़कर आये हुए हैं। महात्मा गांधी का जहाँ जन्म हुआ है गुजरात में पोरबंदर में, उससे मात्र 30 किलोमीटर की दूरी पर जिन्ना का गाँव है। और जिन्ना हिन्दू माता-पिता की सन्तान हैं, जो मात्र एक पीढ़ी पहले धर्म परिवर्तन करके मुस्लिम बने थे। धर्म परिवर्तन का कारण यह हुआ कि जिस लोहाना गुजराती जाति के थे जिन्ना के पिताजी, लालजी भाई, वे मछली का व्यापार करते थे, और उनकी लोहाना जाति में मांस का व्यापार करना निषिद्ध है। परिस्थिति ऐसी बन गयी कि वह परिवार मछली का व्यापार ही कर रहा था, इसलिए उसको जाति से बहिष्कृत कर देते हैं। यह बहिष्करण जिन्ना के पिताजी को अत्यन्त अप्रिय लगा, और वे प्रयास करते हैं कि शीघ्र ही यह व्यापार समाप्त करके कोई दूसरा व्यवसाय आरम्भ करें ताकि ये लोग उन्हें जाति में वापस ले लें। किन्तु लोहाना जाति के प्रमुख लोग उनको वापस लेने को तैयार नहीं होते, और इस क्रोध में उनके पिताजी इस्लाम स्वीकार कर लेते हैं; यह जिन्ना की कहानी है। जिन्ना और गांधी में क्या अन्तर है? तो अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है : गांधी कहते हैं कि राष्ट्र जो है, देश जो है, वह धर्मों से नहीं बनता है, देश संस्कृतियों से बनता है। जिन्ना कहते हैं देश धर्म से बनता है। इसलिए एक राष्ट्र के भीतर दो धर्म नहीं रह सकते। (खान, 2007) गांधी कहते हैं यदि देश संस्कृतियों से बनता है तो उसमें जितने धर्म चाहें सभी रह सकते हैं, क्योंकि यदि संस्कृति एक है तो धर्म का जो विश्वास है वह तो अपनी-अपनी निजी वस्तु है। जिन्ना कहते हैं नहीं, धर्म से देश चलता है, इसीलिए एक राष्ट्र के भीतर दो धर्म नहीं हो सकते। यह गांधी और जिन्ना के बीच की वैचारिक लड़ाई है, जिसको हम 'टू-नेशन थ्योरी' कहते हैं, जिसका प्रतिपादन जिन्ना ने किया; उसका आधार केवल इतना ही है कि एक राष्ट्र के भीतर एक ही धर्म होना चाहिए, अलग-अलग धर्म नहीं हो सकते। (खान, 2007) अंग्रेज जब यहाँ आते हैं तो यह देखने का प्रयास करते हैं कि भारतीय समाज की कमजोर कड़ियाँ क्या-क्या हैं जिनको तोड़ा जाये यदि, तो यह समाज हमारे नियंत्रण में रहेगा। तो वे धर्मों का विभेद देखते हैं, जातियों का विभेद देखते हैं; तो इन दोनों को वे पकड़ते हैं :

धर्म का विभेद लेकर वे हिन्दू-मुसलमान को अलग करने का प्रयास करते हैं, और जातियों का विवाद लेकर वे अम्बेडकर को अपने साथ लेकर जाते हैं और उसको आगे बढ़ाने का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद का खेल ही यह है कि वह जिस समाज में जाता है, उसकी कमजोरियों को पकड़ने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह लड़ाई आगे बढ़ती है और सभी लोग एक ओर होते हैं: साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद की कमजोरियों के शिकार ये लोग एक पक्ष में हैं, और महात्मा गांधी एक पक्ष में हैं; एक बनाम सभी, ऐसी एक लड़ाई देश में खड़ी होती है।

विभाजन के मुहाने पर गांधी

यह लड़ाई अत्यन्त लंबी है, अनेक चरणों से गुजरती है। गांधी हर जगह संकट में कूदते हुए दिखाई देते हैं; जहाँ भी इस प्रकार की कोई घटना घटित होती है, वही गांधी नामक व्यक्ति है, चाहे कोलकाता में घटित हो, बिहार में घटित हो, बंगाल में घटित हो, पंजाब में घटित हो। इन सभी संकटों के मध्य यदि कोई एक व्यक्ति घूमता हुआ, भटकता हुआ, संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है तो उसका नाम गांधी है। (गुहा, 2018) इनके अतिरिक्त कोई साम्प्रदायिकता की आग में उतरता हुआ कोई दूसरा नाम आपको दिखाई नहीं देगा। अब हम अपनी स्वतन्त्रता के अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। स्वतन्त्रता के समय, जिस समय इंग्लैंड लगभग यह तय कर लेता है कि हमें भारत को छोड़कर चले जाना है, उस समय देश में अत्यन्त भयंकर साम्प्रदायिक दंगे छिड़े हुए हैं। और दिल्ली में जो सभी नेतागण एकत्रित हैं उनको गांधी यह कहते हैं कि मेरी अन्तरात्मा मुझसे कह रही है कि मुझे अभी नोआखाली चले जाना चाहिए। नोआखाली वह क्षेत्र है जहाँ मुस्लिम बहुमत में हैं, हिन्दू अल्पसंख्यक में हैं, और हिन्दुओं की बुरी तरह से हत्याएँ हुई हैं, बुरी तरह मारा-काटा गया है उनको। (प्यारेलाल, 1956) गांधी पर यह आरोप है कि जहाँ-जहाँ मुसलमानों को संकट होता है वहीं आप जाते हैं, हिन्दुओं का संकट होता है तो आप नहीं जाते हैं, क्योंकि गांधी मुस्लिमपरस्त हैं। तो गांधी जवाहरलाल जी से कहते हैं कि इस समय मेरी अन्तरात्मा तो कह रही है कि मुझे नोआखाली में जाना चाहिए, तुम लोग यदि देश को सँभालने को तैयार हो तो मुझे नोआखाली जाने दो, और गांधी नोआखाली चले जाते हैं। नोआखाली वह बंजर दूर का

क्षेत्र है जहाँ संचार भी अत्यन्त दुरूह है (अब तो नोआखाली बांग्लादेश में है)। गांधी वहाँ पहुँच जाते हैं। गांधी की जीवन में शायद उतनी कठिन परीक्षा कहीं नहीं हुई जैसी नोआखाली में हुई। (डॉल्टन, 1993) गांधी का नोआखाली जाना अर्थात गांधी का दिल्ली के परिदृश्य से बाहर निकलना, जैसे अंग्रेजों के लिए भगवान का भेजा हुआ वरदान हो गया। उसी समय नये वायसराय बनकर माउंटबेटन भारत आते हैं और सभी गोटियाँ उसी समय फिट की जाती हैं। क्योंकि माउंटबेटन जब भारत आये हैं तो उनको अंग्रेज सरकार ने एक कैलेंडर दिया है, जिस कैलेंडर के अनुसार उनको जनवरी के दूसरे सप्ताह में भारत छोड़कर लौट आना है, और इस बीच में उनको वे सभी कार्य करने हैं जो उनको सौंपे गये हैं।

जवाहरलाल के पास पहले ही काटकर दिया जा चुका है, इसीलिए अब कोई खाली चेक देने के लिए है ही नहीं। इसलिए उन्होंने गांधी का यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। और जब ऐसी परिस्थिति बनी तो मौलाना आजाद, जो अध्यक्ष थे, उन्होंने कहा कि अब बापू आपको जाने देना चाहिए, इनकी तबीयत ठीक नहीं है, इनको हम लोग इतनी देर तक क्यों रोकें, और गांधीजी कार्यसमिति से उठकर चले गये। गांधीजी के कार्यसमिति से जाने के साथ-साथ क्या-क्या कांग्रेस से चला गया, यह मौलाना को कभी समझ में नहीं आया, किन्तु कांग्रेस से वह सब कुछ चला गया जिसके लिए कांग्रेस जानी जाती थी; कांग्रेस एक उधार की खाली खोखली संस्था बनकर रह गयी जिसने वे सभी समझौते किये उनके साथ। अब अन्तिम कार्य गांधी करते हैं कि देश के जो समाजवादी लोग हैं, उनको बुलाते हैं। यह एक नया समूह कांग्रेस के भीतर खड़ा हुआ है जिसका नेतृत्व जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्र देव जैसे लोग करते हैं, जो नये खून के नये लोग हैं और गांधी को बहुत पसन्द भी करते हैं और गांधी को भी अपने बहुत निकट पाते हैं। गांधी उनको बुलाते हैं और कहते हैं कि देखो, अब यदि इसको टालना है तो एक नयी लड़ाई लड़ने की आवश्यकता पड़ेगी, और यदि तुम लोग मेरे साथ उस लड़ाई में शामिल होने को तैयार हो, मैं तुमको मरने के लिए आमंत्रित कर रहा हूँ—'आई एम इनवाइटिंग यू टू द डेथ।' यदि इस मृत्यु की लड़ाई में मेरे साथ तुम खड़े होने को तैयार हो तो मैं एक दाँव और खेल सकता हूँ। किन्तु ये बड़े समाजवादी लोगों ने भी गांधी को यह नहीं कहा कि हम इस लड़ाई में आपके साथ खड़े होने को तैयार हैं।

विभाजन के प्रति गांधी की विवशता और अन्तिम निर्णय

अब गांधी को याद आता है कि उन्होंने देश से यह कहा था कि विभाजन यदि होगा तो मेरी लाश पर होगा। और यह समय आ गया है जब उनको यह तय करना है कि क्या करना चाहिए। वे पूरा हिसाब लगाते हैं; वे एक लड़ाई के सेनापति हैं। वे हिसाब लगाते हैं कि इस समय यदि मैं कोई लड़ाई छेड़ता हूँ तो क्या परिस्थिति बनेगी। तो वे देखते हैं कि इस समय ब्रिटेन जो है, वह भारत छोड़कर जाने की तैयारी में है; वह ऐसा किसी भी कार्य को पसन्द नहीं करेगा जिससे भारत छोड़कर जाने का जो कार्यक्रम है वह लम्बा हो। इसलिए यदि मैं कोई लड़ाई छेड़ूँगा तो वे लोग बहुत बुरी तरह जनता को कुचलेंगे। उन्होंने कहा—

> मैं कुचले जाने से डरता नहीं हूँ। इससे भी अधिक दमन मैंने सहे हैं। किन्तु उस दमन के समय में मेरे पास कांग्रेस नामक एक हथियार था जिसका मुकाबला मैं लेकर करता था। आज वह कांग्रेस मेरे साथ नहीं है क्योंकि जवाहर, सरदार ने कह दिया है कि हम लोग इसमें नहीं पड़ेंगे यदि ऐसा कुछ होगा तो।

तो वे देखते हैं कि कांग्रेस उनके पास नहीं है। वे देखते हैं कि मुसलमानों पर जो उनका प्रभाव था, वह काफी कम हो गया है; मुसलमान ज्यादातर मुस्लिम लीग के साथ चले गये। तो उनका आकलन उनको यह समझाता है कि इस समय यदि मैं कोई लड़ाई मोड़ लेता हूँ तो जनता बहुत बुरी तरह मारी जायेगी; मैंने तो कहा था मेरी लाश गिरेगी, जनता की लाश गिरेगी और उनको बचाने वाला कोई नहीं होगा। इसलिए इस समय में एक सेनापति के रूप में लड़ाई का तकाजा मुझसे यह कहता है कि मुझे ही एक कदम पीछे हटना चाहिए। (गुहा, 2018) इसलिए उन्होंने अपना कदम पीछे ले लिया और कांग्रेस कार्यसमिति को कहा कि ठीक है, आपने जो तय किया है उसको लागू करने का कार्य आपका है, मैं तो उसमें कहीं हूँ नहीं, आप देखें कैसे विभाजन होना चाहिए। मैं पीछे हटता हूँ और मैं इसका सार्वजनिक रूप से विरोध नहीं करूँगा, क्योंकि यदि गांधीजी सार्वजनिक रूप से विभाजन का विरोध करते तो एक नयी लड़ाई छिड़ जाती, जिस लड़ाई का परिणाम वे देख रहे थे कि लोग मारे जायेंगे और उनके साथ कोई खड़ा होने वाला नहीं होगा।

ऐसे अनावश्यक खून बहे और लोग मारे जायें, इससे बचने के लिए मैं ही एकदम पीछे हट जाता हूँ।

विभाजन के तात्कालिक और दीर्घकालिक प्रभाव

उसके बाद जो हुआ, वैसा इतिहास है जिसको दोहराने की आवश्यकता नहीं है। विश्व के इतिहास में कहीं भी उतने बड़े पैमाने पर हिंसा दर्ज नहीं है, जहाँ देश के लोगों ने एक-दूसरे को मारा। (खान, 2007) जब लाशें नहीं गिनी जाती थीं, सिर्फ ट्रेनें गिनी जाती थीं कि लाशों से कटी हुई ट्रेन कितनी इधर से आईं और कितनी ट्रेन उधर गयीं; लाशों से भरी हुई कितनी बसें आईं और कितनी बसें गयीं, क्योंकि अलग-अलग लाशों को गिनने की फुर्सत नहीं थी। इतने बड़े पैमाने पर हिंसा हुई, इतने बड़े पैमाने पर जनसंख्या की अदला-बदली हुई। लाखों-करोड़ों लोग उधर से इधर आये और लाखों-करोड़ों लोग इधर से उधर गये। जाने के क्रम में कितने मारे गये, कितने भटक गये, कितने अलग हुए, कितने घर टूटे, कितने बलात्कार हुए, इनका कोई हिसाब ही नहीं है, क्योंकि हिसाब भी तो उसी का रख पाते हो जिसका हिसाब करने की क्षमता हो तुम्हारे पास; जिसका हिसाब भी न कर सको, उसका हिसाब कौन करता है? विभाजन का मतलब यह होता है, यह जिन्ना को भी मालूम नहीं था, जवाहरलाल को भी मालूम नहीं था। इसीलिए सबके होश उड़ गये, क्योंकि ऐसा तो सोचा ही नहीं था। सोचा तो था कि बँटवारा हो रहा है, किन्तु बँटवारे का मतलब यह होता है, यह किसी की कल्पना में नहीं था। इसलिए जिन्ना ने सिर पीट लिया कि यह मैंने क्या कर दिया। किन्तु जो कर दिया था, वह लौटाया नहीं जा सकता था, अपरिवर्तनीय था। इसलिए इतिहास बार-बार मनुष्यों को सिखाता है कि कदम उठाने से पहले खूब जाँच लो कि यह उठा रहे हो, सँभाल। (खान, 2007)

बिरला भवन पहुँचते हैं और पहुँचकर कहते हैं कि इतनी बड़ी कोठी में मैं तो खो ही जाऊँगा, ऐसी कोठी में तो मैं कभी रहा नहीं हूँ। तो फिर जब आते हैं तो बोलते हैं ठीक है, यह कोना मुझको दे दो, मैं इसी कोने में रह लूँगा। तो यदि आप बिरला भवन में जायेंगे आज, जो गांधी स्मृति बना दिया गया है, तो उसके कोने में आपको छोटी सी जगह दिखाई देगी जो एक बरामदा और एक कमरा है जिसमें गांधीजी रहे। और उन्होंने वहाँ रहकर क्या किया?

तो जितने शरणार्थी आये हुए थे, सुबह निकलते थे और शाम में लौटकर आते थे, उन्हीं शरणार्थियों के बीच में घूमते थे, उनके आँसू पोंछते थे, उनके साथ अपने आँसू मिलाते थे और लोगों को सांत्वना देने का प्रयास करते थे। किन्तु हालत दिन पर दिन बिगड़ती ही जा रही थी, किसी भी तरह नियंत्रण में नहीं आ रही थी। सरकार, सरदार, प्रधानमंत्री सभी लोग साधारण वर्ग की तरह सड़कों पर भटकते हुए देखते थे, दंगाइयों को रोकते हुए। पुलिस नहीं थी क्योंकि विभाजन हो गया था तो पुलिस भी टूट गयी थी, कोई प्रशासन का ढाँचा नहीं था, अभी-अभी तो।

उनको लगता है कि इस दंगे को रोकने में हम लोग अपनी जान लगाए हुए हैं, यह एक नयी मुसीबत आप खड़ी कर रहे हैं कि अब आपकी भी जान बचाई जाये, यह क्या आपने शुरू कर दिया? किन्तु गांधीजी का निर्णय तो उनका ही निर्णय होता था, वे किसी से पूछकर यह सब कार्य नहीं करते थे। किन्तु देवदास गांधी जो उनके पुत्र हैं, वे तो पुत्र हैं, थोड़ा अधिकार अधिक है उनका, तो गांधीजी से लड़ पड़ते हैं और कहते हैं कि क्या लिखा है आपने ये? सिर्फ मुसलमान, मुसलमान, मुसलमान, मुसलमानों के लिए आप अनशन पर बैठे हैं क्या? तो वे कहते हैं—

> हाँ, मैं मुसलमानों के लिए बैठा हूँ। मैं यहाँ मुसलमानों के लिए बैठा हूँ और मैं ही पाकिस्तान में हिन्दुओं के लिए बैठा हूँ। और मैं ही दुनिया में जहाँ कहीं भी कमजोर लोग हैं जिनको तुम अपनी ताकत और संख्या के बल पर झुकाने का प्रयास कर रहे हो, उन दुनिया में हर जगह उन कमजोरों के साथ मैं बैठा हुआ हूँ। यह मेरे अनशन का अर्थ है। (गुहा, 2018; प्यारेलाल, 1956)

एक कितनी बड़ी कैनवस बना दिया उन्होंने, एक छोटे से उपवास का इतना बड़ा प्रतीक खड़ा किया कि एक आदमी सारी दुनिया के जुल्म के खिलाफ खड़ा है, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारे पास संख्या है, सिर्फ इसलिए कि तुम ज्यादा मजबूत हो, तुम किसी को दबा दोगे और मैं देखता रहूँगा, यह मुझसे नहीं हो सकता है। 13 तारीख को शुरू हुआ, 14 को उनकी तबीयत बहुत तेजी से खराब होने लगी, आयु 77 वर्ष की हो चुकी थी, 78वाँ आरम्भ होने वाला था। धीरे-धीरे आवाज बन्द हो गयी, बोल नहीं सकते थे, इतनी

कमजोर स्थिति हो गयी। किन्तु हर दिन प्रार्थना में बोलते थे, तो इसीलिए तय हुआ कि प्रार्थना में जो बोलना है वह लिख दिया जायेगा और कोई दूसरा पढ़कर सुनाएगा, वे सिर्फ सामने में बैठे रहेंगे। इस प्रकार वह अनशन चला और 18 तारीख को जाकर अनशन समाप्त हुआ। अनशन समाप्त हुआ कि वे सारी शर्तों के बारे में एक प्रस्ताव बनाकर दिल्ली के नागरिकों की तरफ से दिया गया, जिसमें हिन्दू महासभा के लोग भी शामिल थे, जिस पर आरएसएस के लोगों ने भी हस्ताक्षर किये थे, मुस्लिम लीग के लोगों ने भी हस्ताक्षर किये थे, कांग्रेस के सभी लोगों ने हस्ताक्षर किये थे, और कहा था कि अब दिल्ली हम लोग अशान्त नहीं होने देंगे, यह सारी शर्तें जो आपने कही हैं इसको पूरा करने का हम प्रयास करेंगे, इसीलिए आप अनशन तोड़िए। तो उन्होंने कहा कि मैं अनशन तोड़ता हूँ क्योंकि मैं तुम लोगों पर विश्वास करता हूँ, किन्तु एक बात का ध्यान रखना कि मैं फिर से अनशन शुरू कर सकता हूँ यदि तुम लोग अपने वचन के प्रति दृढ़ नहीं रहे। 18 तारीख को उनका अनशन टूटा। बीच में एक 19 तारीख गयी, 20 तारीख को उनके ऊपर बम फेंका गया। जिस बम को जिसने फेंका, मदन लाल पाहवा ने, वह यह अनुमान नहीं कर पाया कि कितनी ताकत से बम फेंकने से बम गांधीजी तक पहुँच जायेगा; वह बम थोड़ी दूर पर ही जाकर गिर गया और फूटा। धमाका हुआ, सारी प्रार्थना सभा में हंगामा हुआ। गांधीजी को समझ में नहीं आया कि बम फूटा है, उनको लगा कि शायद कुछ हुआ है धमाका तो सबको शान्त करते हैं, "बैठ जाओ, बैठ जाओ। इतनी सी बात से घबराओगे तो कैसे चलेगा?" सबको बिठाते हैं और प्रार्थना सभा पूरी होती है और तब उनको पता चलता है कि तो बम फेंका गया था उनको मारने के लिए। तो 20 तारीख को बम फेंका गया, 30 तारीख को गोली मारी गयी। यह कहानी यहाँ आकर विभाजन और उनके अन्त के साथ पूरी होती है। (डॉल्टन, 1993; गुहा, 2018)

वर्तमान समय में विभाजन के पश्च-प्रभाव

भारत के विभाजन की त्रासदी और उसके परिणामस्वरूप हुए घटनाक्रम केवल इतिहास के पन्नों तक सीमित नहीं हैं; उनके पश्च-प्रभाव आज भी

भारतीय उपमहाद्वीप के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को गहराई से प्रभावित कर रहे हैं। (गुहा, 2007; खान, 2007) जो घाव सन् 1947 में लगे थे, वे आज भी पूरी तरह से भरे नहीं हैं। सीमा पर बना स्थायी तनाव, विशेषकर भारत और पाकिस्तान के बीच, विभाजन की सबसे प्रत्यक्ष और निरन्तर विरासत है। यह तनाव न केवल दोनों देशों के भारी सैन्य व्यय का कारण बनता है, बल्कि क्षेत्रीय स्थिरता और विकास में भी एक बड़ी बाधा है। कश्मीर का मुद्दा, जिसकी जड़ें विभाजन की अपूर्ण प्रक्रियाओं में हैं, आज भी एक प्रमुख संघर्ष बिन्दु बना हुआ है। विभाजन ने साम्प्रदायिक आधार पर समाज को विभाजित किया था, और यह विभाजन आज भी राजनीतिक विमर्शों में और कभी-कभी सामाजिक स्तर पर भी प्रकट होता रहता है। स्रोत दस्तावेज में जिस प्रकार साम्प्रदायिक पहचान वाले संगठनों के उदय का वर्णन है, उसकी प्रतिध्वनि आज भी राजनीतिक दलों और सामाजिक समूहों की कार्यप्रणाली में देखी जा सकती है। 'हिन्दू समाज का फौजीकरण' या 'मुसलमानों के खिलाफ भावनाएँ जगाने' जैसी बातें, जिनका उल्लेख सावरकर के सन्दर्भ में किया गया है, आज के समय में भी कुछ वर्गों द्वारा अपनाई जाने वाली रणनीतियों से मेल खाती हैं। (जाफरी, 2017) समाज को भय दिखाकर या एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके अपनी मुट्ठी में रखने की प्रवृत्ति, जिसकी तुलना गांधीजी की सेवा और त्याग की पद्धति से की गयी है, समकालीन राजनीति में भी दुर्भाग्यवश उपस्थित है।

पहचान और नागरिकता के प्रश्न भी विभाजन से गहरे जुड़े हुए हैं। लाखों लोगों का विस्थापन और नयी राष्ट्रीय सीमाओं का निर्माण ने अनगिनत परिवारों को अपनी जड़ों से उखाड़ दिया था। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए पहचान के संकट और नागरिकता के दावे आज भी विभिन्न रूपों में सामने आते रहते हैं। हाल के दिनों में नागरिकता से जुड़े कानूनों पर हुई बहसें और विवाद इसी ऐतिहासिक सन्दर्भ से अछूते नहीं हैं। सांस्कृतिक रूप से, जो कभी एक साझा विरासत थी, विभाजन ने उसमें दरारें डालीं। भाषा, भोजन, संगीत और कला में आज भी समानताएँ और साझापन मौजूद हैं, किन्तु राजनीतिक सीमाओं ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बाधित किया है और एक 'अन्य' की भावना को बढ़ावा दिया है। विभाजन की स्मृतियाँ और कथाएँ, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से, आज भी जीवित हैं। साहित्य,

सिनेमा और मौखिक इतिहास के माध्यम से उस दौर की पीड़ा, संघर्ष और मानवीयता के पलों को सहेजने का प्रयास किया जाता है, ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इतिहास की उन भूलों से सबक ले सकें। जिस प्रकार कुछ संगठनों की कार्यप्रणाली को 'निश्चित रूप से इंगित न किये जा सकने योग्य' बताया गया है, जहाँ संकट के समय जिम्मेदारी से बचने की गुंजाइश बनी रहती है, वैसी रणनीतियाँ आज भी विभिन्न सन्दर्भों में देखी जा सकती हैं। इतिहास की इन घटनाओं और उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विभाजन कोई एकबारगी घटना नहीं थी, अपितु एक प्रक्रिया थी जिसके दूरगामी परिणाम हुए, और उन परिणामों से उपजी चुनौतियाँ आज भी हमारे समाज और राष्ट्र के समक्ष खड़ी हैं। गांधीजी का यह कथन कि संकट आने से पहले उसका मुकाबला करना चाहिए, आज भी उतना ही प्रासंगिक है, क्योंकि इतिहास की इन जटिलताओं को समझे बिना वर्तमान की गुत्थियों को सुलझाना और एक शान्तिपूर्ण भविष्य का निर्माण करना कठिन होगा।

निष्कर्षत: भारत का विभाजन बीसवीं सदी की सबसे बड़ी मानवीय त्रासदियों में से एक था, जिसके पीछे दशकों की औपनिवेशिक नीतियाँ, अन्तरराष्ट्रीय भू-राजनीतिक समीकरण और घरेलू साम्प्रदायिक राजनीति का जटिल जाल बुना हुआ था। (खान, 2007) यह कोई आकस्मिक विस्फोट नहीं, अपितु धीरे-धीरे पक रही उन परिस्थितियों का परिणाम था जिन्हें समय रहते पहचाना और निष्प्रभावी नहीं किया जा सका। महात्मा गांधीजी ने अपनी अटूट आस्था और दृढ़ संकल्प के साथ इस विभाजनकारी प्रक्रिया का पुरजोर विरोध किया, शान्ति और एकता के लिए वे अन्तिम क्षण तक संघर्षरत रहे, परन्तु इतिहास की शक्तियाँ कभी-कभी व्यक्ति की क्षमताओं से बड़ी साबित होती हैं। (डॉल्टन, 1993) उनके अथक प्रयास, चाहे वह नोआखाली की यात्रा हो, दिल्ली में नेताओं से मार्मिक अपीलें हों, या जिन्ना को प्रधानमंत्री बनाने का साहसिक प्रस्ताव हो, अन्ततः विभाजन की उस लहर को रोकने में असमर्थ रहे जिसे अनेक ताकतों ने मिलकर हवा दी थी। विभाजन के तात्कालिक परिणाम भयावह थे : अकल्पनीय हिंसा, लाखों लोगों का विस्थापन, और सामाजिक ताने-बाने का छिन्न-भिन्न होना। (खान, 2007) 'टू-नेशन थ्योरी', जिसके आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ, अपने आरम्भिक दिनों में ही अपनी सीमाओं को प्रकट कर गयी जब बड़ी संख्या में मुसलमानों ने भारत

में ही रहना चुना। किन्तु सबसे स्थायी घाव भारत और पाकिस्तान के बीच एक अन्तहीन शत्रुता के रूप में उभरा, जिसने उपमहाद्वीप की शान्ति और प्रगति को निरन्तर बाधित किया है। (गुहा, 2007; खान, 2007) आज, जब हम वर्तमान समय में विभाजन के पश्च-प्रभावों का आकलन करते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि वे केवल ऐतिहासिक अध्ययन का विषय नहीं हैं, अपितु हमारी समकालीन वास्तविकता का एक अभिन्न अंग हैं।

भारतीय कला दृष्टि और गांधी

कला के बारे में गांधीजी की विचारधारा बिल्कुल पृथक है। वे कला को सत्य, अहिंसा और सामाजिक सुधार और उत्थान के माध्यम से देखने का प्रयास करते हैं। उनका विश्वास है कि कला अन्तरात्मा की आवाज और मानवता की सेवा का माध्यम है; इसको उसी रूप में देखना चाहिए। उनके विचारों में सच्ची कला सिर्फ सौन्दर्य ले लिए नहीं है, बल्कि इसके माध्यम से परम सत्य की खोज, सामाजिक सौहार्द, प्रकृति के साथ तारतम्य और नैतिकता के विकास को बढ़ावा दिया जा सकता है।

कला के बारे में गांधीजी की विचारधारा को उनके कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, सत्य की अभिव्यक्ति, सामाजिक उपयोगिता, प्रकृति के साथ सम्बन्ध और जीवन में नैतिक उत्थान इत्यादि। गांधीजी का कला के बारे में दृष्टिकोण पश्चिमी कला की अवधारणा को भारतीय परिभाषा के माध्यम से चुनौती देता है। गांधीजी हमेशा एक ऐसी कला के पक्षधर थे, जो सबके लिए हो और समावेशी भी हो। यह सिद्धान्त भारतवर्ष के स्वतन्त्रता संघर्ष और सांस्कृतिक व्याख्यानों में भी इसकी महत्त्ता को दिखाता है।

गांधीजी को हम भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के नैतिक और रणनीतिक नेता के रूप में जानते हैं। इसके अलावा, गांधीजी ने कला पर भी गहन चिन्तन-मनन किया है और अपने विचार व्यक्त किये हैं। यंग इंडिया, हरिजन और महादेव देसाई की डायरी जैसे पत्रिकाओं में उन्होंने कई लेख लिखे जिसमें उन्होंने कला को सत्य, नैतिकता और सामाजिक उत्थान के कार्यों से जोड़ने का प्रयास किया। कला को माध्यम बनाकर गांधीजी समाज में लोगों का उत्थान करना चाहते थे; वे लोग जो खासकर हासिये पर रहते हैं अथवा पिछड़े हैं।

कला के माध्यम से उनके जीवन को सुन्दर बनाया जा सकता है और उन्हें समृद्ध भी किया जा सकता है। गांधीजी के लिए, कला सिर्फ कुलीन वर्गों का खेल अथवा शौक नहीं हो सकता है। उनका कला दर्शन अन्य अर्थों में भी व्यापक है क्योंकि वह उनकी प्रभावशाली अवधारणाओं पर आधारित है, जैसे कि सत्य, अहिंसा, स्वराज और स्वदेशी। अगर हम गौर से देखें तो गांधीजी का दृष्टिकोण न केवल औपनिवेशिक भारत के लिए महत्त्वपूर्ण था, बल्कि यह आधुनिक वैश्विक सांस्कृतिक और अन्य सामाजिक चुनौतियों के लिए भी आवश्यक था। गांधीजी का कला दर्शन पश्चिमी सौन्दर्य परम्पराओं को चुनौती देता है, जहाँ कला को सिर्फ 'कला के लिए कला' के रूप में देखा जाता है। गांधीजी एक ऐसी कला को प्रोत्साहित करते हैं जो नैतिक, समावेशी और सामाजिक आवश्यकता के अनुसार उपयोगी भी हो।

गांधीजी का जीवन और कला से उनका जुड़ाव

गांधीजी का कला दर्शन उनके जीवन के अनेक अनुभवों और प्रभावों द्वारा निर्मित था। वे गुजरात के पोरबंदर में जन्मे थे, जहाँ भक्ति संगीत और विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रसिद्ध थीं। बचपन में वे मीराबाई, तुलसीदास और नरसी मेहता के भजनों को सुना करते थे; इन भजनों ने उन पर गहरा प्रभाव डाला; यही बाद में जाकर उनके आश्रम के जीवन में भक्ति संगीत के रोजमर्रा के अभ्यास के दौरान देखा जा सकता है। पश्चिमी कला से गांधीजी का सामना लन्दन में कानून की पढ़ाई करते समय हुआ था; उनमें मुख्य रूप से ऑस्कर वाइल्ड जैसे प्रसिद्ध लेखक शामिल थे। गांधीजी ने वाइल्ड द्वारा दी गयी कला की अवधारणा की आलोचना की और तर्क दिया कि कला का सम्बन्ध सिर्फ बाहरी सौन्दर्य से ही नहीं होता है; गांधीजी का मानना था कि कला का सम्बन्ध आन्तरिक गुणों और आत्मा से होता है।

जब गांधीजी सत्याग्रह के बारे में दक्षिण अफ्रीका में प्रयोग कर रहे थे तब संगीत ने उनके जीवन में एक औषधि की तरह कार्य किया। 1907 के एक हिंसक हमले में जब उन्हें गम्भीर चोट आई तब एक प्रसिद्ध भजन 'लीड काइंडली लाइट' (जॉन हेनरी न्यूमैन द्वारा रचित) ने उनके मन और शरीर को बहुत आराम पहुँचाया था। उनके इस अनुभव से यह सिद्ध होता है कि एक सच्ची कला या उसका रूप मन को और आत्मा को एक अद्भुत

ऊर्जा प्रदान करता है और प्रेरित भी करता है। जब गांधीजी भारतवर्ष लौटे तब उन्होंने कला के महत्त्व को समझते हुए स्वदेशी आन्दोलन में कला को एक सामाजिक और आर्थिक प्रतिरोध का शस्त्र बनाया। खादी को गांधीजी ने एक कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया, जो सादगी और आत्मनिर्भरता का प्रतीक बन गया; इसी के माध्यम से गांधीजी ने अंग्रेजी शासन के खिलाफ प्रतिरोध भी खड़ा किया।

गांधीजी की आश्रम में जीवन-शैली उनकी कला के प्रति दृष्टि दर्शाती है, जो कम-से-कम खर्च और सामुदायिक एकता पर बल देता है। उनके कमरे में कोई दिखावा नहीं होता था और जीवन सरल होता था, जो दिखाता है कि सही मायने में सौन्दर्य प्रकृति और हृदय की शुद्धता में है। हमारी प्राचीन भारतीय परम्पराएँ जैसे वेद, पुराण, भगवद्गीता इत्यादि ने गांधीजी के विचारों को कला के प्रति काफी प्रभावित और समृद्ध किया; इसलिए गांधीजी इसे आत्मा के शुद्धीकरण और सामाजिक सौहार्द के साधन के रूप में देखने का प्रयास करते हैं।

गांधीजी के कला की दृष्टिकोण को समझने के लिए, हमें कुछ सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को समझना होगा। एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज्म (1978) और होमी के। भाभा की मिश्रण (हाइब्रिडिटी) की अवधारणा से प्रेरित, यह ढाँचा गांधी के कला दर्शन को औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रतिरोध के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। खादी और भक्ति संगीत जैसे स्वदेशी कला रूपों पर उनका प्रभाव देखा जा सकता है जो पश्चिमी सौन्दर्य मानकों को चुनौती देता था। (सईद, 1978) जॉन रस्किन के कार्यों (अंटू दिस लास्ट) से प्रभावित यह सिद्धान्त तर्क देता है कि कला का मूल्य इसके नैतिक और सामाजिक प्रभाव में है। गांधीजी का यह विश्वास था कि कला को सत्य और जनता की सेवा के लिए होनी चाहिए। (रस्किन, 1860) एलन कार्लसन जैसे विद्वानों के कार्यों से प्रेरित यह ढाँचा गांधीजी के प्रकृति-केन्द्रित सौन्दर्य को आधुनिक पर्यावरणीय कला आन्दोलनों के साथ जोड़ता है। (कार्लसन, 2000)

सत्य की अभिव्यक्ति के रूप में कला

गांधीजी के लिए कला आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति थी, जो सत्य में ही निहित थी। उन्होंने कहा, "सच्ची कला आत्मा की अभिव्यक्ति है।"

उनका विश्वास था कि कला का मूल्य इसके आन्तरिक सच को बाहर निकालने की क्षमता में है, न कि सिर्फ बाहरी सौन्दर्य में। गांधीजी ने ऑस्कर वाइल्ड की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा—"अनैतिकता को सुन्दर बनाने में सफलता प्राप्त की।" क्योंकि उनका ध्यान सिर्फ रूप या ढाँचा पर ही केन्द्रित था। इसके अलावा, गांधीजी ने ईशा मशीह और पैगम्बर मोहम्मद को सर्वश्रेष्ठ कलाकार माना, क्योंकि उनकी कही हुई बातें (बाइबिल और कुरान) सत्य और नैतिकता से प्रभावित और प्रेरित थीं।

इसके अतिरिक्त, सुकरात का उदाहरण देते हुए, गांधीजी ने बताया कि सत्य बाहरी रूप को पार कर सकता है। सुकरात के चेहरे को यूनान में सबसे कुरूप माना जाता था। लेकिन गांधीजी के लिए वे सुन्दर थे, क्योंकि उनका जीवन हमेशा सत्य की खोज में समर्पित रहा था। यह दृष्टिकोण गांधीजी के सत्य के दर्शन का विस्तार है, जो सत्य को जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य मानता है। उन्होंने कहा—

> मैं सत्य में और सत्य के माध्यम से सौन्दर्य देखता हूँ। जब लोग सत्य में सौन्दर्य देखना शुरू करेंगे, तब सच्ची कला उभरेगी। (यंग इंडिया, 13.11.24, पृ. 377)

यह दृष्टिकोण पश्चिमी सौन्दर्यवाद और 'कला के लिए कला' की अवधारणा को चुनौती देता है। वाइल्ड का उपन्यास द पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे (1890) सतही सुन्दरता को बहुत ही अधिक महत्त्व देता है, जिसे गांधीजी अनैतिक मानते थे। गांधीजी की कला नैतिकता और सत्य बन्धनों में बँधी है, जो औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक पहचान को पुनर्जागृत करने का एक साधन थी। गांधीजी के लिए, कला सिर्फ व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं थी, बल्कि सामूहिक नैतिक चेतना का अहम भाग हुआ करता था।

गांधीजी का सत्य पर बल देना भारतीय दार्शनिक परम्पराओं जैसे वेदान्त और जैन धर्म से प्रेरित था, जो सत्य को ही परम वास्तविकता (ब्रह्म) मानते हैं। उनकी कला की परिभाषा और अवधारणा गीता के कर्मयोग से भी प्रभावित थी, जिसमें निःस्वार्थ कर्म को नैतिकता का आधार बताया गया है। (ईश्वरन, 2007) गांधीजी ने पश्चिमी कला को औपनिवेशिक प्रभुत्व के प्रतीक के रूप में देखने का प्रयास किया, जो भारतीय सांस्कृतिक चिन्हों और

पहचान को नीचा दिखाता था। सत्य-पर आधारित उनकी कला की वकालत स्वदेशी आन्दोलन का हिस्सा थी; उनके प्रयासों ने भारतीय परम्पराओं को सम्बल बनाने का अथक किया। (चन्द्र एवं अन्य, 1989) गांधीजी का सत्य और कला का दृष्टिकोण मार्टिन लूथर किंग जूनियर और नेल्सन मंडेला जैसे दिग्गज नेताओं को प्रभावित करता है, जिन्होंने कला का उपयोग नैतिकता और सामाजिक न्याय के लिए बड़े कलात्मक रूप से किया। (नन्दा, 1995)

गांधीवादी कला की सामाजिक उपयोगिता

गांधीजी का कला दर्शन लोकतांत्रिक था; यह जनता और खासकर गरीबों और हाशिए पर रहने वालों के लिए उपलब्ध कराने पर जोर देता था। उन्होंने कहा—

> मैं ऐसी कला और साहित्य चाहता हूँ जो लाखों लोगों से बात कर सके। (हरिजन, 14-11-36, पृ. 315)

जो कला विशेषज्ञता या जटिल तकनीकों की आवश्यकता की बात करती थी उसे उन्होंने सिरे से खारिज कर दिया; उनका मानना था कि सच्ची कला प्रकृति के सौन्दर्य की तरह सार्वभौमिक होनी चाहिए। गांधीजी के लिए, कला का उद्देश्य हर तरह से मानवता की सेवा करना था। वे लिखते हैं—

> जो लाखों भूखे लोगों के लिए उपयोगी हो, वह मेरे लिए सुन्दर है। (यंग इंडिया, 20.11.24, पृ. 386)

खादी का उत्पादन और प्रयोग इस सिद्धान्त का सबसे शक्तिशाली प्रतीक था। खादी केवल एक कपड़ा नहीं था, बल्कि एक कलात्मक अभिव्यक्ति भी था जो सरलता, आत्मनिर्भरता और अंग्रेजी आर्थिक शोषण के खिलाफ एक प्रतिरोध के समान भी था। (यंग इंडिया, 15.4.26, पृ. 140) सन् 1930 तक, खादी की बिक्री में बढ़ोतरी होते हुए 20 मिलियन वार्षिक तक पहुंच गयी। इसके माध्यम से 100,000 से अधिक कातिनों और बुनकरों को रोजगार मिला। (ब्रॉउन, 1989) गांधीजी का मानना था कि सब्जियों के रंग फूलों से अधिक सुन्दर होते हैं; यह इसलिए है क्योंकि वे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और मनुष्य को भूख से बचाते हैं। (हरिजन, 7.4.46, पृ. 67) इसके अतिरिक्त, खादी सिर्फ आर्थिक आत्मनिर्भरता का

साधन नहीं था, बल्कि यह पारम्परिक भारतीय कारीगरी का पुनरुत्थान था। गांधीजी ने खादी को 'स्वदेशी कला' के रूप में देखने का प्रयास किया; यह अपने-आप में अंग्रेजी औपनिवेशिक मशीन द्वारा निर्मित वस्त्रों के विरुद्ध एक सांस्कृतिक बयान भी था।

गांधीजी की कला की अवधारणा ने दलितों और ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने का कार्य किया, जो खादी उत्पादन में काफी अरसे से सक्रिय रहे थे। यह प्रक्रिया सामाजिक समानता के गांधीवादी दर्शन का प्रमुख अंग था। (डॉल्टन, 1993) गांधीजी ने कला को शिक्षा का अभिन्न हिस्सा बनाने की बात कही, खासकर संगीत को; संगीत अपने-आप में सामाजिक एकता और नैतिक विकास को बढ़ावा देने वाला कारक रहा है। प्रतिदिन उनके आश्रमों में भजन गायन का एक सामुदायिक प्रबन्ध किया जाता था। इन भजन गायन में आधे से ज्यादा अनुयायी भाग लिया करते थे। (डॉल्टन, 1993)

कला और प्रकृति का सम्बन्ध

गांधीजी के लिए, प्रकृति ही सर्वोपरि कलाकार रही है, जिसके सामने मानवीय कला धीमी पड़ जाती है। वे लिखते हैं—

> मनुष्य की सचेत कला मुझे वह विशाल दृश्य क्या दे सकती है, जो ऊपर आकाश में चमकते तारों के साथ खुलता है?

प्रकृति को ही 'सर्वशक्तिमान कलाकार' मानते हुए, गांधीजी ने मानवीय रचनाओं को प्रकृति की भव्यता के सामने बहुत ही बौना सा घोषित कर दिया। उनकी न्यूनतम दिनचर्या और जीवन-शैली, जैसे खाली दीवारें, चित्रों का अभाव और सादा जीवन इस विश्वास को और भी मजबूत कर देता है कि सच्चा सौन्दर्य प्रकृति और आन्तरिक शुद्धता में है, न कि बाहरी आडम्बर में। (रॉय, 1950)

गांधीजी का यह दृष्टिकोण भारतीय दार्शनिक परम्पराओं, जैसे उपनिषदों और वेदों से बहुत ही प्रेरित था; वेद और उपनिषद प्रकृति को दैवीय सौन्दर्य का स्वरूप और प्रतीक मानते हैं। (ईस्वरन, 1987) उन्होंने 'सुलभ रंग-योजनाओं' को नकार दिया, यह कहते हुए कि पश्चिमी कला में इतनी कृत्रिमता है कि वह सार्वभौमिक सत्यों से बहुत दूर जा चूका है। वेटिकन शहर में क्रॉस पर

ईशा मसीह की मूर्ति और बेलूर के मन्दिर में पत्थर की मूर्ति जैसे उनके जीवन के अनुभवों ने उनके विश्वास को और भी मजबूत कर दिया कि सच्ची कला बिना व्याख्या के ही आत्मा से संवाद करने में सक्षम है। (हरिजन, 14.11.36, पृ. 315)

गांधीजी का प्रकृति-केन्द्रित सौन्दर्य आधुनिक पर्यावरणीय कला आन्दोलनों का अग्रदूत साबित होता है। उनकी सरलता और स्थिरता की वकालत आज भी पर्यावरण-केन्द्रित ढाँचे और कला प्रथाओं के साथ मेलजोल करती है। (वेंट्रॉब, 2012) गांधीजी की प्रकृति के प्रति स्नेह वैदिक साहित्य और बौद्ध दर्शन से काफी प्रभावित था। ये सभी दर्शन प्रकृति को जीवन का आधार मानते थे, तथा उनके असंख्य आश्रमों में प्राकृतिक वातावरण को संरक्षित और सुरक्षित रखने पर बल दिया जाता था। (गुहा, 2006) इसके अतिरिक्त, गांधीजी का प्रकृति पर आधारित दृष्टिकोण राल्फ वाल्डो एमर्सन जैसे पश्चिमी पर्यावरण विचारकों के प्रकृति-केन्द्रित दर्शन के साथ मेल खाता दिखाई देता है; वे प्रकृति को आध्यात्मिक और आत्मिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत मानते थे। (एमर्सन, 1836)

कला और जीवन में नैतिक उत्थान

गांधीजी का विश्वास था कि जीवन की पवित्रता का प्रमाण श्रेष्ठ और सच्ची कला है। उनका मत था कि कला को कलाकार के नैतिक चरित्र को प्रतिबिम्बित करना चाहिए; इसके अतिरिक्त, इसे मानवता के नैतिक विकास में भी योगदान देना चाहिए। उन्होंने कहा—

> सच्ची कला इसके रचनाकारों की खुशी, सन्तुष्टि और पवित्रता का प्रमाण होनी चाहिए। (यंग इंडिया, 11.8.21, पृ. 253)
>
> जो कला हमारी निम्नतम प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है या आत्मा को भटकाने अथवा नष्ट करने का कार्य करती है, वह कला नहीं, बल्कि अश्लीलता है। (यंग इंडिया, 11.8.27, पृ. 255)

मीराबाई के द्वारा गाए हुए भजनों, वेद भजनों और रामायण की मधुर प्रस्तुतियों की उनकी प्रशंसा उनकी खुद की आत्मा को ऊपर उठाने की क्षमता से उत्पन्न हुई। गांधीजी के व्यक्तिगत अनुभव, जैसे दक्षिण अफ्रीका

में 'लीड काइंडली लाइट' का सुखद अनुभव उनके इस विश्वास को मजबूत कर दिया कि सत्य और नैतिकता के साथ चलने वाली कला परिवर्तनकारी और समावेशी हो सकती है (यंग इंडिया, 10.1.29, पृ. 15-140)। गांधीजी ने संगीत को शिक्षा का हिस्सा बनाने की वकालत की, जिससे सामाजिक एकता और नैतिकता को बढ़ावा मिलेगा।

गांधीजी का नैतिक सौन्दर्य जैन धर्म और ईसाई धर्म से काफी प्रभावित रहा था। ये सभी धर्म जीवन की पवित्रता और करुणा पर बल देते हैं। गांधीजी की अवधारणा अहिंसा के सिद्धान्त से गहरे रूप से जुड़ी हुई थी और हिंसा और शोषण को नकारती है। (पारेख, 1997) गांधीजी ने भक्ति संगीत और लोक कला को पुनर्जागृत करने का प्रयास किया, जिसे अंग्रेजी शिक्षा द्वारा काफी समय से दबा दिया गया था। गांधीजी के आश्रमों में भजन गायन एक सामुदायिक एकता प्रमाण था। (भट्टाचार्य, 2008) अगर हम और गौर से देखें तो गांधीजी का नैतिक कला दर्शन समकालीन कला आन्दोलनों, जैसे सामाजिक न्याय के लिए कला इत्यादि को प्रेरित और प्रभावित करता है।

गांधीवादी कला की समकालीन प्रासंगिकता

गांधीजी द्वारा प्रतिपादित कला दर्शन आधुनिक विश्व में अनेक सन्दर्भों में महत्त्वपूर्ण है। उनकी कला की सामाजिक उपयोगिता की माँग सामुदायिक कला योजनाओं जैसे भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में दीवार चित्र और लोक प्रदर्शन के साथ मेल खाता है। यह सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा देने में कारगर साबित होता हैं। (कोठारी, 2015) गांधीजी का सत्य और नैतिकता पर बल समकालीन कला के व्यवसायीकरण की कटु आलोचना करता है। (स्तालब्रस, 2004)

आधुनिक पर्यावरण आन्दोलन जैसे ईको-आर्ट, गांधीजी के प्रकृति-केन्द्रित सौन्दर्य से प्रेरित हैं। उदाहरण के लिए, कलाकार अक्सर मजबूत और टिकाऊ सामग्रियों का प्रयोग करके आज के पर्यावरणीय संकटों से बचने का कार्य करते हैं। (वेंट्राउब, 2012) आज भारतवर्ष में, दिल्ली हाट जैसे सांस्कृतिक मंच उपलब्ध हैं जो पारम्पारिक शिल्प और कला को आजीविका के रूप में प्रोत्साहित करते हैं। यह गांधीजी के स्वदेशी दर्शन को सही रूप में चरितार्थ करता है। (दत्त, 2018) अगर हम वैश्विक स्तर पर देखें तो चीन के

ऐ विनवेई जैसे कलाकार हैं जो सामाजिक न्याय के लिए कला का उपयोग करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से गांधीजी की नैतिक कला की परम्परा को आगे ले जाने का कार्य करते हैं। (स्मिथ, 2017) गांधीजी का कला दर्शन आधुनिक चुनौतियों को सम्बोधित करने में बहुत हद तक प्रासंगिक है। जनमानस की सेवा के लिए कला की उनकी पुकार सामुदायिक कला योजनाओं के साथ मेल खाती है।

निष्कर्ष

महात्मा गांधी का कला दर्शन सत्य, सामाजिक उपयोगिता, प्रकृति और नैतिक उत्थान पर आधारित एक समतामूलक कला है। गांधीजी का दर्शन कलात्मक मूल्य के विरुद्ध एक पुनर्परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। बाहरी स्वरूप के बदले आत्मा की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व देकर, गांधीजी ने पश्चिमी कला और सौन्दर्यवाद और औपनिवेशिक सांस्कृतिक कथानकों (नैरेटिव) को चुनौती दी। उन्होंने एक ऐसी कला की कल्पना की जो मानवता को जगा दे और उनके आध्यात्मिक और भौतिक जरूरतों की देखभाल करता रहे। कला के लिए, ऐतिहासिक सन्दर्भ, सैद्धान्तिक विश्लेषण और अनुभवजन्य साक्ष्यों के माध्यम से अगर हम देखें तो गांधीजी का विचार कला-विरोधी कभी नहीं रहा है, बल्कि उन्होंने हमेशा उच्चतर और समावेशी रचनात्मकता को बढ़ावा देना चाहा। उनकी कला दृष्टि कलाकारों और कार्यकर्ताओं को हाशिए से ऊपर उठाने, प्रकृति के साथ जोड़ने और सत्य को बनाये रखने वाली रचनाएँ बनाने के लिए प्रोत्साहित करती रहती है। गांधीजी की कला हमें याद दिलाती है कि सच्ची कला एक सरल, शुद्ध और उद्‌देश्यपूर्ण जीवन का मानक है।

सोशल मीडिया, मीडिया, सिनेमा और राष्ट्रीय सुरक्षा : चुनौतियाँ और सहयोग

साहित्य और लोकप्रिय संस्कृति में हम समाज के प्रतिबिम्ब को देखते हैं। लोकप्रिय संस्कृति समाज के लिए एक प्रभावशाली माध्यम की तरह है, जिससे हम समाज के अनेक पहलुओं को देखते और अनुभव करते हैं। इन पहलुओं में राष्ट्रीय सुरक्षा एक अहम भाग है जिसे बहुत गम्भीरता से लेने की आवश्यकता है, खासकर मशीनों और सूचनाओं से घिरे आज का आधुनिक युग। लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रीय सुरक्षा को समझना अपने-आप में एक अनोखा आयाम है। इस तरह के विषयों पर बहुत कम शोध कार्य सम्पन्न हुए हैं। इसलिए इस विषय पर शोध और अध्ययन-अध्यापन एक रुचिकर और अद्वितीय कार्य को पूरा करने जैसा है।

लोकप्रिय संस्कृति एक बहुआयामी क्षेत्र है जिसके माध्यम से समाज में घटित अनेक प्रक्रियाओं और घटनाओं को उनकी सम्पूर्णता में समझा जा सकता है। लोक संस्कृति में सिनेमा, साहित्य, पारम्परिक मीडिया इत्यादि शामिल हैं, जिनके माध्यम से जनमानस की विचारधारा और मानसिकता को बहुत हद तक समझा जा सकता है। लोक संस्कृति में, खासकर सिनेमा का एक अलग अस्तित्व है। भारत जैसे देश में इसे एक प्रभावी माध्यम की तरह देखा जाता रहा है। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत का सिनेमा हमेशा से राजनीतिक और सामाजिक चेतना का प्रतीक रहा है और उनका प्रयोग एक माध्यम के रूप में अनेक लोगों ने किया है। सिनेमा के माध्यम से अनेक सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय मुद्‌दे जनमानस से समक्ष रखा जाता है। सुरक्षा के सन्दर्भ में, सैनिकों की वीरता दर्शाने वाली फिल्में, उपन्यास,

समाचार प्रसारण और आजकल ट्वीट्स लोगों को बहुत प्रभावित करती हैं।

अगर हम 21वीं सदी पर नजर डालें तो हमें पता चलेगा कि राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा और उसके दायरे में आमूलचूल परिवर्तन हुए हैं। पहले जहाँ राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ केवल सीमाओं की रक्षा, सैन्य शक्ति और रणनीतिक गठबन्धनों से था, वहीं आज यह डिजिटल सुरक्षा, सूचना युद्ध, साइबर हमलों, सांस्कृतिक प्रभाव और विचारधारा की रक्षा तक विस्तारित हो चुका है। भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण राष्ट्र के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा केवल सैन्य बलों या खुफिया एजेंसियों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि नागरिक समाज अपनी सुरक्षा, पहचान और सम्प्रभुता को कैसे देखता है। इस सन्दर्भ में लोकप्रिय संस्कृति (विशेष रूप से सिनेमा, साहित्य, पारम्परिक मीडिया और सोशल मीडिया) राष्ट्रीय सुरक्षा के विमर्श को गहराई से प्रभावित कर रही है।

भारतीय सिनेमा दशकों से राष्ट्रवाद, देशभक्ति, आतंकवाद विरोधी अभियानों, जासूसी और युद्ध जैसे विषयों को प्रस्तुत कर राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दों को जनमानस तक पहुँचाने का कार्य कर रहा है। साहित्य ने भी इन विषयों पर गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिससे जनता को नीतिगत सोच और रणनीतिक दृष्टिकोण को समझने का अवसर मिला है। टेलीविजन और समाचार मीडिया ने वास्तविक घटनाओं को तत्काल प्रभाव के साथ प्रस्तुत कर जनता को राष्ट्रीय सुरक्षा से जोड़ा, लेकिन 21वीं सदी में सबसे प्रभावी माध्यम सोशल मीडिया बन चुका है, जिसने सूचना युद्ध को केन्द्रबिन्दु बना लिया है।

भारतीय सिनेमा और राष्ट्रीय सुरक्षा

भारतीय सिनेमा (खासकर हिन्दी सिनेमा) अक्सर सैन्य फिल्मों में सुरक्षा के विषय को दिखाता रहा है। उदाहरण के लिए, 1971 का भारत-पाक युद्ध अनेकों फिल्मों में दर्शाया गया था और सबसे ताजा उदाहरण है उरी हमले पर फिल्म का बनना। आम तौर पर सिनेमा राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर चिन्तित रहा है, उन्हें दिखाने का प्रयास भी किया है। लेकिन कभी-कभी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए, उन्हें सेंसर भी किया जाता है। इन फिल्मों के माध्यम से जनमानस के हृदय में भारतीय सेना और सैन्य व्यवस्था के लिए एक आदर

और प्रेम का भाव विकसित हुआ है। राष्ट्रीय सुरक्षा के चित्रण के माध्यम से सिनेमा में राष्ट्र निर्माण को बेहतरीन ढंग से दिखाया जाता है। हिन्दी सिनेमा ने स्वतन्त्रता के पहले से ही राष्ट्र की कल्पना को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए, मूक फिल्मों के समय के समाचार रील से लेकर 1980 के टेलीविजन तक का सफर। ये फिल्में राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने का प्रयास करती रही हैं।

कुछ फिल्मों को हमेशा राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए सेंसरशिप का सामना करना पड़ता है। अंग्रेजी शासन के दौरान, राष्ट्रवादी फिल्मों को प्रदर्शित करने से रोका जाता था और आजादी के बाद, सीमा संघर्ष या आतंकवाद पर आधारित फिल्मों को सेंसर से गुजरना पड़ता था। इसके बावजूद, कई राष्ट्र प्रेम पर आधारित फिल्में बनाई जाती रही हैं। आधुनिक फिल्मों में 'परमाणु : द स्टोरी ऑफ पोखरन' (2018) पोखरन परिक्षण पर आधारित फिल्म है। इसके माध्यम से देश की सैन्य क्षमता और शक्ति को सामने लाने का प्रयास किया गया है। इससे जनता को सैन्य शक्ति के बारे में शिक्षित और सशक्त बनाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि फिल्में न केवल मनोरंजन प्रदान करती हैं, बल्कि सुरक्षा जैसे मुद्दों पर भी जागरूकता बढ़ाने का प्रयत्न करती है।

भारतीय सिनेमा में राष्ट्रीय मुद्दों से जुड़ी फिल्में बनती रही हैं, जो अक्सर अंग्रेजी शासन में व्याप्त क्रूरता और दमन को दर्शाने का प्रयत्न किया था। कई फिल्मों को प्रतिबन्धित किया गया था, जो अंग्रेजी शासन के खिलाफ कुछ भी दर्शाने का प्रयास करती थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई फिल्में अंग्रेजी राज द्वारा बनाई गयी, जिसमें अंग्रेजी सैन्य शक्ति को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। भारत में, आजादी के बाद, सिनेमा में राष्ट्र निर्माण और सांस्कृतिक एकीकरण के विषयों को अक्सर दिखाया जाने लगा। 1930-40 के दशक में अन्य सामाजिक मुद्दों को दिखाने का प्रयत्न किया गया, जिसमें मंदी, द्वितीय विश्वयुद्ध, राष्ट्रीय आन्दोलन इत्यादि को दिखाने का प्रयास किया गया था।

भारतीय सिनेमा, मुख्य रूप से हिन्दी सिनेमा, में कुछ फिल्में बहुत चर्चित रही हैं जो सिनेमा और राष्ट्रीय सुरक्षा को बेहतर ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयत्न की हैं। 'बॉर्डर' (1997) में 1971 भारत-पाक युद्ध की एक झाँकी

प्रस्तुत की गयी है; 'लक्ष्य' (2004) में एक विचलित युवा को राष्ट्र प्रेम में लीन होते हुए दिखाया गया है; 'उरी' (2019) उरी हमले पर आधारित एक साहसिक फिल्म है, जो भारतीय सेना के गुप्त ऑपरेशन, आतंकवाद विरोधी कौशल इत्यादि को दिखाने का प्रयत्न किया गया है; 'हकीकत' (1964) 1962 के चीन और भारत युद्ध पर आधारित फिल्म है, जो भारतीय सैनिकों के बलदान और समर्पण को बहुत प्रभावी ढंग से दिखाने का प्रयास करती है; 'द गाजी अटैक' (2017) 1971 के भारत-पाक युद्ध पर आधारित फिल्म है, जो भारतीय नौसेना के कौशल को दिखाने का प्रयास करता है; 'पलटन' (2018) 1967 के भारत-चीन बॉर्डर संघर्ष को प्रदर्शित करने वाला प्रभावी फिल्म है; 'एल ओ सी : कारगिल' (2003) 1999 के कारगिल युद्ध पर आधारित फिल्म है, जो जीवन्त युद्ध का प्रदर्शन और युद्ध संघर्ष को दिखाने का प्रयास करता है। भारत में बनी अनेकों फिल्में राष्ट्र प्रेम और बलिदान पर आधारित हैं, जिनसे हम न केवल मनोरंजन लेते हैं बल्कि ये फिल्में हमें सैन्य क्षमता के बारे में शिक्षित करती हैं और हमें साहस, राष्ट्र समर्पण के बारे में हमारा मार्गदर्शन भी करती हैं।

राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय सुरक्षा का अटूट सम्बन्ध

भारतीय सिनेमा में राष्ट्रवाद को अक्सर राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दों से जोड़कर प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इन प्रक्रियाओं ने राष्ट्र निर्माण में अहम भूमका निभाया है। कुछ फिल्में तो स्वतन्त्रता से पहले से ही राष्ट्र निर्माण के मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करती रही हैं, जैसे कि 'हकीकत' (1964) जो जवाहरलाल नेहरू को समर्पित और भारत-चीन युद्ध से सम्बन्धित एक फिल्म थी 'और प्रेम पुजारी' (1970) जो देश प्रेम के शीर्षक पर आधारित फिल्म है। इस फिल्म में जो चीज सामान्य रूप से विद्यमान है वह है राष्ट्र के प्रति ओत-प्रोत कर देने वाली संवेदना और भावना। भारत में अन्य अनगिनत फिल्में बनी हैं इस पृष्ठभूमि पर। इन मुद्दों के इतर जो मुद्दा हो वह है सेंसर का। भारत में अक्सर फिल्मों को सेंसर किया जाता है जो राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर संवेदनशील नहीं है या जिनसे राष्ट्र संवेदनशील सूचनाओं के लीक होने का भय है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सिनेमा ने राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दों को प्रमुखता से उठाया है। फिल्में केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं हैं,

बल्कि वे जनता में देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने, सुरक्षा एजेंसियों की भूमिका को उजागर करने और राष्ट्र विरोधी तत्त्वों के खिलाफ जनमत तैयार करने का कार्य भी करती हैं। समय के साथ, फिल्मों में राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा बदली है—जहाँ पहले युद्ध और सैन्य संघर्ष केन्द्र में होते थे, वहीं अब आतंकवाद, साइबर युद्ध, खुफिया ऑपरेशन और आन्तरिक सुरक्षा जैसे विषयों को भी स्थान दिया जा रहा है।

राष्ट्रीय सुरक्षा पर आधारित कुछ फिल्में और उनका संक्षिप्त विवेचना

युद्ध और सैन्य संघर्ष पर आधारित फिल्में

'बॉर्डर' (1997) फिल्म जे.पी. दत्ता द्वारा निर्देशित एक प्रभावी फिल्म है जो भारत-पाकिस्तान युद्ध को बहुत ही गहरी संवेदना और जिम्मेदारी से प्रदर्शित करने का प्रयत्न करती है। इस फिल्म के माध्यम से दत्ता जी ने भारतीय सेना के साहस, पराक्रम और बलिदान को बहुत ही बेहतरीन ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इस फिल्म के माध्यम से राष्ट्र, राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय मुद्दों को जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करने का एक अनोखा प्रयास किया गया है। इस फिल्म के माध्यम से दत्ता जी सेना की युद्ध नीति और उसकी तैयारी के बारे में जानकारी देते हैं। रेगिस्तानी सीमा काफी चुनौतीपूर्ण होती है, जिसके लिए विशेष प्रकार की तैयारी और योजना बनानी पड़ती है। इसके अलावा, युद्ध का रात्रि के समय किस प्रकार का प्रबन्धन होना चाहिए, इस मुद्दे को भी बड़ी संजीदगी से दिखाने का प्रयास किया गया है। अपनी सैन्य तैयारी को मजबूत रखते हुए, दुश्मन के मनोबल को कैसे गिराना है, इस फिल्म में बखूबी दिखाने का प्रयास किया गया है।

युद्ध के दौरान सैनिकों के व्यक्तिगत कहानियों के माध्यम से सैन्य बालों के मानवीय पक्ष को उजागर करते हुए उनके मनोबल को बढ़ाने का कार्य किया गया है, जिससे पूरी राष्ट्रीय सुरक्षा को बल मिल सके। साथ ही, इस फिल्म के माध्यम से सैनिकों के परिवार और समाज को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है, जिससे सैनिक समुदाय को भारतीय समाज के हर एक अंग से जोड़ा जा सके। इसके माध्यम से यह भी प्रयास किया गया है कि राष्ट्र की सुरक्षा केवल सैनिक की ही जिम्मेदारी नहीं है,

बल्कि पूरे देश और समाज की जिम्मेदारी है, जिसमें सैनिक एक अहम भूमिका निभाता है। फिल्म के माध्यम से खुफिया तंत्र को मजबूत करने पर पूरा बल दिया गया है, जिसमें सूचना के महत्त्व को गम्भीरता से लेने का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सेना के विभिन्न अंगों जैसे थल सेना, वायु सेना, जल सेना और अन्य इकाई को एक साथ सामंजस्य में रहते हुए युद्ध की योजना बनानी चाहिए। इस मुद्दे को बड़ी सजगता से दिखाने का प्रयास किया गया है। फिल्म के एक दृश्य में जब भारत के लड़ाकू विमान पाकिस्तानी टैंक पर हमला करते हैं तो युद्ध की दिशा ही बदल जाती है। संक्षेप में कहा जाये तो बॉर्डर अपने-आप में एक अद्वितीय फिल्म रही है जिससे भारतीय सैनिकों की वीरता, उनकी राष्ट्र के प्रति सत्यनिष्ठा और बलिदान को बेहतरीन ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। फिल्म में कई दृश्यों को महत्त्वपूर्ण बनाया गया है जिससे राष्ट्रहित की भावना, राष्ट्रीय सुरक्षा, मनोवैज्ञानिक युद्ध, नागरिक का सैन्य कर्तव्य इत्यादि मुद्दों पर जोर दिया जा सके। इन सभी मुद्दों को समझने में यह फिल्म कारगर साबित हुई है।

एल.ओ.सी. : कारगिल (2003) जे.पी. दत्ता द्वारा निर्देशित एक और महत्त्वपूर्ण फिल्म है। यह फिल्म 1999 के भारत-पाकिस्तान कारगिल संघर्ष पर आधारित एक प्रभावी फिल्म है। इस फिल्म के माध्यम से दत्ता जी ने भारतीय सेना के बल, संभल, आत्मबल और पराक्रम को दर्शाने का प्रयत्न किया है। सेना की रणनीतियों को उजागर करते हुए, सेना को किस प्रकार शत्रु से ऊँचाई के क्षेत्रों में सतर्क रहना चाहिए, इसको गम्भीरता से दिखाने का प्रयास किया गया है। युद्ध के समय सेना की टुकड़ी, तोप और वायुसेना का किस प्रकार सामंजस्य में प्रयोग होना चाहिए, इसको बखूबी दर्शाने का प्रयास किया गया है। इसको चरितार्थ करने के लिए, दुश्मन द्वारा कब्जा किया गया पोस्ट कैसे वापस कब्जे में लिया जाये, इसको टाइगर हिल पर हमला करके बखूबी दिखाने का प्रयास किया गया है।

कारगिल युद्ध के माध्यम से खुफिया समाचार में चूक को उजागर किया गया है, जिससे यह सन्देश देने का प्रयास किया गया है कि खुफिया तंत्र को मजबूत रखना कितना आवश्यक है। सतर्कता और समय पर सुचना मिलना सैन्य शक्ति के बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है और एक चूक युद्ध का कारण भी बन सकती है। इसके अलावा, युद्ध के दौरान सैनिक को चौकन्ना रहना होता है

और अपने आत्मबल और विश्वास को बनाये रखना होता है। इसलिए इस फिल्म में दत्ता जी ने देशभक्ति, मानसिक बल, निःस्वार्थ बलिदान और लगाव को बखूबी दर्शाने का प्रयत्न किया है। दत्ता जी पुनः सैनिकों को समाज और उनके परिवारों से बेहतरीन ढंग से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं, जिसमें नागरिक और सैनिक भाईचारे एक अटूट बन्धन में बँधे दिखाई देते हैं। इस फिल्म के माध्यम से भारतीय सेना की अदम्य साहस और आत्मबल को दर्शाया गया है कि कैसे विषम परिस्थिति में भी भारतीय सेना विजय प्राप्त करती है। घुसपैठ को रोकना अति आवश्यक है, इस फिल्म में इस मुद्दे को बड़ी गम्भीरता से प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में, यह फिल्म राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण फिल्म है जो भारतीय जनमानस को सैन्य मुद्दों से कम-से-कम मानसिक स्तर पर बखूबी जोड़ने का प्रयास करती है।

'उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक' (2019) आदित्य धर द्वारा निर्देशित फिल्म है एक महत्त्वपूर्ण फिल्म है जो 2016 में भारतीय सेना द्वारा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर (PoK) में किये गये सर्जिकल स्ट्राइक पर आधारित एक प्रभावी फिल्म है। इस फिल्म के माध्यम से भारतीय सेना की रणनीतिक क्षमता, आतंकवाद के खिलाफ आक्रामक नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा के बदलते परिदृश्य को उजागर करने का प्रयत्न किया गया है। इस फिल्म में आतंकवाद से उपजती चुनौतियों का कैसे सामना किया जाये, इसको प्रदर्शित करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है; सीमा पर हो रहे घुसपैठ और आतंकवादी गतिविधियों को विशेष रूप से प्रकाश में लाया गया है। सूत्रों के हवाले से पता चला था कि उरी हमले में कुल 19 भारतीय सैनिक शहीद हुए थे, लेकिन राष्ट्रहित में यह कितना उचित है, यह मुद्दे की गम्भीरता पर निर्भर करता है। भारत की अब तक की रक्षा नीति में सुरक्षात्मक नीति अपनाई गयी है, लेकिन समय आ गया है कि अब प्रतिक्रिया आधारित हमले भी किये जायें।

इस फिल्म के माध्यम से निर्देशक आदित्य धर भारतीय सैन्य रणनीति और पारंगत कौशल को भी दिखाने का प्रयास कर रहे हैं। सर्जिकल स्ट्राइक के समय विशेष बलों (स्पेशल फोर्स) द्वारा अपनाई गयी रणनीति, उच्च तकनीक ड्रोन निगरानी और रात्रि हमले की तकनीक का बहुत ही बेहतरीन ढंग से चित्रण किया गया है। सैन्य अभियानों में सूचना प्रौद्योगिकी, साइबर

सर्विलांस और ड्रोन वारफेयर की भूमिका को भी प्रभावी रूप से दिखाने का प्रयास किया गया है।

खुफिया तंत्र दूसरा अहम हिस्सा है फिल्म का जिसमें सफल सैन्य अभियानों के लिए खुफिया जानकारी की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह दिखाने का प्रयास किया गया है। आतंकवादियों के ठिकानों की सटीक पहचान और लक्षित हमलों के लिए रॉ (रिसर्च एंड एनालिसिस विंग), मिलिट्री इंटेलिजेंस और अन्य एजेंसियों के साथ सामंजस्य को बहुत ही बखूबी दिखाने का प्रयास किया गया है। इससे यह भी पता चलता है कि आज के तारीख में सूचना युद्ध (इनफार्मेशन वारफेयर) कितना महत्त्वपूर्ण हो गया है।

आतंकवाद और आन्तरिक सुरक्षा पर आधारित फिल्में

'सरफरोश' (1999) फिल्म एक हिन्दी एक्शन-थ्रिलर फिल्म है और इसका निर्देशन जॉन मैथ्यू मैथन ने किया है। यह फिल्म आतंकवाद, सीमा पर घुसपैठ, तस्करी और खुफिया एजेंसियों के संघर्ष और सतर्कता को दिखाने का प्रयास करता है। फिल्म भारतीय पुलिस सेवा (IPS) अधिकारी अजय राठौड़ (आमिर खान) के जीवन पर केन्द्रित है, जो आतंकवाद और अवैध हथियारों की तस्करी के जाल को सामने लाने का बहुत ही बहादुरी और ईमानदारी से प्रयास करते हैं। फिल्म के माध्यम से निर्देशक राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं को सामने लाने का प्रयास करता है, जैसे कि आन्तरिक सुरक्षा, आतंकवाद, सीमा पर संगठित अपराध, खुफिया तंत्र और पुलिस तंत्र की अनेक चुनौतियाँ और मुद्दे। फिल्म के माध्यम से दिखाया गया है कि पाकिस्तान से प्रायोजित आतंकवादी गतिविधियाँ भारत कि आन्तरिक सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा है। पाकिस्तान द्वारा किये गये कारनामे जैसे हथियारों और विस्फोटकों की तस्करी सीमा पार से होने वाले अपराधों और आतंकवादियों को मिलने वाली सहायता को उजागर करती है।

फिल्म में दिखाया गया है कि भारतीय पुलिस और खुफिया एजेंसियों को आतंकवाद से निपटने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आए दिन जाँच एजेंसियों को आन्तरिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक हस्तक्षेप और संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ता है। निर्देशक अजय राठौड़ के

किरदार माध्यम से यह दर्शाता है कि समर्पित और ईमानदार पुलिस अधिकारी आतंकवाद के खिलाफ कैसे लड़ सकते हैं। इस फिल्म में यह भी दर्शाया गया है कि राष्ट्रीय सुरक्षा सिर्फ सीमाओं तक सीमित नहीं होती, बल्कि देश के भीतर भी सुरक्षा के खतरे देखने को मिलते हैं। हथियारों की तस्करी और आतंकवादियों को देश के भीतर सहयोग मिलने से आन्तरिक सुरक्षा पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। माफिया तंत्र और राजनीतिक संरक्षण आतंकवाद को बढ़ावा देते हैं, जिससे कानून-व्यवस्था प्रभावित होती है। आतंकवाद विरोधी अभियानों में पुलिस बल और जाँच एजेंसियों के समक्ष मौजूद व्यावहारिक कठिनाइयों को फिल्म माध्यम से बेहतरीन ढंग से दिखाया गया है। पुलिस को सीमित संसाधनों, भ्रष्टाचार और राजनीतिक हस्तक्षेप का सामना करना पड़ता है। जमीनी स्तर पर काम करने वाले अधिकारियों को सूचना की कमी और उच्च स्तर की नौकरशाही बाधाओं के चलते बहुत सी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है।

इस फिल्म में यह भी बखूबी दिखाने का प्रयास किया गया है कि राष्ट्रीय सुरक्षा में कला और संस्कृति का दुरुपयोग कैसे किया जाता है। फिल्म में यह भी दिखाया गया है कि कलाकारों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की आड़ में देश-विरोधी गतिविधियाँ हो सकती हैं। गुलफाम हसन (नसीरुद्दीन शाह) का किरदार दर्शाता है कि कैसे कुछ लोग दो देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों का उपयोग अपने गुप्त उद्देश्यों के लिए कर सकते हैं। हमें इस पर नजर रखनी चाहिए। यह पहलू सॉफ्ट पावर डिप्लोमेसी की ओर संकेत करता है, जिसका उपयोग देश में किया जा सकता है। संक्षेप में, यह फिल्म ऐसी फिल्म है जो न केवल मनोरंजन प्रदान करती है, बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा की जटिलताओं पर गम्भीरता से सोचने के लिए मजबूर भी करती है।

'अ वेडनेसडे' (2008) नीरज पांडे द्वारा निर्देशित एक प्रभावी थ्रिलर फिल्म है, जो शहरी आतंकवाद, पुलिस प्रशासन, खुफिया तंत्र और नागरिक आक्रोश जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों को जनमानस के सामने उजागर करती है। यह फिल्म एक बेनाम आम नागरिक (नसीरुद्दीन शाह) पर आधारित है, जो आतंकवाद से त्रस्त होकर कानून अपने हाथ में लेता है और न्याय की नयी परिभाषा पर अकेले काम करता है। फिल्म के माध्यम से निर्देशक नीरज पांडे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि शहरी आतंकवाद किस तरह एक

बड़ा खतरा है राष्ट्रहित के लिए। पुलिस और खुफिया तंत्र को हर समय आतंकवादी हमलों का खतरा बना रहता है और इसके लिए जरूरी है कि आतंकवादी संगठनों की सक्रियता और उनकी जमीनी पकड़ को उजागर किया जाता है। फिल्म दिखाने का प्रयास किया गया है कि पुलिस प्रशासन (अनुपम खेर द्वारा निभाया गया किरदार) तेजी से फैसले लेता है, लेकिन कई बार उनकी कुछ सीमाएँ भी दिखती हैं। सूचना एकत्र करने और तत्काल कार्रवाई करने में खुफिया एजेंसियों की भूमिका अहम होती है। आधुनिक तकनीक और निगरानी प्रणाली के महत्त्व को भी विशेष रूप से प्रदर्शित किया गया है।

फिल्म का केन्द्रबिन्दु यह है कि क्या आतंकवादियों को कानूनी प्रक्रिया के तहत सजा दी जानी चाहिए या आम जनमानस को खुद ही न्याय करना होगा? आम नागरिक (नसीरुद्दीन शाह) यह महसूस करता है कि न्यायपालिका और प्रशासन आतंकवाद से लड़ने में असफल हो रहे हैं। लेकिन फिल्म यह भी इशारा करती है कि यह विचार भीड़तंत्र और सतर्कता के नाम पर कानून अपने हाथ में लेने के खतरे भी हैं। मीडिया को भी सन्तुलन में रहना होगा ताकि आतंकवाद से जुड़ी खबरों को सनसनीखेज बनाकर प्रस्तुत ना किया जाये। ब्रेकिंग न्यूज के चक्कर में कई बार गोपनीय सुरक्षा से सम्बन्धित जानकारी लीक हो जाती है, इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। आतंकवाद को मीडिया का उपयोग करके भी फैलाया जाता है। अगला सबसे संगीन मुद्दा है साइबर सुरक्षा का। आतंकवादी अक्सर मोबाइल नेटवर्क, इंटरनेट और संचार तकनीकों का दुरुपयोग करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आतंकवाद केवल हथियारों तक सीमित नहीं, बल्कि साइबर माध्यमों से भी फैल सकता है। यह फिल्म एक विचार योग्य फिल्म है जो हमें सुरक्षा के विभिन्न पहलुओं पर सोचने के लिए बाध्य करती है।

'बेबी' (2015) फिल्म नीरज पांडे द्वारा निर्देशित एक प्रभावी स्पाई-थ्रिलर फिल्म है, जिसके माध्यम से भारतीय खुफिया तंत्र और आतंकवाद निरोधी अभियानों को प्रभावी रूप से दिखाने का प्रयास किया गया है। फिल्म का मुख्य किरदार अजय सिंह राजपूत (अक्षय कुमार) एक गुप्त मिशन पर काम करता है, जो अन्तरराष्ट्रीय आतंकवादी खतरों को खत्म करने से सम्बन्धित है। फिल्म में सीमा पर आतंकवाद, गुप्त ऑपरेशन, खुफिया एजेंसियों की

कार्यशैली, आतंकवाद के बदलते स्वरूप और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति भारत के रुख और नीति को विशेष रूप से प्रदर्शित करता है। फिल्म के माध्यम से नीरज पांडे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि आतंकवाद केवल भारत की आन्तरिक समस्या नहीं है, बल्कि इसे पड़ोसी देशों से भी बढ़ावा मिलता रहता है। फिल्म में मौलाना मोहम्मद रहमान जैसे चरित्र आतंकवादी संगठनों के तंत्र को उजागर करते हैं, जो भारत-विरोधी गतिविधियों को संगठित करने में लगे होते हैं। फिल्म आतंकवाद से निपटने के लिए आक्रामक और गुप्त अभियानों की आवश्यकता को बखूबी दर्शाती है। फिल्म भारतीय खुफिया एजेंसी और अन्य आतंकवाद-निरोधी संगठनों की कार्यप्रणाली को प्रभावी ढंग से दिखाने का प्रयास करती है। गुप्त ऑपरेशन, एजेंटों की गोपनीयता बनाये रखना और सीमित संसाधनों से ही आतंकवादियों को पकड़ना इत्यादि बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया गया है।

बेबी नाम से एक विशेष टास्क फोर्स अस्थायी रूप से बनाई जाती है, जो कि आतंकवादियों को उनकी योजना से पहले ही खत्म करने के लिए सक्रिय रहती है। फिल्म भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा नीति में रक्षात्मक से आक्रामक रुख की ओर संकेत करती है। "दूसरा हमला सहने से बेहतर है कि पहले ही खतरे को खत्म कर दिया जाये"—यह विचार सर्जिकल स्ट्राइक और आतंकवाद विरोधी अभियानों की ओर इशारा करता है। यह रणनीति भारत की वास्तविक आतंकवाद-निरोधी नीतियों से प्रभावित है। उदाहरण के लिए, 2016 की सर्जिकल स्ट्राइक और 2019 का बालाकोट एयर स्ट्राइक। आगे, फिल्म में यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि आतंकवाद एक वैश्विक समस्या है, और भारत को अपने राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अन्य देशों के साथ मिलकर इसके खिलाफ लड़ना होगा। फिल्म में भारत की विदेश नीति और कूटनीति को महत्त्वपूर्ण रूप से दिखाया गया है। फिल्म में अनेकों दृश्य मध्य पूर्व, नेपाल और अन्य देशों में आतंकवादियों की तलाश और गुप्त अभियानों पर केन्द्रित हैं। फिल्म में यह भी दिखाया गया है कि गुप्त एजेंटों को सरकार से आधिकारिक समर्थन नहीं मिलता, जिससे उनकी सुरक्षा खतरे में होती है। एजेंटों को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अभियान चलाते समय कई कानूनी और राजनीतिक बाधाओं का सामना भी करना पड़ता है। फिल्म अनेकों आयाम जनमानस के समक्ष रखने का प्रयास करती है।

जासूसी और खुफिया एजेंसियों की भूमिका पर आधारित फिल्में

'राजी' (2018) फिल्म को मेघना गुलजार ने निर्देशित किया है जो सच्ची घटनाओं पर आधारित जासूसी-थ्रिलर फिल्म है। यह हरिंदर सिक्का के उपन्यास 'कॉलिंग सेहमत' पर आधारित है, जो 1971 के भारत-पाक युद्ध से पहले एक भारतीय महिला जासूस की सच्ची कहानी के बारे में है। फिल्म में मुख्य किरदार के रूप में सेहमत (आलिया भट्ट) एक भारतीय खुफिया एजेंट है, जिसे पाकिस्तानी सैन्य अधिकारी से शादी करवाकर पाकिस्तान भेजा जाता है, ताकि वह महत्त्वपूर्ण खुफिया जानकारी भारत को प्रदान कर सके। इस फिल्म के माध्यम से मेघना गुलजार राष्ट्रीय सुरक्षा, जासूसी अभियानों, खुफिया एजेंसियों की रणनीतियों और युद्ध से पहले के तैयारियों के बारे में विस्तार से चित्रण करती है। फिल्म में भारतीय खुफिया एजेंसी रिसर्च एंड एनालिसिस विंग की रणनीतियों को बखूबी दिखाने का प्रयास किया गया है। फिल्म के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जासूसी राष्ट्र की सुरक्षा को मजबूत करने में कितना महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आगे, यह देखने को मिलता है कि गुप्त सूचनाएँ जुटाने के लिए एजेंटों को व्यक्तिगत और नैतिक बलिदान भी देने पड़ते हैं, जिसमें सरकार भी कभी-कभी हाथ खड़े कर लेती है। राजी भारतीय महिला खुफिया अधिकारियों के योगदान को बखूबी दिखाती है, जिन्हे अक्सर अनदेखा कर दिया जाता है। सेहमत को एक पुरुष-प्रधान क्षेत्र में खुफिया ऑपरेशन का हिस्सा बनते हुए दिखाया गया है। फिल्म दिखाती है कि गुप्त एजेंटों को न केवल मानसिक और शारीरिक रूप से मजबूत होना पड़ता है, बल्कि कई बार वे राष्ट्रहित में अपनी पहचान और भावनाओं का भी त्याग करते हैं।

फिल्म में यह दर्शाया गया है कि 1971 के युद्ध से पहले भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव चरम पर था। यह भी दिखाया गया है कि कैसे दोनों देशों के खुफिया तंत्र एक-दूसरे की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखते हैं। फिल्म में सीमा-पार जासूसी अभियानों की नैतिकता पर भी सवाल उठाया गया है: क्या देश की सुरक्षा के लिए किसी व्यक्ति की निजी जिन्दगी दाँव पर लगानी चाहिए? सेहमत को अपने पति और ससुराल वालों से झूठ बोलना पड़ता है, और अन्त में धोखा देकर और हत्या करके मिशन पूरा करना पड़ता है।

इससे यह पता चलता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा और जासूसी अभियानों में लगे लोगों की निजी जिन्दगी और भावनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। फिल्म में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि युद्ध केवल सैन्य ताकत से नहीं, बल्कि खुफिया सूचनाओं के सही प्रयोग से भी जीता जाता है। एक दृश्य में यह देखा जा सकता है कि कैसे सेहमत के माध्यम से भारतीय एजेंसियों को पाकिस्तान की नौसेना की रणनीतियों की जानकारी मिलती है, जिससे 1971 के युद्ध में भारत को बहुत मदद मिलती है।

'मद्रास कैफे' (2013) फिल्म सुजीत सरकार ने निर्देशित किया है, जो कि एक राजनीतिक थ्रिलर फिल्म है। यह फिल्म भारतीय खुफिया एजेंसियों, श्रीलंका में गृहयुद्ध और पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की हत्या के इर्द-गिर्द घूमती है। फिल्म का मुख्य पात्र विक्रम सिंह (जॉन अब्राहम) एक भारतीय खुफिया अधिकारी हैं, जिसे श्रीलंका में उग्रवादी संगठन एल.टी.एफ. (लिट्टे से प्रेरित) और वहाँ भारत की भूमिका को समझने और उसे संभालने के लिए भेजा जाता है। फिल्म राष्ट्रीय सुरक्षा, कूटनीति, खुफिया तंत्र, आतंकवाद, उग्रवाद और भारतीय उपमहाद्वीप की भू-राजनीति पर गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करती है। मद्रास कैफे में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि भारत को अपने पड़ोसी देशों में स्थिरता बनाये रखने के लिए कूटनीतिक और सैन्य हस्तक्षेप बड़ी सजगता से करना चाहिए। उदाहरण के लिए, श्रीलंका में गृहयुद्ध के दौरान भारत ने शान्ति सेना (IPKF) भेजी थी, लेकिन यह मिशन बहुत सफल नहीं हो पाया था। आगे, फिल्म में यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि विदेशी संघर्षों में सैन्य हस्तक्षेप करने के नकारात्मक परिणाम भी हो सकते हैं, जैसे कि भारत के सैकड़ों सैनिक शहीद हुए थे इस मिशन में। फिल्म में यह देखा जा सकता है कि भारतीय खुफिया एजेंसियों को आतंकवादियों की गतिविधियों और राजीव गांधी की हत्या की योजना के बारे में पहले से ही संकेत मिल चुके थे, लेकिन समय पर कार्रवाई नहीं कर पाने की वजह से उनकी हत्या हो गयी।

फिल्म से निष्कर्षत: यह स्पष्ट होता है कि खुफिया तंत्र को मजबूत करना कितना महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उनका उचित समय पर प्रयोग करना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिल्म के माध्यम से भारत की आन्तरिक सुरक्षा एजेंसियों और उनकी कार्यप्रणाली की खामियों को भी सामने रखने का

प्रयास किया गया है। फिल्म में यह भी दिखाया गया है कि विदेशी शक्तियाँ (पश्चिमी देश) और निजी एजेंसियाँ भी घरेलू मामले में हस्तक्षेप करते रहते हैं। यह अपने-आप में भारत की आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा नीतियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण सीख है कि उग्रवाद और आतंकवाद को केवल सैन्य बल से नहीं, बल्कि कूटनीतिक और राजनीतिक उपायों से भी नियंत्रित किया जाना चाहिए। नीरज पांडे यह भी दर्शाने का प्रयास करते हैं कि राजनीतिक हत्याएँ केवल एक व्यक्ति की जान नहीं लेतीं, बल्कि पूरे देश की सुरक्षा और व्यवस्था को भी प्रभावित करती हैं। खुफिया तंत्र में अहम भूमिका मीडिया और प्रचार का भी होता है और गलत सूचना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए एक बड़ा खतरा बन सकता है। अक्सर आतंकवादी संगठन मीडिया के माध्यम से अपनी विचारधारा फैलाने और जनता को प्रभावित करने की कोशिश करते रहते हैं। संक्षेप में, मद्रास कैफे राष्ट्रीय सुरक्षा और खुफिया तंत्र की जटिलताओं पर गम्भीर बहस को जन्म देने वाली एक विचारणीय फिल्म है।

यशराज फिल्म्स के बैनर के तले टाइगर फ्रेंचाइजी (2012-2023) के अन्तर्गत अब तक तीन फिल्में आई हैं, जिसमें 'एक था टाइगर' (2012), 'टाइगर जिन्दा है' (2017) और 'टाइगर 3' (2023) शामिल हैं। ये फ्रेंचाइजी फिल्में भारतीय खुफिया एजेंसी (RAW) और पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी (ISI) के एजेंटों, आतंकवाद, वैश्विक खतरों और राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े अभियानों पर आधारित एक काल्पनिक कृति है, जो बहुत ही रुचिकर है। इन फिल्मों के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा, आतंकवाद से लड़ाई, खुफिया अभियानों की रणनीति और भारत-पाक सम्बन्धों को नाटकीय रूप दिया गया है। ये फिल्में दर्शाती हैं कि रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ) न केवल भारत की सुरक्षा में बल्कि वैश्विक स्तर पर आतंकवाद से निपटने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। 'टाइगर जिन्दा' है में रॉ और आई.एस.आई. के एजेंट मिलकर इराक में फँसे भारतीय और पाकिस्तानी नागरिकों को बचाने का मिशन पूरा करते हैं, जिससे मानवीय संकट के दौरान खुफिया एजेंसियों की एक अलग भूमिका को देखा जा सकता है। 'एक था टाइगर' और 'टाइगर 3' दोनों फिल्मों में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि आतंकवादी संगठन विभिन्न देशों में सक्रिय हैं और उनकी गतिविधियाँ केवल एक देश या क्षेत्र तक सीमित नहीं होती हैं। इन फिल्मों यह सन्देश मिलता है

कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई वैश्विक स्तर पर होनी चाहिए और इसमें खुफिया एजेंसियों की अहम भूमिका होती है। 'टाइगर जिन्दा' है में आइसिस से प्रेरित आतंकवादी संगठन (आई.एस.सी.) द्वारा नर्सों को बन्धक बनाये जाने की घटना एक सच्ची घटना पर आधारित है, जो 2014 में इराक में भारतीय नर्सों के अपहरण से प्रेरित है।

टाइगर फ्रेंचाइजी एक बेहतरीन कल्पना प्रस्तुत करती है जिसमें भारतीय और पाकिस्तानी खुफिया एजेंसियाँ आपस में एक-दूसरे का सहयोग करती दिख रही हैं। हालाँकि, वास्तविकता में भारत और पाकिस्तान के बीच ऐसा सहयोग नहीं देखा जाता है, लेकिन इन फिल्मों के माध्यम से यह सन्देश और प्रेरणा मिलता है कि राष्ट्रीय हितों से ऊपर मानवीय मूल्यों को हमेशा रखना चाहिए। टाइगर और जोया का प्रेम प्रसंग इस बात को दर्शाता है कि भारत और पाकिस्तान के नागरिकों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्धों में कोई कड़वाहट नहीं है, लेकिन राजनीतिक तनाव मुख्य रूप से बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। इन फिल्मों में यह देखा जा सकता है कि सीमा पार खुफिया मिशन केवल शक्ति प्रदर्शन से नहीं, बल्कि चतुराई और कूटनीति से पूरे किये जाते हैं। 'टाइगर 3' में टाइगर को देशद्रोही घोषित कर दिया जाता है, जिससे यह पता चलता है कि कई बार जासूसों को अपनी ही सरकार स्वीकार करने से इनकार कर देती है ताकि विश्व पटल पर उनकी नाक न कटे।

आजकल, राष्ट्रीय सुरक्षा केवल सैन्य अभियानों तक सीमित नहीं है, बल्कि साइबर युद्ध, सूचना नियंत्रण और मीडिया प्रचार और दुष्प्रचार भी अहम भूमिका निभाते हैं। 'टाइगर 3' में फेक न्यूज और सरकार के खिलाफ साजिशें दिखाती हैं कि भविष्य में राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए साइबर खतरों को गम्भीरता से लेना पड़ेगा, जिसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकेगा। हालाँकि, अतिनाटकीयता और वास्तविक खुफिया अभियानों की वास्तविकता से भटकाव कुछ चिन्ताओं को जन्म देता है। इसलिए श्रोता को अपनी आँख और कान खोलकर इन फिल्मों को देखना चाहिए और अपने विवेक का इस्तेमाल करना चाहिए।

साहित्य के माध्यम से सुरक्षा की कल्पना

साहित्य अपने-आप में राष्ट्रीय सुरक्षा का अधिक आत्मनिरीक्षण करने वाला अन्वेषण प्रस्तुत करता है, जो इसके नैतिक और मनोवैज्ञानिक आयामों को बड़ी सरलता से दिखाता है। जॉर्ज ऑरवेल का 1984 (1949) एक महत्त्वपूर्ण आलोचना बना था, जो सुरक्षा के नाम पर राज्यों पर निगरानी के खतरों की चेतावनी देता है। यह एक ऐसा विषय है जो डिजिटल निगरानी के युग में तेजी से प्रासंगिक हो गया है। भारतीय सन्दर्भ में, खुशवंत सिंह का 'ट्रेन टु पाकिस्तान' (1956) विभाजन के दौरान सुरक्षा विफलताओं की मानवीय कीमत को दर्शाता है, जो एक ऐतिहासिक दुर्घटना को साहित्यिक गहराई के साथ जोड़ता है। समकालीन साहित्य में साइबर युद्ध और जासूसी जैसे आधुनिक खतरों को सम्बोधित करने यथासम्भव प्रयास किया जाता रहा है। जॉन ले कैरे जैसे लेखक, जिनके कार्य जैसे 'टिंकर टेलर सोल्जर स्पाय' (1974) और भारतीय लेखक रवि सुब्रमण्यन, जिनके उपन्यास जैसे 'द बैंकस्टर' (2012), राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ विभिन्न पहलुओं को खोजने का प्रयास करते हैं। ये रचनाएँ पाठकों को पारम्परिक युद्धक्षेत्रों से परे सुरक्षा पर विचार करने को मजबूर कर देते हैं, जो बोर्डरूम और साइबरस्पेस में लड़ी जाने वाली अदृश्य लड़ाइयों पर जोर देती हैं। कल्पना को प्रेरित करते हुए, साहित्य सुरक्षा के मुद्दों के साथ गहरे जुड़ाव को बढ़ावा देता है, लेकिन इसकी पहुंच सिनेमा के व्यापक आकर्षण से अक्सर कम होती है और काम प्रभावी होती है और इसकी पहुँच सिर्फ पढ़े-लिखे जनमानस तक ही सीमित है।

पारम्परिक मीडिया से जनमत को आकार देना

पारम्परिक मीडिया जैसे समाचार-पत्र, टेलीविजन और रेडियो ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीय सुरक्षा की जानकारी के सुरक्षा कवच रहे हैं। 2008 में 26/11 मुंबई हमलों की भारतीय समाचार चैनलों द्वारा लाइव दिखाने में मीडिया की दोहरी भूमिका को देखा गया था। जनता को सूचित करना और साथ ही डर और तात्कालिकता को बढ़ाना एक नया चुनौती है सरकार के सामने। इसी तरह 9/11 हमलों के वैश्विक प्रसारण ने आतंकवाद को एक

साझा अन्तरराष्ट्रीय संकट में बदलकर रख दिया था, जिससे आतंकवाद के खिलाफ युद्ध के लिए समर्थन जुटाया जा सके।

फिर भी, पारम्परिक मीडिया का प्रभाव दोषों से मुक्त नहीं है। सुरक्षा खतरों को रिपोर्टिंग में सनसनीखेज तरीके से प्रस्तुत करना तथ्यों को तोड़-मरोड़ सकती है और सरकारों पर त्वरित प्रतिक्रिया के लिए दबाव बना सकती है। 24 घण्टे के समाचार चक्रों ने इस प्रवृत्ति को और तेज कर दिया है, जो सत्यता से अधिक तीव्रता को प्राथमिकता देता है। हालाँकि मीडिया जवाबदेही के लिए आवश्यक है क्योंकि यह सुरक्षा चूक या सरकारों की कमियों को उजागर करता है। साथ ही, यह प्रोपेगैंडा का साधन भी बन सकता है जब राज्य या कॉरपोरेट पूरी तरह से इसे नियंत्रित करें तो। इसकी कहानियों को आकार देने की शक्ति इसे दोधारी तलवार बनाती है, जो सुरक्षा की दृष्टि से बहुत ही गम्भीर मामला है।

सोशल मीडिया और राष्ट्रीय सुरक्षा

आज के आधुनिक युग में सोशल मीडिया राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सबसे बड़ी चुनौती और अवसर दोनों एक साथ बनकर उभरा है। सोशल मीडिया जैसे ट्विटर (अब X), फेसबुक, इंस्टाग्राम, यूट्यूब और टिकटॉक ने सूचना प्रसार को लोकतांत्रिक बना दिया है। लेकिन इस लोकतांत्रिकता के साथ फेक न्यूज, दुष्प्रचार और साइबर युद्ध जैसी चुनौतियाँ भी सामने उभरकर सामने आई हैं, जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो रहे हैं। सरकार ने इस खतरे को ध्यान रखते हुए कई चीनी एप्प्स जैसे टिकटॉक, शेयरइट, वीचैट और यूसी ब्राउजर पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इन सभी एप्प्स पर आरोप था कि वे भारतीय उपयोगकर्ताओं की सूचना और जानकारी चीन सरकार को भेज रहे हैं, जिससे साइबर सुरक्षा और राष्ट्रीय अखंडता और सुरक्षा को खतरा है।

रूस, चीन और मध्य पूर्व के कई देश अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिए सोशल मीडिया पर कड़े नियंत्रण रखते हैं। चीन ने गूगल, फेसबुक, इंस्टाग्राम और यूट्यूब जैसे विदेशी प्लेटफॉर्म्स को प्रतिबन्धित कर दिया है और उनकी जगह अपने ही देश में बने हुए वीबो (Weibo), वीचैट (WeChat) और बायडू (Baidu) जैसे स्वदेशी प्लेटफॉर्म विकसित किये हैं।

रूस ने भी अपनी डिजिटल सम्प्रभुता को मजबूत करने के लिए वीके (VKontakte) और यांडेक्स (Yandex) जैसे प्लेटफॉर्म बनाये हैं और कई पश्चिमी सोशल मीडिया कम्पनियों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए हैं। इन प्रयासों से रूस और चीन ने बहुत हद तक अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को अपने नियंत्रण में रखा हुआ है।

भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे केवल सैन्य संघर्षों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि साइबर सुरक्षा, सूचना युद्ध और सांस्कृतिक प्रभावों तक फैले हुए हैं। हम सिनेमा, साहित्य, मीडिया और सोशल मीडिया में राष्ट्रीय सुरक्षा के बदलते विमर्श को समझने का प्रयास करेंगे। हम देखेंगे कि कैसे सिनेमा ने देशभक्ति और युद्ध को प्रस्तुत किया, कैसे साहित्य ने रणनीतिक सोच को आकार दिया, कैसे पारम्परिक मीडिया ने राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दों को जनता तक पहुँचाया, और अब कैसे सोशल मीडिया राष्ट्रीय सुरक्षा का नया रणक्षेत्र बन चुका है। भारत को भविष्य में अपनी डिजिटल सम्प्रभुता को और मजबूत करने की आवश्यकता होगी, जिससे बाहरी शक्तियाँ देश की सुरक्षा और सामाजिक संरचना को प्रभावित न कर सकें। इस पुस्तक में इन सभी विषयों पर गहराई से चर्चा किया गया है और यह समझने का प्रयास किया गया है कि लोकप्रिय संस्कृति किस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणा को गढ़ती है और नीति निर्माण को प्रभावित करती है।

हम देख सकते हैं कि 2025 तक, AI टूल्स और डीपफेक का एकीकरण इस अलग जटिलता को जन्म देता है, जिसके गलत प्रयोग से राष्ट्रीय सुरक्षा के कमजोर होने की चिन्ताएँ बढ़ रही हैं। सोशल मीडिया की अनियंत्रित प्रकृति इसे जागरूकता का उपकरण और सम्भावित खतरा दोनों बनाती है। इसके लिए आवश्यक है कि शासन और साक्षरता की नयी रणनीतियों पर ध्यानपूर्वक कार्य किया जाये।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि लोकप्रिय संस्कृति में राष्ट्रीय सुरक्षा एक गतिशील और निरन्तर विकसित होने वाली घटना है, जो सिनेमा, साहित्य, मीडिया और सोशल मीडिया की शक्ति और सीमाओं से अपना आकार लेती रहती है। ये सभी माध्यम सामूहिक रूप से सामाजिक चिन्ताओं, आकांक्षाओं और

मूल्यों को प्रतिबिम्बित करते हैं। साथ ही, सुरक्षा को समझने और सम्बोधित करने के तरीके को भी प्रभावित करते हैं। जैसे-जैसे तकनीक आगे बढ़ती है और वैश्विक खतरे अनगिनत होते हैं (जैसे कि आतंकवाद, साइबर हमले और गलत सूचना इत्यादि) लोकप्रिय संस्कृति की भूमिका केवल बढ़ती ही जाती है। इन सभी सम्भावनाओं का उपयोग करने के लिए, समाज और राष्ट्र को रचनात्मक स्वतन्त्रता और जवाबदेही के बीच सन्तुलन बनाना होगा। यह सुनिश्चित करना होगा कि ये शक्तिशाली उपकरण शिक्षित करें और एकजुट करें, न कि भटकाएँ या विभाजित करें। एक वैश्विक और परस्पर जुड़े विश्व में, सुरक्षा के बारे में हम जो कहानियाँ जनमानस को सुनाते हैं, वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि इसे बचाने के लिए हम जो रणनीतियाँ बनाते हैं।

❑❑

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- अभिनवगुप्त, 2002, श्रीतन्त्रालोकः, अनुवादक राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- अभिनवगुप्त, 2002, तन्त्रसारः 'नीरक्षीर विवेक', हिन्दी भाष्य संवलितः, दो भाग, अनुवादक परमहंस मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- आत्रेय, भीखनलाल, 1986, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, श्रीकृष्ण जन्म स्थान सेवा-संस्थान, मथुरा।
- ओझा, मधुसूदन, 1990, ब्रह्म विज्ञान, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।
- ओझा, मधुसूदन, 1990, ब्रह्म सिद्धान्त, अनुवादक देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।
- इकबाल, मुहम्मद, 1996, इस्लाम में धार्मिक चिन्तन की पुनर्रचना, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- उपाध्याय, भरत सिंह, 1996, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भागों में), मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
- उपाध्याय, पं दीनदयाल, 2001, राष्ट्र-चिन्तन, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ।
- उपाध्याय, बलदेव, 2000, भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी।
- करपात्री जी, स्वामी, 2003, भक्ति-सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।
- करपात्री जी, स्वामी, 2003, श्रीभागवत-सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।
- कालेलकर, काकासाहब, 2000, गांधीजी का रचनात्मक क्रांतिशास्त्र, खंड-1 एवं 2, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

- कविराज, गोपीनाथ, 1984, भारतीय साधना की धारा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
- केडिया, कुसुमलता और मिश्र, रामेश्वर, गांधीजी और ईसाइयत, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
- कुमार, जैनेन्द्र, 2001, गांधी और हमारा समय, पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- गांधी, मो. क., 1999, हिन्द स्वराज, अनुवाद अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।
- गांधी, मो. क., 2002, धर्म नीति, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, इलाहाबाद।
- गुप्त, महेन्द्र नाथ, 2003, श्रीरामकृष्ण वचनामृत (प्रथम एवं द्वितीय भाग) हिन्दी अनुवाद सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामकृष्ण मठ, नागपुर।
- गोयनका, सत्यनारायण, 2003, राजधर्म : कुछ ऐतिहासिक प्रसंग, बुद्धवाणी के परिप्रेक्ष्य में, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी।
- धर्माधिकारी, दादा, 1998, गांधी की दृष्टि, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- धर्माधिकारी, दादा, 1998, गांधी की दृष्टि अगला कदम, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- धर्मपाल, 1994, भारत का स्वधर्म, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
- धर्मपाल, 2003, भारत की पहचान धर्मपाल की दृष्टि में, सिद्ध, मसूरी।
- चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, 2000, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
- चतुर्वेदी, मिथिलेश, अनु., 1992, शब्दार्थ मीमांसा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- झुनझुनवाला, लक्ष्मीनिवास, 2004, विश्व धर्म-सम्मेलन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
- जायसवाल, सुवीरा, 1996, वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रन्थ शिल्पी, नयी दिल्ली।
- जैन, गोकुलचन्द्र, सं., 1983, संकाय पत्रिका श्रमणविद्या (भाग 1 एवं 2), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

- तिलक, बाल गंगाधर, 2002, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, हिन्दी अनुवाद माधवरावजी सप्रे, तिलक बन्धु, पुना।
- तिरुवल्लकर, सन्त, 1989, तमिल वेद, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- तिवारी, रामचन्द्र, सं., 2003, रामचन्द्र शुक्ल संचयिता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- द्विवेदी, दशरथ, सं., 2000, अभिनव रस-सिद्धान्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- नारायण, जयप्रकाश, 1999, लोक-स्वराज, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- परळीकर, सच्चिदानन्द, 2002, लोकनायक समर्थगुरु रामदास, लोकभारती, इलाहाबाद।
- पांडे, गोविन्द चन्द्र, 1986, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
- पांडे, गोविन्द चन्द्र, 1990, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- 'विशारद' पांडेय, रामलग्न, 1986, शिव पुराण भाषा, ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी।
- पारेख, नगीनदास, सं. 1974, अभिनव का रस-विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- पुषराज, 1994, सनातन धर्म और महात्मा गांधी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बनवारी—पंचवटी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बनवारी—महारास : प्रकृति, उत्सव और समाज, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बेगम, नूरजहाँ और हेगड़े, नन्दकुमार, 2004, किस प्रकार की है यह भारतीयता?, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
- भगवद्दत्त, पण्डित, 2004, निरुक्त शास्त्रम्, रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरियाणा।
- भारतीय, भवानीलाल, 2002, युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।

- भारतीय, भवानीलाल, 2004, योगिराज श्रीकृष्ण, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।
- मशरूवाला, कि. घ., 1959, शिक्षा में विवेक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।
- माधवाचार्य, 2001, सर्व दर्शन संग्रह, अनुवादक उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- मिश्र, विद्यानिवास, 1973, रीतिविज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानिवास, 1979, हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानिवास, 1989, भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानिवास, 1993, राहुल चयनिका, एन.बी.टी., नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानिवास, 2000, लोक और लोक का स्वर, प्रभात प्रकाशन नयी दिल्ली।
- मंत्री, गणेश, 2004, गांधी और अम्बेडकर, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- लोढ़ा, कल्याणमल और मिश्र, वसुन्धरा, सं., 2002, धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- रत्तू, नानकचन्द, 2004, डॉ. अम्बेडकर जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- रामतीर्थ, स्वामी, 1991, सनातन धर्म, श्री रामतीर्थ प्रतिष्ठान, लखनऊ।
- राव, यू.आर. तथा प्रभु आर.के. (सं.), 2002, महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली।
- राव, यू.एस. मोहन (सं.), 1994, गांधीजी : शब्दचित्र और श्रद्धांजलियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली।
- लाजपतराय, लाला, 2003, छत्रपति शिवाजी, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली।
- वर्मा, निर्मल, 1991, भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- वर्मा, निर्मल, 2000, पत्थर और बहता पानी, वाग्देवी पॉकेट बुक्स, बीकानेर।
- विनोबा, 1995, गीता-प्रवचन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।

- विद्यावारिधि, धर्मवीर, 1989, वैदिक-निघण्टु-सङ् ग्रहः, प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र, दिल्ली।
- विवेकानन्द, स्वामी, 2002, विवेकानन्द साहित्य (खंड 1 से 10), अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
- शर्मा, अमित कुमार, 2006, भारतीय संस्कृति का स्वरूप, कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2011, हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता, कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2020, भारत में सिनेमा और संस्कृति, शाओलिन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2022, सनातन धर्म का व्यावहारिक स्वरूप, शाओलिन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- शुक्ल, रामचन्द्र 1985, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, रामविलास शर्मा सं., वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शुक्ल, रामचन्द्र, संवत् 2048, रस मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
- शुक्ल, रामचन्द्र, 2002, चिन्तामणि-4, सम्पादक कुसुम चतुर्वेदी, ओमप्रकाश सिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान, वाराणसी।
- शाह, कान्तिभाई सं., 1997, गांधी : जैसा देखा-समझा विनोबा ने, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- शास्त्री, मोतीलाल, 1995, अथर्ववेदीय-प्रश्नोपनिषत्, हिन्दी विज्ञान भाष्य, राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन, जयपुर।
- श्री गुरुजी समग्र संकलन समिति, माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द 5106, श्री गुरुजी समग्र, खंड 1 से 12, डॉ. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर।
- श्री गुरुजी (मा. स. गोलवलकर), 1991, राष्ट्र, जानकी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- सप्रे, ना. वि., 2000, महाराष्ट्र के सन्त-महात्मा, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।
- सप्रे, ना. वि., 2005, समर्थ रामदास, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।
- सहस्त्रबुद्दे, पु.ग. 2003, हिन्दू-समाज संघटन और विघटन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- सहगल, मनमोहन, अनु., 1995, आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, खंड 1 से 4, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

- सरकार, सुशोभन, 1997, बंगला नवजागरण, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- सरकार, सुमित, 2002, बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन (1903-1908), ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- हालदार, मोहितकुमार, 2000, भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवादी चेतना, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- त्रिपाठी, जयशंकर लाल, 1985, काशिका न्यास-पद्मंजरी-भावबोधिनी-संहिता (भाग 1 से 10), तारा बुक एजेंसी, वाराणसी।
- त्रिवेदी, भवानीशंकर (सं.), 1992, भारत की विश्व को देन, राजधानी ग्रन्थागार, नयी दिल्ली।
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 1981, लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- भरतमुनि, 2009, नाट्यशास्त्र, चौखम्बा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 1997, आदम की डायरी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2010, साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2011, हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला, 1 और 2 भाग, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2000, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
- रे, रविन्द्र, 2017, परम्परा और समकालीन सभ्यता, मीना पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।

Bibliography

- Abhedananda, S. (1971). The complete works of Swami Abhedananda (Vols. 1-10). Ramakrishna Vedanta Math, Calcutta, India.
- Ahmed, A. S., & Hart, D. M. (Eds.). (1984). Islam in tribal societies: From the Atlas to the Indus. Routledge & Kegan Paul, London, UK.
- Ahmed, I. (Ed.). (2010). Ritual and religion among Muslims in India. Danish Books, New Delhi, India.
- Alvares, C. (1991). Decolonizing history: Technology and culture in India, China and the West 1492 to the present day. The Other India Press, Goa, India.
- Ambedkar, B. R. (2006). Buddha and his dhamma. Siddhartha Books, New Delhi, India.
- Appadorai, A. (1987). Indian political thinking in the twentieth century. South Asian Publishers, New Delhi, India.
- Appadorai, A. (1997). Modernity at large: Cultural dimensions of globalization. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Archer, M. S. (1995). Realist social theory: The morphogenetic approach. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Arntzenius, L. G. (2011). Institute for Advanced Study. Arcadia Publishing, Mount Pleasant, SC, USA.
- Aurobindo, S. (1993). Essays on the Gita. Sri Aurobindo Society, Pondicherry, India.
- Aurobindo, S. (1996). On nationalism. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.

- Aurobindo, S. (1998). The foundations of Indian culture. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Baird, R. D. (2001). Religion in modern India. Manohar, New Delhi, India.
- Balachandran, G. (2003). India and the world economy 1850-1950. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N. (1994). The heathen in his blindness: Asia, the West and the dynamic of religion (Studies in the History of Religions, Vol. 64). Brill Academic, Leiden, Netherlands.
- Balagangadhara, S. N. (2012). Reconceptualizing India studies. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N. (2014). Do all roads lead to Jerusalem? The making of Indian religions. Manohar Publishers, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N., & Rao, S. (2021). What does it mean to be 'Indian'?. Notion Press, Chennai, India.
- Bali, D. R. (1984). Modern Indian thought. Sterling Publishers, New Delhi, India.
- Barry, P. (2007). Beginning theory. Manchester University Press, Manchester, UK.
- Barth, A. (1995). The religions of India. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Baudrillard, J. (2013). The intelligence of evil or the lucidity pact. Bloomsbury, New Delhi, India.
- Bauman, Z. (1976). Towards a critical sociology. Routledge, London, UK.
- Baur, M., & Baur, S. A. (Eds.). (2006). The Beatles and philosophy: Nothing you can think that can’t be thunk. Open Court, Chicago, IL, USA.
- Beauchamp, H. K., & Dubois, A. J. (1999). Hindu manners, customs and ceremonies. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Bell, C. (1995). Ritual theory, ritual practice. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Bellah, R. N. (1967). Civil religion in America. Daedalus: Journal of the American Academy of Arts and Sciences, 96(1), 1-21. American Academy of Arts and Sciences, Cambridge, MA, USA.
- Berger, P. L., & Kellner, H. (1981). Sociology reinterpreted. Penguin, London, UK.
- Berger, P. L., & Luckmann, T. (1966). The social construction of reality: A treatise in the sociology of knowledge. Anchor Books, New York, NY, USA.
- Bharati, D. (2010). Understanding Hinduism. Munshiram Manoharlal, New Delhi, India.
- Bhargava, R. (Ed.). (1998). Secularism and its critics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Bhattacharya, S. (Ed.). (1999). The Mahatma and the poet: Letters and debates between Gandhi and Tagore 1915-1941. National Book Trust, New Delhi, India.
- Blavatsky, H. P. (1980). Studies in occultism. New Age Books, New Delhi, India.
- Bloom, H. (2005). Deconstruction and criticism. Viva Books, Chennai, India.
- Borden, C. M. (Ed.). (1989). Contemporary India: Essays on the uses of tradition. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Bose, N. K. (1948). Selections from Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Bose, N. K. (1972). Studies in Gandhism. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Bose, N. K. (1974). My days with Gandhi. Orient Longman, New Delhi, India.
- Bose, N. K. (1975). The structure of Hindu society. Orient Longman, New Delhi, India.
- Boudon, R., et al. (Eds.). (1997). The classical tradition in sociology: The European tradition (Vol. 1). Sage, New Delhi, India.
- Bourdieu, P. (1991). Language and symbolic power. Harvard University Press, Cambridge, MA, USA.

- Breckenridge, C. A. (Ed.). (1995). Consuming modernity. University of Minnesota Press, Minneapolis, MN, USA.
- Bulmer, M., & Burgess, R. G. (1986). Do concepts, variables, and indicators interrelate? In R. G. Burgess (Ed.), Key variables in social investigation (pp. 1-20). Routledge, London, UK.
- Butler, E. P. (2022). Polytheism and Indology: Lessons from The Nay Science. IndicAcademy, New Delhi, India.
- Chakravarty, S. C. (1993). Talks with Swami Vivekananda. Advaita Ashram, Belur Math, India.
- Chandra, B. (1984). The rise and growth of economic nationalism in India. Har Anand Publications, New Delhi, India.
- Chandra, B., Mukherjee, M., Mukherjee, A., Panikkar, K. N., & Mahajan, S. (1989). India's struggle for independence 1857-1947. Penguin Books, New Delhi, India.
- Chatterji, L. (Ed.). (1986). Woman image text: Feminist readings of literary texts. Trianka Publication, New Delhi, India.
- Chaturvedi, B. (1993). Dharma: India and the world order. Saint Andrew Press, Edinburgh, UK.
- Chaubey, B. B. (1992). Research projects of the Vishveshvaranand Vishwa Bandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies, Hoshiarpur. In S. Lokeswarananda (Ed.), Indology studies and research in India (pp. 50-65). The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Chetananda, S. (Ed.). (1996). Swami Vivekananda: Vedanta voice of freedom. Advaita Ashrama, Calcutta, India.
- Clausewitz, C. V. (1992). On war. Princeton University Press, Princeton, NJ, USA.
- Cohn, B. S. (1997). Colonialism and its forms of knowledge: The British in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Collins, R. (1981). Sociology since mid-century: Essays in theory cumulation. Academic Press, New York, NY, USA.

- Compilation. (1996). Gandhi's life in his own words. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Connolly, P. (1999). Approaches to the study of religion. Cassell, London, UK.
- Coomaraswamy, A. K. (1942). Spiritual authority and temporal power in the Indian theory of government. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1981). Figures of speech or figures of thought. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1987). What is civilization? And other essays. IGNCA and Oxford University Press, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1989). Time and eternity. Select Books, Bangalore, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1994). Art and Swadeshi. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1994). The transformation of nature in art. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1996). Hinduism and Buddhism. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1999). Introduction to Indian art. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2002). A new approach to the Vedas: An essay in translation and exegesis. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2004). The Indian craftsman. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2013). The dance of Shiva: Fourteen essays. Rupa Publications, New Delhi, India.
- Craig, W. L. (2001). Time and eternity. Crossway Books, Wheaton, IL, USA.
- Dallmayr, F., & Devy, G. N. (Eds.). (1998). Between tradition and modernity: India's search for identity. Sage Publications, New Delhi, India.

- Dale, G., & Polanyi, K. (2010). The limit of the market. Polity Press, Cambridge, UK.
- Das, B. (1990). Essential unity of all religions. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Das, V. (2018). Critical events. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Derett, J. D. M. (1999). Religion, law and the state in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Derrida, J. (1994). Of grammatology. Motilal Banarsidass, New Delhi, India.
- Derrida, J. (2003). Writing and difference. Routledge, New Delhi, India.
- Desai, A. R. (1959). Social background of Indian nationalism. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Desai, I. P. (1981). The craft of sociology and other essays. Narita Publications, New Delhi, India.
- Desai, M. (1995). The gospel of selfless action or the Gita according to Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Dev, B. (2001). Bipin Chandra Pal. Samskriti, New Delhi, India.
- Dhanagare, D. N. (1985). Sociology and social anthropology in South Asia: India. In Sociology and social anthropology in Asia and the Pacific (pp. 313-360). UNESCO and Wiley Eastern, New Delhi, India.
- Dhanagare, D. N. (1993). Themes and perspectives in Indian sociology. Rawat, Jaipur, India.
- Dharampal. (1971). Civil disobedience & Indian tradition. Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, India.
- Dharampal. (1993). Bharatiya chitta manas and kala. Centre for Policy Studies, Madras, India.
- Dharampal. (1999). Despoliation and defaming of India: The early nineteenth century British crusade. Other India Press, Goa, India.
- Dharampal. (2000). The beautiful tree: Indigenous Indian education in the eighteenth century. Other India Press, Goa, India.

- Dharampal. (2000). Essays on tradition, recovery and freedom. Other India Press, Goa, India.
- Dharampal. (2003). Rediscovering India. Society for Integrated Development of Himalayas, New Delhi, India.
- Dharampal. (2003). Understanding Gandhi. Other India Press, Goa, India.
- Dharwedkar, A. B. (2006). Theatres of independence: Dharma, theory and urban performance in India since 1947. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Diamond, S. (1974). In search of the primitive. Transaction-Dutton, New Brunswick, NJ, USA.
- Dirks, N. B. (2003). Castes of mind. Permanent Black, New Delhi, India.
- Diwan, R., & Lutz, M. (Eds.). (1985). Essays in Gandhian economics. Gandhi Peace Foundation, New Delhi, India.
- Downey, P. (2009). Desperately wicked: Philosophy, Christianity and the human heart. IVP Academic, Downers Grove, IL, USA.
- Dube, S. C. (Ed.). (1976). Social science realities: Role of social sciences in contemporary India. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Dumont, L. (1970). Religion, politics and history in India. Mouton, Paris, France.
- During, S. (Ed.). (1993). The cultural studies reader. Routledge, London, UK.
- Durkheim, E. (1995). The elementary forms of religious life. Free Press, New York, NY, USA.
- Dutt, R. C. (1960). The economic history of India under early British rule. Routledge, New Delhi, India.
- Eagleton, T. (2000). Literary theory: An introduction (2nd ed.). Doaba Publication, New Delhi, India.
- Eck, D. L. (2012). India: A sacred geography. Harmony Books, New York, NY, USA.
- Eisenstadt, S. N. (1976). The form of sociology: Paradigms and crises. Wiley, New York, NY, USA.

- Eliade, M. (1958). Patterns in comparative religion (R. Sheed, Trans.). Sheed & Ward, New York, NY, USA.
- Eliade, M. (1959). The sacred and the profane: The nature of religion (W. Trask, Trans.). Harcourt, Brace & World, New York, NY, USA.
- Erasov, B., & Singh, Y. (2010). The sociology of culture. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Evans-Pritchard, E. E. (1965). Theories of primitive religion. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Fabian, J. (1983). Time and the other: How anthropology makes its objects. Columbia University Press, New York, NY, USA.
- Fahim, H. (1983). Indigenous anthropology in non-Western countries. Carolina Academic Press, Durham, NC, USA.
- Felton, M. (2003). Rajaji. Katha, New Delhi, India.
- Feyerabend, P. (1978). Science in a free society. Verso, London, UK.
- Fine, W. F. (1979). Progressive evolutionism and the making of American sociology, 1890-1920. UMI Research Press, Ann Arbor, MI, USA.
- Flood, G. (Ed.). (2003). The Blackwell companion to Hinduism. Blackwell, Oxford, UK.
- Foucault, M. (2002). The order of things: An archaeology of the human sciences. Routledge, London, UK. (Original work published 1966)
- Frank, A. G. (1998). ReORIENT: Global economy in the Asian age. Vistaar Publications, New Delhi, India.
- Freeman, D. (1984). Margaret Mead and Samoa: The making and unmaking of an anthropological myth. Penguin, Harmondsworth, UK.
- Freud, S. (1999). Totem and taboo. Routledge, London, UK.
- Fuller, A. R. (1994). Psychology and religion: Points of view (3rd ed.). Littlefield Adams, London, UK.
- Fuller, C. J. (1992). The camphor flame: Popular Hinduism and society in India. Viking, New Delhi, India.

- Gabilondo, J. (2004). Performing populism: A queer theory of globalization, terror, and spectacle (On Lord of the Rings and 9/11/2001). In B. Aretxaga et al. (Eds.), Empire & terror: Nationalism/postnationalism in the new millennium (pp. 237-264). Centre for Basque Studies, Reno, NV, USA.
- Gandhi, L. (2004). Postcolonial theory. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Gandhi, M. K. (1971). Path-way to God. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1983). An autobiography. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1987). The essence of Hinduism (V. B. Kher, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1996). My religion (B. Kumarappa, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1997). Satyagraha in South Africa. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). India of my dreams (R. K. Prabhu, Comp.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). Key to health. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). Nature cure (B. Kumarappa, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (2001). The selected works of Mahatma Gandhi (Vols. 1-5) (S. Narayan, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (2002). Gandhi, freedom, and self-rule (A. J. Parel, Ed.). Vistaar Publication, New Delhi, India.
- Gandhi, R. (1995). The good boatman: A portrait of Gandhi. Centre for Policy Research, New Delhi, India.
- Gandhi, R. (2017). Why Gandhi still matters. Aleph Book Company, New Delhi, India.
- Ganeri, J. (2009). Philosophy in classical India: The proper work of reason. Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, India.

- Ganguli, B. N. (1977). Indian economic thought: Nineteenth century perspectives. Tata McGraw-Hill, New Delhi, India.
- Geertz, C. (1973). The interpretation of cultures. Basic Books, New York, NY, USA.
- Geertz, C. (1988). Works and lives: The anthropologist as author. Stanford University Press, Stanford, CA, USA.
- Gellner, E. (1981). Muslim society. Cambridge University Press, New York, NY, USA.
- Gellner, E. (1995). Anthropology and politics in the sacred grove. Blackwell, Oxford, UK.
- Gendzier, I. (1985). Managing political change: Social scientists and the Third World. Westview Press, Boulder, CO, USA.
- Gerber, W. (1977). The mind of India. Southern Illinois University Press, Carbondale, IL, USA.
- Gerhardt, U. (2002). Talcott Parsons: An intellectual biography. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Ghosh, A. (2002). The Imam and the Indian. Ravi Dayal Publisher, New Delhi, India.
- Ghurye, G. S. (1973). I and other explorations. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Golde, P. (Ed.). (1970). Women in the field: Anthropological experiences. Aldine Publishing, Chicago, IL, USA.
- Goldschmidt, W. (Ed.). (1976). The uses of anthropology. American Anthropological Association, Washington, DC, USA.
- Gopal, L., & Dubey, D. P. (Eds.). (1990). Pilgrimage studies: Text and context. The Pilgrimage Studies, Allahabad, India.
- Gopal, S. (2004). Jawaharlal Nehru: A biography. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Gora. (1986). An atheist with Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gouldner, A. (1970). The coming crisis of Western sociology. Basic Books, New York, NY, USA.

- Green, M. (1992). Prophets of a new age: The politics of hope from the eighteenth through the twenty-first centuries. Scribners, New York, NY, USA.
- Greenwood, E. B. (1980). Tolstoy: The comprehensive vision. Methuen & Co., London, UK.
- Gregorios, P. M. (1989). Enlightenment: East and West. B.R. Publishing Corporation, New Delhi, India.
- Guenon, R. (2002). Studies in Hinduism. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Guha, R. (1999). Savaging the civilized: Verrier Elwin, his tribals and India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Guha, R. (2001). An anthropologist among the Marxists. Permanent Black, New Delhi, India.
- Guldin, G. E. (1994). The saga of anthropology in China: From Moscow to Mao. M.E. Sharpe, Armonk, NY, USA.
- Halbfass, W. (1988). India and Europe: An essay in understanding. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Halbfass, W. (1991). Tradition and reflection: Explorations in Indian thought. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Halmos, P. (1966). Japanese sociological studies (A Sociological Review Monograph). University of Keele Press, Keele, UK.
- Hay, S. (Ed.). (1992). Sources of Indian tradition: Vol. 2. Modern India and Pakistan (2nd ed.). Penguin Books, New Delhi, India.
- Hecker, J. F. (1970). Russian sociology: A contribution to the history of sociological thought and theory (Columbia Studies in the Social Sciences Series). CAMS Press, New York, NY, USA.
- Heehs, P. (2004). India's freedom struggle 1857-1947. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Heehs, P. (2013). Situating Sri Aurobindo: A reader. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Heelas, P. (Ed.). (1998). Religion, modernity, and postmodernity. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Heidegger, M. (2013). The question concerning technology and other essays. Harper Perennial, New York, NY, USA.
- Helm, J. (Ed.). (1984). Social contexts of American ethnology, 1840-1984. Proceedings of the American Ethnological Society, American Anthropological Association, Washington, DC, USA.
- Hiller, H. W. (1982). Society and change: S.D. Clarke and the development of Canadian sociology. University of Toronto Press, Toronto, Canada.
- Hinkle, R. (1980). Founding theory of American sociology. Routledge & Kegan Paul, Boston, MA, USA.
- Hinzuber, W. (1996). Ideology and status of Sanskrit: Contributions to the history of the Sanskrit language. In J. E. M. Houben (Ed.), Brill's Indological Library (Vol. 13, pp. 1-20). E.J. Brill, Leiden, Netherlands.
- Hofsadter, R. (1955). Social Darwinism in American thought. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Hood, J. W. (2015). The bleeding lotus. Palimpsest, New Delhi, India.
- Horowitz, I. (1969). Sociological self-images: A collective self-portrait. Sage Publications, Beverly Hills, CA, USA.
- Houben, J. E. M. (2002). Philosophy and philology East and West: Need and basis for a global approach. In S. Bhate (Ed.), Indology: Past, present and future (pp. 10-25). Sahitya Akademi, New Delhi, India.
- Huchzermeyer, W. (2013). Sri Aurobindo: Saga of a great Indian sage. Printworld, New Delhi, India.
- Huntington, S. P. (2016). The clash of civilizations and the remaking of world order. Penguin Random House, Gurugram, India.
- Institute of Economic Growth. (1982). Relevance in social research: A symposium. Vikas Publishing House, New Delhi, India.

- Ishwaran, K. (1983). Religion and society among the Lingayats of South India. Brill Academic, Leiden, Netherlands.
- Iyer, R. N. (1999). The essential writings of Mahatma Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Iyer, R. N. (2000). The moral and political thought of Mahatma Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Jaffrelot, C. (1999). The Hindu nationalist movement and Indian politics: 1925 to the 1990s. Penguin Books, New Delhi, India.
- Jain, R. K. (1977). Text and context: The social anthropology of tradition. Institute for the Study of Human Issues, Philadelphia, PA, USA.
- Jain, R. K. (1999). Muslim identity in North India: A perspective from the Hindu regional novel. Indian Institute of Advanced Study Journal, Shimla, India.
- Jameson, F. (2006). Postmodernism or the cultural logic of late capitalism (Chaps. 1, 9). ABS Publishers, New Delhi, India.
- Janos, A. (1986). Politics and paradigms: Changing theories of change in social science. Stanford University Press, Stanford, CA, USA.
- Jha, V. N. (1991). Proceedings of the National Seminar on Environmental Awareness Reflected in Sanskrit Literature (Publications of the CASS, Class E, No. 11). Poona University, Centre of Advanced Study in Sanskrit, Pune, India.
- Jones, K. W. (1999). Socio-religious reform movements in British India. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Joshi, K. L. (2002). Visnu Purana. Parimal Publications, New Delhi, India.
- Joshi, T. L. (1999). Jotirao Phule. National Book Trust, New Delhi, India.
- Juergensmeyer, M. (2003). Gandhi's way: A handbook of conflict resolution. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Kampchen, M. (1999). Rabindranath Tagore in Germany: Four responses to a cultural icon. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Kapoor, K. (2005). Text and interpretation: The Indian tradition. D.K. Printworld, New Delhi, India.
- Karve, I. (1968). Hindu society: An interpretation. Deshmukh Prakashan, Pune, India.
- Kaul, R. K. (1995). Studies in William Jones. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Kearney, R. (2003). Strangers, gods, and monsters: Interpreting otherness. Routledge, London, UK.
- Kejariwal, O. P. (1999). The Asiatic Society of Bengal and the discovery of India's past. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kent, R. A. (1981). A history of British empirical sociology. Gower, Aldershot, UK.
- Keyserling, H. (1999). Indian travel: Diary of a philosopher. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Khoshoo, T. N. (2002). Mahatma Gandhi: An apostle of applied human ecology. Tata Energy Research Institute, New Delhi, India.
- Kloetzli, W. R. (2007). Buddhist cosmology: Science and theology in the images of motion and light. Motilal Banarsidass, New Delhi, India.
- Klostermaier, K. K. (1990). A survey of Hinduism. Munshiram Manoharlal, New Delhi, India.
- Kripalani, K. (1969). Gandhi: A life. National Book Trust, New Delhi, India.
- Kripalani, K. (1996). Gandhi's life in his own words. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Kripalani, K. (2001). Tagore: A life. National Book Trust, New Delhi, India.
- Kuklick, H. (1991). The savage within: The social history of British anthropology 1885-1945. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Kulkarni, S. D. (1988). Beginnings of life, culture, and history. Shri Bhagavan Vedavyasa Itihasa, Thane, India.

- Kulke, H., & Rothermund, D. (1990). A history of India. Routledge, New York, NY, USA.
- Kulke, H., & Rothermund, D. (1994). Knowing from words: Western and Indian philosophical analysis of understanding and testimony. Kluwer, Dordrecht, Netherlands.
- Kulke, H., & Schnepel, B. (Eds.). (2001). Jagannath revisited: Studying. Manohar, New Delhi, India.
- Kumar, A. (Ed.). (1999). Nation-building in India: Culture, power, and society. Radiant Publishers, New Delhi, India.
- Kumar, D. (2000). Colonialism, property, and the state. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kumar, D., & Mookherjee, D. (Eds.). (1998). D-School: Reflections on the Delhi School of Economics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kumar, K. (1991). Political agenda of education: A study of colonialist and nationalist ideas. Sage Publications, New Delhi, India.
- Kurosawa, A. (1982). Something like an autobiography. Vintage Books, New Delhi, India.
- Lago, A. D. (2010). Conflict, security and the reshaping of society: The civilization of war. Routledge, London, UK.
- Lal Fountaine, J. S. (Ed.). (1972). The interpretation of ritual: Essays in honour of A. I. Richards. Tavistock, London, UK.
- Lee, M., & Wilding, M. (Eds.). (1997). History, literature, and society: Essays in honour of N. Mukherjee. Manohar, New Delhi, India.
- Lele, J. (1994). Orientalism and social sciences. In C. A. Breckenridge & P. Van der Veer (Eds.), Orientalism and the post-colonial predicament (pp. 45-60). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Levi-Strauss, C. (1963). Structural anthropology (Vol. 1). Penguin, London, UK.
- Levi-Strauss, C. (1969). Elementary structures of kinship. Alder Press, London, UK.

- Levi-Strauss, C. (1978). Myth and meaning. Routledge, London, UK.
- Lewis, C. S. (2014). God in the dock: Essays on theology and ethics. Harper Collins, New Delhi, India.
- Lokeswarananda, S. (Ed.). (1992). Indological studies and research in India. The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Luckmann, T. (1967). The invisible religion. MacMillan, New York, NY, USA.
- Lucy, N. (Ed.). (2000). Postmodern literary theory: An anthology. Blackwell Publications, Oxford, UK.
- Lukács, G. (1971). The theory of the novel. Merlin Press, Dublin, Ireland. (Original work published 1920)
- Machiavelli, N. (2017). The prince, On war & The art of war: Three all-time classics on politics & war. ARC Manor, Rockville, MD, USA.
- Macgowan, T. (2016). Capitalism and desire: The psychic cost of free markets. Columbia University Press, New York, NY, USA.
- Madan, T. N. (1987). Non-renunciation: Themes and interpretations of Hindu culture. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (1988). Way of life: King, householder, renouncer: Essays in honour of Louis Dumont. Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (1998). Modern myths, locked minds: Secularism and fundamentalism in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2004). India's religions: Perspectives from sociology and history. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2006). Images of the world: Essays on religion, secularism and culture. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2011). Pathways: Approaches to the study of society in India. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Madan, T. N., & Mukherji, P. N. (Eds.). (1986). Indian sociology: Reflections and introspections. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Majumdar, B. B. (1966). Militant nationalism of India. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Majumdar, R. C. (1984). On Rammohan Roy. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Majumdar, U. K. (2000). Bankim Chandra Chattopadhyay. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Malhotra, R. (2016). Academic Hinduphobia: A critique of Wendy Doniger's erotic school of Indology. Voice of India, New Delhi, India.
- Malinowski, B. (1954). Magic, science and religion and other essays. Doubleday Anchor Books, Boston, MA, USA.
- Mallik, S. C. (Ed.). (1977). Dissent, protest and reform in Indian civilisation. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Marriott, M. (Ed.). (1989). India through Hindu category. Sage, New Delhi, India.
- Marx, K., & Engels, F. (1975). On religion. Progress Publisher, Moscow, Russia.
- Masani, R. P. (1897). Dadabhai Naoroji: Builders of modern India. Publications Division, I&B, New Delhi, India.
- Max Muller, F. (1955). Ramakrishna: His life and sayings. Advaita Ashrama, Calcutta, India.
- Max Muller, F. (1991). India: What can it teach us?. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- McEvilley, T. (2002). The shape of ancient thought: Comparative studies in Greek and Indian philosophies. Allworth, New York, NY, USA.
- McLeod, W. H. (2004). Sikhs and Sikhism. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mennell, S. (1974). Sociological theory: Uses and utilities. Praeger, New York, NY, USA.

- Merton, R. K. (1981). Social theory and social structure. Amerind Publishing, New Delhi, India.
- Metcalf, R. T., & Metcalf, B. D. (2003). A concise history of India. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Migdal, J. S. (2001). State in society: Studying how states and societies transform and constitute one another. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Mills, C. W. (1959). The sociological imagination. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mohanty, J. N. (1995). Essays on Indian philosophy: Traditional and modern. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mookerji, R. K. (1989). Hindu civilization. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Mookerji, R. K. (2003). The fundamental unity of India. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- More, T. (1998). A dialogue of comfort against tribulation. Scepter Publishers, Princeton, NJ, USA.
- Mukherjee, H. (1991). Gandhi: A study. People's Publishing House, New Delhi, India.
- Mukherjee, M. (1985). Realism and reality: The novel and society in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mukherjee, M. (2012). Voices of the talking stars. Sage, New Delhi, India.
- Mukherjee, R. (1979). Sociology of Indian sociology. Allied Publishers, New Delhi, India.
- Mukherji, D. P. (2002). Diversities. Manak, New Delhi, India. (Original work published 1952)
- Mukherji, P. N. (Ed.). Methodology in social research. Sage, New Delhi, India.
- Nagaraj, D. R. (1993). The flaming feet: A study of the Dalit movement. South Forum Press, Bangalore, India.
- Nanda, B. R. (2001). Gandhi and his critics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nanda, B. R. (2003). Mahatma Gandhi: A biography. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Nandy, A. (1998). The illegitimacy of nationalism: Rabindranath Tagore and the politics of self. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nandy, A. (2001). An ambiguous journey to the city. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). An autobiography. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). Glimpses of world history. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). The discovery of India. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nevile, P. (2011). K.L. Saigal. Penguin, New Delhi, India.
- Nietzsche, F. (2003). On the genealogy of morals. Dover Publications, New York, NY, USA.
- Niranjana, T., et al. (Eds.). (1993). Interrogating modernity: Culture and colonialism in India. Seagull, Calcutta, India.
- Nirodbaran. (1986). Talks with Sri Aurobindo (Vols. 1-2). Sri Aurobindo Society, Calcutta, India.
- Nirodbaran. (1998). Sri Aurobindo for all ages: A biography. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Nisbet, R. (1967). The sociological tradition (Part Two). Heinemann, London, UK.
- Nivedita, S. (1998). Religion and dharma. Advaita Ashram, Calcutta, India.
- O'Flaherty, W. D. (1973). Asceticism and eroticism in the mythology of Siva. School of Oriental and African Studies, Oxford University Press, New Delhi, India.
- Oommen, T. K. (2013). Knowledge and society. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Osho. (1997). India my love: Fragments of a golden past. The Rebel Publishing House, Pune, India.
- Pal, B. C. (2002). Nationality and empire: A running study of some current Indian problems. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Pande, B. N. (Ed.). (1985). A centenary history of the Indian National Congress (Vols. 1-3). Vikas Publishing, New Delhi, India.

- Pandit, M. P. (1998). Sri Aurobindo. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Pandya, J. (1998). Gandhiji and his disciples. National Book Trust, New Delhi, India.
- Panja, S. (Ed.). (2001). Many Indias, many literatures: New critical essays. Worldview, New Delhi, India.
- Paranjape, M. (Ed.). (2005). Dharma and development: The future of survival. Samvad India, New Delhi, India.
- Paranjape, M. (2019). Swami Vivekananda: Hinduism and India's road to modernity. HarperCollins, New Delhi, India.
- Parekh, B. (1997). Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Parel, J. A. (Ed.). (1997). Hind Swaraj and other writings. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Pareto, V. (1935). The mind and society (Vols. 1-4). Harcourt, Brace and Company, New York, NY, USA. (Original work published 1916)
- Parsons, T., et al. (Eds.). (1965). Theories of society: Foundation of modern sociological theory. The Free Press, New York, NY, USA.
- Partha, C. (1986). Nationalist thought and the colonial world. Zed Books, London, UK.
- Patel, I. G. (2004). An encounter with higher education: My years at LSE. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Patel, J. P., & Sykes, M. (1996). Gandhi, his gift of the fight. The Other India Press, Goa, India.
- Patil, V. T. (1983). Studies on Gandhi. Karnatak University, Dharwad, India.
- Peter L. Berger. (1969). The sacred canopy. Anchor Doubleday, New York, NY, USA.
- Pickering, W. S. F., & Martins, H. (Eds.). (1994). Debating Durkheim. Taylor & Francis, London, UK.
- Plato. (2013). The Republic. Maple Press, Noida, India.

- Poddar, A. (1976). Renaissance in Bengal: Search for identity. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Poddar, C., Sarkar, M., & Zwicker, B. (Eds.). (1995). Sri Aurobindo and the freedom of India. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Pope John Paul II. (1995). A Hindu Buddhist rejoinder. Voice of India, New Delhi, India.
- Prabhu, P. H. (1988). Hindu social organisation. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Purani, A. B. (1995). Evening talks with Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Society, Calcutta, India.
- Purani, A. B. (1998). The life of Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Radhakrishnan, S. (2009). Hindu view of life. HarperCollins Publishers, New Delhi, India.
- Raina, A. K., Patnaik, B. N., & Chadha, M. (Eds.). (2000). Science and tradition. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Raina, D., & Habib, I. (2004). Domesticating modern science. Tulika Books, New Delhi, India.
- Rajagopalachari, C. (1996). Our culture. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Ramanujan, A. K. (1999). The collected essays (V. Dharwadker, Ed.). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ramanujan, A. K. (2005). Uncollected poems and prose. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ranade, R. D. (2001). Essays and reflections. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Rathore, A. S., & Mohapatra, R. (2017). Hegel's India: A reinterpretation. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ray, R. (1832). Translation of several principal books, passages and texts of the Veds, and of some controversial works on Brahminical theology. London, UK.

- Ray, R. (1949). Tuhfatul Muwahhiddin (O. El Obaide, Trans.). The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Raychaudhari, T. (1998). Europe reconsidered: Perceptions of the West in nineteenth century Bengal. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Raychaudhari, T., & Habib, I. (Eds.). (2004). The Cambridge economic history of India: Vol. 1 (c. 1200-1750). Orient Longman, New Delhi, India.
- Reddy, A., & Mohanty, S. (1997). Essentials of Sri Aurobindo's thought: Essays in memory of V. Madhusudan Reddy. Institute of Human Study, Hyderabad, India.
- Renzetti, C. M., & Curran, D. J. (1998). Living sociology. Allyn and Bacon, Boston, MA, USA.
- Rice, S. (1937). Hindu customs and their origins. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Robertson, B. C. (2001). Raja Rammohan Roy: The father of modern India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Robinson, R. (Ed.). (2004). Sociology of religion in India. Sage, New Delhi, India.
- Rodrigues, V. (2004). The essential writings of B.R. Ambedkar. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Rolland, R. (2000). Mahatma Gandhi: The man who became one with the universal being. Sristi Publishers and Distributors, New Delhi, India.
- Roy, P. (2002). Rabindranath Tagore. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Roy, R. (1996). Gandhi and the present global crisis. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Rudolph, S. H., & Rudolph, L. I. (1987). Gandhi: The traditional roots of charisma. Orient Longman, Hyderabad, India.
- Rundell, J., & Mennell, S. (Eds.). (1998). Classical readings in culture and civilization. Routledge, London, UK.
- Ruskin, J. (2000). Unto this last. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.

- Sahasrabudhey, S. (2002). Gandhi's challenge to modern science. Other India Press, Goa, India.
- Sahni, P. (2019). The non-conformist: Memories of my father Balraj Sahni. Penguin, New Delhi, India.
- Sankrityayan, R. (1984). Selected essays. People's Publishing House, New Delhi, India.
- Saran, A. K. (1996). Illuminations: A school for the regeneration of man's experience, imagination and intellectual integrity. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1996). Traditional thought: Toward an axiomatic approach. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1998). Sociology of knowledge and traditional thought. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1998). Traditional vision of man. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1999). Takamori lecture: The crisis of mankind. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2000). The Marxian theory of social change: A logico-philosophical critique. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2003). Meaning and truth: Lectures on the theory of language: A prolegomena to the general theory of society and culture. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2007). Hinduism in contemporary India. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2007). On the theories of secularism and modernisation. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saraswati. (1997). H. H. Sri Chandrasekharendra. Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi, India.
- Sardar, Z. (1998). Postmodernism and the other: The new imperialism of Western culture. Pluto Press, London, UK.

- Sardar, Z. (2002). Orientalism. Viva Books, New Delhi, India.
- Sareen, S. K., & Paranjape, M. (Eds.). (2004). Sabda: Text and interpretation in Indian thought. Mantra Books, New Delhi, India.
- Sarkar, B. K. (1975). The Sukraniti. Orientals Books, New Delhi, India.
- Satchidanandan, K. (2002). Welcome address. In S. Bhate (Ed.), Indology: Past, present and future (pp. 1-5). Sahitya Akademi, New Delhi, India.
- Savarkar, V. D. (1999). Hindutva: 'Hindus we are & love to remain so!'. Swatantryaveer Savarkar Rashtriya Smarak, Mumbai, India.
- Sen, A. (1977). Elusive milestone of Ishwarchandra Vidyasagar. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Sen, A. K. (1986). Hindu political thought. Gian Publishing House, New Delhi, India.
- Sen, G. (Ed.). (1993). Perceiving India: Insight and inquiry. Sage Publications, New Delhi, India.
- Shah, K. (Ed.). (1985). Vinoba on Gandhi. Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, India.
- Sharma, A. (2002). Modern Hindu thought. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2014). Hinduism as a missionary religion. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Sharma, A. (2017). The ruler's gaze: A study of British rule over India from a Saidian perspective. HarperCollins, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2023). Textual studies in Hinduism. Manohar Publishers, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2024). From fire to light: Rereading the Manusmriti. HarperCollins, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2011). Religion and culture in Indian civilisation. DK Print World, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2011). Symbols of kinship identity in a North Indian village. Lap Lambert Academic Publishing, Saarbrücken, Germany.

- Sharma, A. K. (2024). Indology, sociology and culture in India. Shaolin Publications, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2024). Sociology of cinema and culture in India. Shaolin Publications, New Delhi, India.
- Sharma, S. L., & Oommen, T. K. (2000). Nation and national identity in South Asia. Orient Longman, New Delhi, India.
- Shibutani, T. (Ed.). Human nature and collective behavior: Papers in honor of Herbert Blumer. Routledge, London, UK.
- Silverman, H. J. (Ed.). (1998). Cultural semiosis: Tracing the signifies. Routledge, London, UK.
- Singer, M. (1986). Man's glassy essence: Explorations in semiotic anthropology. Indiana University Press, Bloomington, IN, USA.
- Singh, K. (2004). A history of the Sikhs (Vols. 1-2). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Singh, R. (Ed.). (2003). The path of the Buddha: Writings on contemporary Buddhism. Penguin, New Delhi, India.
- Singh, Y. (1983). Image of man: Ideology and theory in Indian sociology. Chanakya Publications, New Delhi, India.
- Singh, Y. (1986). Indian sociology: Social conditioning and emerging concerns. Vistaar Publications, New Delhi, India.
- Singh, Y. (2000). Culture change in India. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Singh, Y. (2004). Indology and theory in Indian sociology. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Smith, D. (2002). Hinduism and modernity: Religion and spirituality in the modern world. Wiley-Blackwell, New Delhi, India.
- Spengler, O. (2006). The decline of the West. Vintage, New York, NY, USA.
- Spengler, O. (2015). Man and technics: A contribution to a philosophy of life. Arktos Media, London, UK.

- Srinivas, M. N. (1968). Religion and society among the Coorgs of South India. Asia Publishing House, Mumbai, India.
- Srivastava, S., Yasmeen, A., & Janaki, A. (Eds.). (2018). Critical themes in Indian sociology. SAGE Publications, New Delhi, India.
- Staal, J. F. (1993). Concepts of science in Europe and Asia. International Institute for Asian Studies, Leiden, Netherlands.
- Staal, J. F. (1995). The Sanskrit of science. Journal of Indian Philosophy, 23, 73-127. Springer, Dordrecht, Netherlands.
- Strinati, D. (1995). An introduction to theories of popular culture. Routledge, London, UK.
- Subrahmanyam, S. (2017). Europe's India: Words, people, empires, 1500–1800. Harvard University Press, Cambridge, MA, USA.
- Sun, T. (2008). The complete art of war. Wilder Publications, Radford, VA, USA.
- Swaminathan, K., & Patel, C. N. (1988). A Gandhi reader. Orient Longman, Bengaluru, India.
- Swartz, D. (1998). Culture and power: The sociology of Pierre Bourdieu. University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Swarup, R. (1991). Whither Sikhism?. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (1992). Hinduism vis-a-vis Christianity and Islam. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (1995). A Hindu Buddhist rejoinder. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2000). Meditations: Yogas, gods, religions. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2000). On Hinduism: Reviews and reflections. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2001). The world as revelation, names of gods. Voice of India, New Delhi, India.

- Tambiah, S. J. (1990). Magic, science and the scope of rationality (Lewis Henry Morgan Lectures). Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Tarachand. (1961). History of the freedom movement in India (Vol. 1). Publication Division, I&B, New Delhi, India.
- Teltscher, K. (1995). India inscribed: European and British writing on India 1600-1800. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Thapar, R. (1999). Interpreting early India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- The Mother. (1995). Commentaries on the Dhammapada. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Tirtha, S. B. K. (1985). Sanatana dharma: The eternal and everlasting way of life. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Tolkien, J. R. R. (2008). Tales from the perilous realm. Harper Collins, New Delhi, India.
- Tonnies, F. (1988). Community and society. Library of Congress, Washington, DC, USA.
- Trautmann, T. R. (2004). Aryans and British India. Yoga Press, New Delhi, India.
- Trautmann, T. R. (2009). The Madras School of Orientalism: Producing knowledge in colonial South India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Tripathi, G. C., & Kulke, H. (Eds.). (1994). Religion and society in Eastern India. Manohar, New Delhi, India.
- Turner, B. (1978). Weber and Islam: A critical study. Routledge & Kegan Paul, London, UK.
- Turner, B. (1991). Religion and social theory. Sage, London, UK.
- Turner, S. P. (Ed.). (1996). Social theory and sociology: The classics and beyond. Blackwell, Oxford, UK.
- Tyson, N. D. (2018). Accessory to war. W. W. Norton & Company, New York, NY, USA.

- Uberoi, J. P. S. (1974). New outlines of structural sociology: 1945-1970. Contribution to Indian Sociology (N.S), 8, 1-20. Sage, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (1992). Family, kinship and marriage in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (1999). Religion, civil society and the state: A study of Sikhism. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (2002). The European modernity. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (2009). Freedom and destiny: Gender, family and popular culture in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Van der Veer, P. (2001). Imperial encounters. Permanent Black, New Delhi, India.
- Van Gennep, A. (1960). Rites of passage. University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Vasu, R. B. S. (2004). The Siva Samhita. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Venet, L. (2017). Sri Aurobindo and the revolution of India. Createspace Independent Publication, Scotts Valley, CA, USA.
- Venugopal, C. N. (1988). Ideology and society in India: Sociological essays. Criterion Publications, New Delhi, India.
- Venugopal, C. N. (2009). Religion and Indian society: A sociological perspective. Gyan Book, New Delhi, India.
- Visvanathan, S. (1993). The Christians of Kerala. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Vivekananda, S. (1993). Talks with Swami Vivekananda. Advaita Ashram, Calcutta, India.
- Vivekananda, S. (2001). Lectures from Colombo to Almora. Advaita Ashrama, Kolkata, India.
- Vyas, H. M. (Comp.). (1996). Village Swaraj. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.

- Vyas, R. T. (1992). Oriental Institute Baroda: Retrospect and prospect. In S. Lokeswarananda (Ed.), Indological studies and research in India (pp. 100-115). The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Wadley, S. (1975). Shakti: Power in the conceptual structure of Karimpur religion. The University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Waite, A. E. (Ed.). (1976). The hermetic and alchemical writings of Paracelsus: Vol. II. Hermetic medicine and hermetic philosophy. Shambhala, Boulder, CO, USA.
- Weber, M. (1989). Science as a vocation (P. Lasman et al., Eds.). Unwin Hyman, London, UK.
- Weber, M. (1993). The religion of India: The sociology of Hinduism and Buddhism. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Weber, M. (1993). The sociology of religion. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Wedderburn, W. (1913). Allan Octavian Hume, C.B.. London, UK.
- Williams, R. B., & Trivedi, Y. (Eds.). (2016). Swaminarayan Hinduism: Tradition, adaptation, and identity [Kindle]. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Woodroffe, J., & Pandit, M. P. (1965). Kulnarva Tantra. Ganesh & Company, Madras, India.
- Woodroffe, J. (1990). Introduction to Tantra Sastra. Ganesh & Company, Madras, India.
- Yinger, J. M. (1970). The scientific study of religion. MacMillan, New York, NY, USA.